CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आभार

मैं संस्कृत-विद्यापीठ, दिल्ली के प्रवक्ता वेदान्ताचार्य, न्यायशास्त्री पण्डित गोपानन्द जी झा का इदम्प्रथमतया आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि को अक्षरशः देखा और अनेक उपयोगी संशोधन किये। मेरे मित्र सर्वदर्शनाचार्य श्री हर्षकुमार एम० ए०, संस्कृत-प्राध्यापक, सेंट स्टीफन्स कॉलेज, दिल्ली ने अपने शोधग्रन्थ के प्रथम अध्याय को पाण्डुलिपि का प्रयोग इस ग्रन्थ की भूमिका लिखने के लिए करने की अनुमति मुझे दी, तदर्थ मैं उनका कृतज्ञ हूँ। मेरे अन्य ग्रन्थों की भांति इस ग्रन्थ के भी प्रकाशन तथा मुद्रण में श्री नरेन्द्र प्रकाश जैन, मोतीलाल बनारसीदास, ने तथा श्री जैनेन्द्र प्रेस के अधिकारियों ने जो तत्परता दिखाई उसके बिना यह ग्रन्थ वर्तमान रूप नहीं प्राप्त कर सकता था। मेरे हार्दिक मित्र श्री मोहनचन्द जो व्याख्याता संस्कृत विभाग रामजस कालेज दिल्ली ने इस ग्रन्थ की अनुक्रमणिकायें तैयार कीं, तदर्थ उनको धन्यवाद।

अन्ततः मैं श्री यशवन्त वासुदेव अथल्ये तथा श्री महादेव राजाराम बोडास का आभार प्रकट करता हूँ जिनके तर्कसंग्रह के अँग्रेजी टिप्पणों पर मेरी यह हिन्दी व्याख्या मुख्यतः आधृत है।

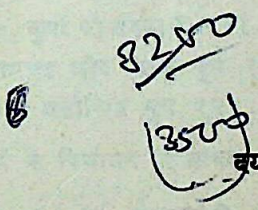

दिल्ली विश्वविद्यालय।
२८.८.१९७८

ब्रह्मानन्द भार्गव

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

विषय-सूचि

आभार iii

विषय-सूचि v–x

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूचि xi–xi

सहायक-पुस्तक-सूचि xiii

अवतरणिका xv–xxii

नैयायिक और वैशेषिक तथा बौद्ध और जैन लेखक xxiii

मंगलाचरण–१, मंगलाचरण का कारण २. अनुबन्ध चतुष्टय ३।

सप्तपदार्थ–४, पदार्थ का अर्थ ४, अरस्तु के दस पदार्थ ४–५, अन्य दर्शनों में पदार्थों की संख्या ५, शक्ति अष्टम पदार्थ नहीं ५–६।

नौ द्रव्य–६, द्रव्य का लक्षण ६–७, तमस् दसवां द्रव्य नहीं ७–८, लक्षण के तीन दोष ८।

चौबीसगुण–९, गुण का लक्षण ९–१०, गुणों की संख्या १०–११, किस द्रव्य में कितने गुण हैं ११, सामान्य और विशेष गुण १२, एकेन्द्रिय-ग्राह्य, द्वीन्द्रिय-ग्राह्य और अतीन्द्रिय गुण १२।

पांचकर्म–१२, कर्म के लक्षण १३, कर्म के विभाजन का आधार १४।

दो सामान्य–१४, सामान्य का लक्षण १४–१५, सामान्य के भेद १५–१६, जाति और उपाधि १६, जाति में बाधक १६–१७।

विशेष–१७, विशेष के लक्षण १७–१८, विशेष की आवश्यकता और महत्ता १८–१९।

समवाय–१९, अयुतसिद्ध १९, अयुतसिद्ध के पाँच प्रकार २०, समवाय के सम्बन्ध मे मतभेद २०, समवाय का महत्त्व और आवश्यकता २०–२१।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

चार अभाव–२१, संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव २२. अभाव का लक्षण और स्वरूप २२–२३, वैशेषिक सूत्रों में अभाव २३ ।

पृथ्वी–२४, पृथ्वी के लक्षण की परीक्षा २५, पृथ्वी के गुण २५–२६, पृथ्वी का विभाजन २६, विभाजन का स्पष्टीकरण २७, शरीर का लक्षण २८, इन्द्रिय का लक्षण २८–२९, विषय २९–३१ ।

जल–३१, जल का लक्षण ३१, जलीय शरीर ३२ ।

तेज–३२, तेज का विभाजन ३३, धातुओं का तैजस होना ३४ ।

वायु–३४, प्राण वायु ३६–३७, वायु का प्रत्यक्ष गम्यत्व ३७—३८, वायु की पृथक् सत्ता ३८–३९, सृष्टि का उत्पत्ति क्रम ३९–४०, परमाणुवाद ४०–४२, युनानी परमाणुवाद ४२–४३ ।

आकाश–४३, आकाश का लक्षण ४३–४४, आकाश की सत्ता ४४, आकाश अमूर्त भूत ४४–४५ ।

काल–४५, काल का लक्षण ४५—४६, काल का स्वरूप ४६ ।

दिक्–४६ दिक् का लक्षण ४७, दिक् और आकाश का अन्तर ४७–४८ ।

आत्मा–४८, आत्मा तथा परमात्मा की सत्ता ४९, आत्मा का लक्षण ४९–५०, ईश्वर की सिद्धि ५०–५३, ईश्वर का रूप और गुण ५३, आत्मा का परिमाण ५४, आत्मा का अनुमान ५४ ।

मन–५४, मन का लक्षण ५५, मन का परिमाण ५६, निद्रा की प्रक्रिया ५७–५८, मन का इन्द्रियत्व ५८–५९ ।

रूप–५९, रूप का लक्षण ६०, रूप ग्रहण की शर्तें ६०—६१, चित्र रूप का स्वातन्त्र्य ६१–६२, रूप और आकार ६२, रूप और आधुनिक विज्ञान ६२ ।

रस–६२ ।

गन्ध–६३ ।

स्पर्श–६३, चित्रगन्ध और चित्र स्पर्श ६४, बारह प्रकार के स्पर्श ६४ ।

पाकज और अपाकज ६५, पीलूपाक वाद ६६—६७, पिठरपाकवाद ६७–६८ ।

संख्या ६८, सामान्य गुण ६९, अपेक्षा बुद्धि ६९–७० ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परिमाण–७१, चार परिमाण ७१ ।
पृथक्त्व–७१, पृथक्त्व का लक्षण ७२ ।
संयोग–७२ संयोग का लक्षण ७३, साधारण कारण ७३–७ ।
विभाग–७४ कर्मज विभाग और विभागज विभाग ७४–७५ ।
परत्वापरत्व–७५ ।
गुरुत्व–७५ ।
द्रव्यत्व–७६, गुरुत्व द्रव्यत्व में भेद ७६, सांसिद्धिक और नैमित्तिक द्रव्यत्व ७७ ।
स्नेह–७७, पिण्डीभाव का अर्थ ७७–७८ ।
शब्द–७८, शब्द के भेद ७९, वीचितरंगन्याय और कदम्बगोलकन्याय ७९–८० ।
बुद्धि ८०, बुद्धि का अर्थ ८०, बुद्धि का लक्षण ८१, ज्ञान के प्रकार ८२. स्मृति का लक्षण ८२, अनुभव ८३, विद्या अविद्या ८३ ।
यथार्थानुभव–८३, अनुभव के प्रकार ८४, प्रमा का लक्षण ८४–८५ ।
चतुर्विध यथार्थानुभव–८५, प्रमाण का लक्षण ८६–८७ ।
करण–८७, करण का लक्षण ८७–९० ।
कारण–९०, कारण का लक्षण ९०–९१, अनन्यथासिद्ध तथा अन्यथासिद्ध ९१–९२ ।
कार्य–९३, प्रतियोगी ९३–९४, कार्य–कारण–सिद्धान्त ९४, बौद्ध और वेदान्त मत ९४, सत्कार्यवाद ९४, सत्कार्यवाद की आलोचना ९५–९६, समवायी उपादान और निमित्त कारण ९६–९७ ।
त्रिविध कारण–९८, असमवायी कारण ९८–९९, निमित्त कारण के भेद ९९–१०० ।
करण–१०० ।
प्रत्यक्ष–१००, प्रत्यक्ष का लक्षण १०१–१०३, प्रत्यक्ष के भेद १०३–१०४, निर्विकल्पक ज्ञान के सम्बन्ध में बौद्धों और नैयायिकों का मतभेद १०४–१०६ ।
षड्विध इन्द्रियार्थ संनिकर्ष–१०७, संनिकर्षों का वर्गीकरण १०८–१०९, द्रव्य का ग्रहण ११०, प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में मतभेद ११०–१११, अनुपलब्धि प्रमा १११–११२ ।
अनुमान–११२, परामर्श ११३–११४, अनुमिति ११४–११५, पक्षता ११५–

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

११६, पक्ष-धर्मता ११६–११७, व्याप्ति ११७–११८, व्याप्ति के भेद ११८–११९ ।

द्विविध अनुमान–११९, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान १२०–१२१, पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतो दृष्ट १२१–१२२, केवलान्वयी, केवल-व्यतिरेकी और अन्वय-व्यतिरेकी १२२, आगमन तर्क और व्याप्ति १२२–१२४ ।

पंचावयव–१२४, भारतीय न्याय वाक्य और पाश्चात्य न्याय वाक्य १२५–१२६, व्याप्ति और उदाहरण १२७–१२८ ।

लिंग परामर्श–१२८, लिंग परामर्श की आवश्यकता १२८–१२९ ।

त्रिविध लिङ्ग–१२९, लिङ्ग १३०, अन्वय और व्यतिरेक १३१, केवलान्वयी १३१, केवल-व्यतिरेकी १३१, केवल-व्यतिरेकी पर आपत्ति और समाधान १३२–१३३, अर्थापत्ति और केवल-व्यतिरेकी १३३ ।

पक्ष–१३४ ।

सपक्ष–१३४ ।

विपक्ष–१३४, पक्ष का लक्षण १३४–१३५, सद्हेतु की शर्तें १३५–१३६ ।

हेत्वाभास–१३६, हेत्वाभास का अर्थ १३६, हेत्वाभास का लक्षण १३७, हेत्वाभासों की संख्या १३८ ।

सव्यभिचार–१३८, सव्यभिचार के भेद १३८, सव्यभिचार के भेदों का विवेचन १४०–१४१ ।

विरुद्ध–१४१ ।

सत्प्रतिपक्ष–१४२, सत्प्रतिपक्ष और प्रकरणसम १४२-१४३ ।

त्रिविध असिद्ध–१४३, असिद्ध का लक्षण १४४, असिद्ध के तीन भेदों में परस्पर भेद १४५–१४६, उपाधि १४७, उपाधि के चार प्रकार १४७–१४८ ।

बाधित–१४८, बाधित का लक्षण १४९ ।

उपमान–१४९, उपमान का करण १५०, उपमान का अनुमान में अन्तर्भाव १५१ ।

शब्द–१५१, शब्द बोध की नैयायिकों एवं मीमांसकों के अनुसार प्रक्रिया १५३–

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

१५४, शक्ति १५४–१५५, संकेत का ग्रहण १५५–१५६, बौद्धों का अपोहवाद १५७, वृत्ति १५७–१५८, अर्थज्ञान के साधन १५८, लक्षण १५८–१५९, व्यञ्जना १५९।

वाक्यार्थ ज्ञानहेतु–१६०, आकांक्षा, योग्यता और संनिधि १६०–१६१, तात्पर्यज्ञान १६१–१६२।

द्विविध वाक्य–१६२–१६२, वेदों का नित्यत्व या ईश्वरकर्तृत्व १६३–१६४, शब्द का नित्यत्व १६४।

शब्दप्रमाण–१५४–१६६, शब्दप्रमाण की स्वतन्त्रता १६६–१६७, चार प्रमाणों के अतिरिक्त प्रमाण १६७–१६८।

स्वतः प्रमाण और परतः प्रमाण १६८–१७०।

अयथार्थानुभव १७०, संशय १७१, विपर्यय १७२, तर्क १७२, पाँच तर्क १७२–१७३।

द्विविधस्मृति–१७३।

सुख–१७४।

दुःख–१७४।

इच्छा–१७४।

द्वेष–१७४।

प्रयत्न–१७४।

धर्म–१७४।

अधर्म–१७४।

आठ आत्मगुण–१७५।

त्रिविध संस्कार–१७६।

कर्म–१७७।

सामान्य–१७७।

विशेष–१७८।

समवाय–१७८।

अभाव–१७८–१७९, अत्यन्ताभाव तथा अन्योऽन्याभाव का अन्तर १८०–१८१, प्रभाकर का अभाव के सम्बन्ध में मत १८१।

उपसंहार–१८२, दीपिका का उपसंहार १८२–१८४, पदार्थों का सप्तत्व

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

१८४, वेदवाक्यों का अर्थ १८५, जीवन का चरम लक्ष्य १८५–१८६ ।

परिशिष्ट १–बौद्धन्याय १८७–१९४ ।

परिशिष्ट २–जैनन्याय १९५–२०५ ।

परिशिष्ट ३–पाश्चात्यन्याय २०६–२१७ ।

नामानुक्रमणी और उद्धरणानुक्रमणी–२१८ ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

ग्रन्थनाम	लेखक	सम्पादक	प्रकाशन का स्थान तथा समय
अर्थशास्त्र	कौटिल्य	शामशास्त्री	मैसूर, १९०९
कारिकावली (विश्वनाथ की मुक्तावली, महादेव-दिनकर की दिनकरी तथा रामरुद्र-राजेश्वर की रामरुद्रीय सहित)	विश्वनाथ	हरिरामशुक्ल	बनारस, १९५२
काव्यप्रकाश (वी. आर. झलकीकर की टीका सहित)	मम्मटाचार्य	आर० डी० कर्मारकर	पूना, १९५०
किरणावली, भाग १	उदयनाचार्य	शिवचन्द्र सार्वभौम	कलकत्ता, १९११
किरणावली, भाग २	उदयनाचार्य	नरेन्द्रचन्द्र वेदान्ततीर्थ	कलकत्ता, १९५६
कुसुमाञ्जली	उदयनाचार्य	—	वाराणसी, सम्वत् २०१०
तर्ककौमुदी	लौगाक्षिभास्कर	—	मुंबई, १८८६
तत्त्वार्थसूत्र	उमास्वाति	पण्डित सुखलाल	बम्बई, १९३०
दि सेक्रेड बुक्स ऑफ दि हिन्दूज वोल्यूम ६, दि वैशेषिक सूत्राज ऑफ कणाद (विद उपस्कार ऑफ शङ्करमिश्र)	कणाद	बी० डी० बसु	इलाहबाद, १९२३

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ग्रन्थनाम	लेखक	सम्पादक	प्रकाशन का स्थान तथा समय
न्यायकोश	म० म० भीमाचार्य झलकीकर	म०म० वासुदेवशास्त्री अभ्यङ्कर	पूना, १९२८
न्यायबिन्दुटीका	धर्मोत्तराचार्य	पीटर पीटर्सन	कलकत्ता, १९२९
न्यायसूत्र	गौतम	दिगम्बर शास्त्री जोशी	पूना, १९२२
(वात्स्यायन-भाष्य-समेत)			
प्रशस्तपादभाष्य	प्रशस्तपाद	दुर्गाधर झा शर्मा	वाराणसी, १९६३
(श्रीधरभट्टप्रणीत-न्याय-कन्दली-समेत)			
भाषापरिच्छेद	विश्वनाथ	पञ्चानन भट्टाचार्य	कलकत्ता, शकाब्द १८८४
(न्यायसिद्धान्तमुक्तावली सहित)			
महाभारत-शान्तिपर्व	व्यास	रामचन्द्रशास्त्री किंजवेडकर	पूना, १९३२
याज्ञवल्क्य-स्मृति	याज्ञवल्क्य	वासुदेव शर्मा	बम्बई, १९१८
वैशेषिक-दर्शन	कणाद	अनन्तलाल ठाकुर	दरभङ्गा, १९५७
वैशेषिकोपस्कार	शङ्करमिश्र	— —	कलकत्ता, १९६१
श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण	वाल्मीकि	वासुदेव शर्मा	बम्बई, १९१५
सप्तपदार्थी	शिवादित्य	अमरेन्द्रमोहन भट्टाचार्य	कलकत्ता, १९३४
सर्वदर्शनसङ्ग्रह	सायण-माधव	वासुदेवशास्त्री अभ्यङ्कर	पूना, १९५१
सिद्धान्तचन्द्रोदय	श्रीकृष्णधूर्जटि दीक्षित	———	बनारस, सम्वत् १९४२

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सहायक-पुस्तक-सूचि

क्रिटीक आफ् इन्डियन रियलिज्म —डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, आगरा, १९६४

ग्लीनिंग्ज फ्राम दि हिस्ट्री एण्ड बिबलियोग्राफी आफ् दि न्याय-वैशेषिक लिटरेचर —म० म० गोपीनाथ कविराज, कलकत्ता, १९६१

जर्नल आफ् रायल एशयाटिक सोसायटी —१९२९

जर्नल आफ् अमरीकन ओरियन्टल सोसायटी —१९११

दी पदार्थतत्त्वनिरूपणम् आफ् रघुनाथशिरोमणि —कर्ल एच पॉटर, हारवर्ड येनचिंग इन्स्टीट्यूट स्टडीज़, १९५७

मैटिरियल फार दि स्टडी आफ् नव्यन्याय —इंगाल्ज, हारवर्ड ओरियन्टल सीरीज, १९६१

मैत्रेय एज़ एन हिस्टारिकल पर्सनेज —एच० हुई०, लैन्मैन स्टडीज़

सेन्ट्रेल फिलासफी आफ् बुद्धिज्म —डॉ० टी० आर० वी० मूर्त्ति, लन्दन, १९६०

हिस्ट्री आफ् इन्डियन फिलासफी —डॉ० उमेशमिश्र, इलाहाबाद, १९६१

हिस्ट्री आफ् इन्डियन फिलासफी भाग २ —डॉ० एस. राधाकृष्णन, लन्दन, १९४१

हिस्ट्री आफ् इन्डियन लाजिक —महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण, दिल्ली, १९७०

हिस्ट्री आफ् इन्डियन लिट्रेचर भाग २ —डॉ० मौरिस विन्तरनित्ज, कलकत्ता, १९३३

हिस्ट्री आफ् नव्य न्याय इन मिथिला —डॉ० दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य, दरभङ्गा, १९५८

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अवतरणिका

महिमा अचिन्त्य है मानव के चिन्तन की ।
जिससे धारा बहती अजस्र दर्शन की ॥
धारा में से ही आती है प्रतिधारा ।
इस भाँति टूटती रुढिवाद की कारा ॥
श्रद्धा पाता आया है सदा पुरातन ।
पर तर्क नित्य नूतन का करता सर्जन ॥
प्राचीन सूत्र जब क्षीण पड़ा करते हैं ।
कुछ नये सूत्र दार्शनिक घड़ा करते हैं ॥
जिस भाँति नित्य नूतन भी सदा पुरातन ।
है उषा, उसी भाँति मानव का चिन्तन ॥

× × ×

"जो 'उसे' न जाने ऋचा करे क्या उसका"—[१]
सोचें तो होगा भला वचन यह किसका ?
यह स्वयं ऋचा के निर्माता की वाणी ।
निष्फल कहती श्रुति को श्रुति ही कल्याणी ॥
"जो दे अक्षर का ज्ञान 'परा' वह विद्या ।
है ऋग्वेदादिक केवल अपरा विद्या ॥"[२]
"यद्यपि पुरोहित अष्टादश हैं सम्बल ।
पर कर्ममयी यज्ञात्मक नौका निर्बल ॥"[३]

---

१. यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति—ऋग्वेद १.१६४.३९

२. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः....अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ।
—मुण्डकोपनिषद्, १.५.५

३. प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
—पूर्ववत्, १.२.७

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

"जो परब्रह्म का ज्ञाता, तद्धित निष्फल
हैं वेद, बाढ़ में जैसे कुए का जल ।[1]
मानव-स्वतन्त्रता का प्रतीक यह चिन्तन ।
अङ्कुरित हुआ, तब वृक्ष बन गया दर्शन ॥
कुछ श्रौतमूल से जुड़े रहे कुछ टूटे ।
कैसे भी हों पर पौध तर्क के फूटे ॥

× × ×

संघर्ष और प्रतिद्वन्द्व बढ़ा जब आगे ।
तब तर्कशास्त्र के भाग्य और भी जागे ॥
जब पड़ी तर्क की श्रुति पर चोटें गहरी ।
तब जगे सनातन परम्परा के प्रहरी ॥
कुछ भौंचक्के हो लगे सोचने ऐसा—
"इस धर्मशास्त्र में दखल अकल का कैसा ?"[2]
"पाण्डित्य-प्रदर्शन द्वारा निन्दा श्रुति की,
जन्मान्तर में कारण गीदड़ की गति की ॥"[3]
पर निन्दा से क्या रुक जाता है चिन्तन ?
निन्दा बनती प्रत्युत प्रचार का साधन ॥
जिस पर जितना प्रतिबन्ध लगाया जाता ।
उतना ही बल उस धारा में है आता ॥

× × ×

---

१. यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ —गीता, २.४६.

२. धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः ।
बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते ॥
—रामायण, अयोध्याकाण्ड १००.३९

३. अहमासं पण्डितको हैतुको वेदनिन्दकः ।
आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थकाम् ।
नास्तिकः सर्वशङ्की च मूर्खः पण्डितमानिकः ।
तस्येयं फलनिर्वृत्तिः शृगालत्वं मम द्विज ॥
—महाभारत, शान्तिपर्व, १८०.४७,४९

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सो श्रुति-सम्मत मत के थे जो अनुयायी—
वेदानुसारिणी बुद्धि उन्हें भी भायी ॥
"है उचित, तर्क यदि वेदशास्त्र सम्मत हो।
है वही धर्म जो तर्कबुद्धिसंगत हो ॥"[१]
"क्या चौदह विद्याओं में न्याय नहीं है ?"[२]
"प्रत्युत सब विद्याओं का दीप यही है ॥
सब कर्मों का है तर्कशास्त्र ही साधन।
सब धर्मों का है तर्कशास्त्र अवलम्बन ॥"[३]
सर्वथा उचित है तर्कशास्त्र की महिमा
सर्वथा उचित मानवबुद्धि की गरिमा ॥
बुद्धि से बढ़ कर कोई शास्त्र नहीं है।
ब्रह्मोपलब्धिहित भी ब्रह्मास्त्र यही है ॥
इन्द्रियाँ हमारी ही दें हम को धोका।
तो कौन हमारा मार्ग प्रदर्शक होगा ?
जो दीख रहा है वही यदि मिथ्या है,
कैसे निश्चय होगा कि सत्य फिर क्या है ?
जितना अनुभव है यदि प्रमाण सम्मत है,
उस द्वारा ज्ञात पदार्थवर्ग भी सत् है ॥[४]
जो भ्रान्ति बताते हैं सारी जगती को,
लगता है भ्रान्ति हुई है उनकी मति को ॥

× × ×

है ऐसा कुछ भी नहीं प्रमेय न जो हो।
न ऐसा ही कुछ है, अभिधेय न जो हो ॥[५]

---

१. आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म्मं वेद नेतरः ॥ —मनुस्मृति, ११.१०६
२. पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥ —याज्ञवल्क्यस्मृति, १.३
३. प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्म्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता ॥ —अर्थशास्त्र, अध्याय २
४. संविदेव हि भगवती वस्तूपागमे नश्शरणम्।
—तात्पर्य्यटीका, २.१.३६.
५. षण्णामपि पदार्थानामस्तित्वाभिधेयत्वज्ञेयत्वानि।
—प्रशस्तपादभाष्य, पृ. ४१

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जो है उसको बुद्धि से तोला जाये ।
जो है उसको वाणी से बोला जाये ।।
जितने पदार्थ हैं सब बुद्धि परखेगी ।
उन पर अन्तिम निर्णय भी वह ही देगी ।।
कितनी रहस्यमय या निगूढ़ हो सत्ता ।
बुद्धि से बढ़ कर उसकी नहीं महत्ता ।।
यदि है अभेद्य अज्ञेय जगत् की सत्ता ।
तो शब्द शक्ति की भी है नहीं इयत्ता ।।
यदि दुर्गम और जटिल है मर्म प्रकृति का ।
तो मार्ग नहीं अवरुद्ध बुद्धि की गति का ।।
विश्लेषण द्वारा मर्म खुलेंगे सारे ।
मानव के यदि अनथक प्रयास न हारे ।।
अपने में यदि नर का विश्वास अटल है ।
हों जटिल प्रश्न, पर उत्तर सदा सरल है ।।

× × ×

हर ज्ञान कसौटी पर परखा जायेगा ।
सत्यानृत केवल अनुभव बतलायेगा ।।
है सत्य वही व्यवहार्य बने जीवन में ।
शशशृङ्ग न हों प्रतिपाद्य कभी दर्शन में ।।
व्यवहार और सिद्धान्त यदि मिल जायें ।
विज्ञान और दर्शन न पृथक् रह पायें ।।
विज्ञान चरण दे और दृष्टि दे दर्शन
अन्धे लंगड़े दोनों पा जायें जीवन ।।
है सत्य वही जो जीवन में जाये घट,
वह नहीं कि जिसको वेदों से लेवें रट ।।
परतः प्रमाण का गहरा भाव यही है—
जिसमें प्रवृत्तिसामर्थ्य सत्य वह ही है ।।[1]

× × ×

[1] वात्स्यायनभाष्य, अवतरणभाष्य ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

चिन्तन-पद्धति ही न्याय कही जाती है।[1]
यह सभी दर्शनों की समान थाती है॥
इसलिये न्याय का लेते सब अवलम्बन,
है दृष्टि भेद का नामान्तर ही दर्शन॥
भौतिक-तल पर करते कणाद विश्लेषण।
है मनोभूमि पर कपिल-पतञ्जलि चिन्तन॥
अध्यात्म-धरातल पर वेदान्त खड़ा है।
है गम्य-एक सोपानों का झगड़ा है॥
है स्वस्वरूप की प्राप्ति अभीष्ट सभी को।
है जन्म मरण का चक्र अनिष्ट सभी को॥
है आत्मतत्त्व द्रष्टव्य, ज्ञान है साधन।
सबका समान है दुःखनिवृत्ति प्रयोजन॥

× × ×

पर चार्वाक का पृथक् सर्वथा मत है—
कि आत्मतत्त्व ही नहीं उसे स्वीकृत है॥
केवल वितर्क के बल का ले अवलम्बन।
करता जयराशि सभी मतों का खण्डन॥
प्रत्यक्षज्ञान भी मान्य नहीं है जिनको—
अनुमान मान्य होगा फिर कैसे उनको?[2]
कुछ को केवल प्रत्यक्ष-ज्ञान सम्मत है।
पर नहीं उन्हें अनुमान-ज्ञान स्वीकृत है॥[3]
प्रत्यक्ष गम्य लौकिक विषयों की अनुमिति
सम्भव है—कुछ लोगों की ऐसी सम्मति—
पर ईश, भाग्य या पुनर्जन्म है धोका,
इन विषयों का अनुमान न सम्भव होगा॥[4]

---

१. तुलनीय—प्रमाणैरर्थपरीक्षणम्—वात्स्यायनभाष्य, न्यायसूत्र १.१.१
२. यह मत 'पाषण्ड' कहलाता है।
३. यह मत 'धूर्त' कहलाता है।
४. यह मत 'शिक्षित' कहलाता है।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इस भांति यद्यपि घोर नास्तिक दर्शन,
है चार्वाक, पर उसमें भी है चिन्तन ।।

× × ×

हैं जैन-बौद्ध भी वेदविरोधी ही मत ।
आगम-प्रमाण है किन्तु उनमें स्वीकृत ।।
इसलिये न्याय से बहुत मेल उनका है ।
वस्तुतः तर्क उनमें स्वतन्त्र पनपा है ।।
दिङ्नाग सदृश दिग्गज थे जिस दर्शन में,
वह क्यों न अग्रणी बनता फिर चिन्तन में ।।
आर्हत-दर्शन ने नयी तर्कपद्धति दी ।
कि स्याद्वाद ने नयी दिशा में गति की ।।
इनका स्वतन्त्रता परिचय है परम अपेक्षित ।
दोनों पर चर्चा लिखी पृथक् इस ही हित ।।[1]

× × ×

आगम प्रमाण में वेद प्रमाण जिन्हें हैं,
जैनों या बौद्धों से मतभेद उन्हें है ।।
उनमें मीमांसक सर्वप्रथम हैं आते,
जो वेदाज्ञा को परम धर्म बतलाते ।।
वेदाज्ञा का निर्णय जिस पद्धति द्वारा
होता हो, उसे उन्होंने 'न्याय' पुकारा ।।
अदृष्ट फलाश्रित वैदिक कर्म जटिल हैं ।
उनके विश्लेषण में वितर्क निष्फल हैं ।।
प्रामाण्य स्वतः श्रुति का मीमांसक सम्मत ।
है ज्ञान-मात्र भी स्वतः प्रमाण श्रुतिवत् ।।
नैयायिक मत में जग यथार्थतः सत् है—
इस बारे में मीमांसक भी सहमत है ।।
'समवाय' 'विशेष' न इष्ट कुमारिल को हैं—
हैं इष्ट पाँच अवशिष्ट रह गये जो हैं ।।

---

१. देखिये पृ. १८७ तथा १९५

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्राभाकर-मत में हैं 'समवाय' स्वीकृत,
पर पृथक् पदार्थत्वेन 'अभाव' न ईप्सित ॥
अधिकरण रूप ही है अभाव—यह अभिमत।
प्राभाकर–मत मे है विशेषतः स्वीकृत ॥
सादृश्य, शक्ति, संख्या–पदार्थ हैं नूतन,
जिनको स्वीकृत करता प्राभाकर-दर्शन ॥
चारों प्रमाण जो न्याय-विहित विश्रुत हैं,
प्राभाकर-मत में भी वे सब स्वीकृत हैं ॥
अर्थापत्ति एवम् अभाव नामक दो,
अभिमत प्रमाण अतिरिक्त कुमारिल-मत को ॥
हैं प्रथम तीन या चरम तीन जो अवयव,
उनसे सम्भव अनुमान, व्यर्थ पञ्चावयव ॥
केवल-व्यतिरेकी अर्थापत्ति में अन्तर्गभित है।
उसका स्वतन्त्र प्रामाण्य अतः अनुचित है ॥
इन विषयों पर मतभेद न्यायदर्शन का,
मीमांसक-मत से पुरा काल से पनपा ॥

× × ×

हैं सांख्ययोग दोनों सहवर्ती दर्शन,
सत्कार्यवाद का करते जो प्रतिपादन ॥
कारण-प्रकृति से कार्य-विकृति आती है,
कहलाने को वह पृथक् कही जाती है ॥
पर कार्य और कारण में भेद नहीं है—
सत्कार्यवाद का मौलिक तत्त्व यही है ॥
गुण, कर्म और सामान्य धर्म हैं केवल,
है द्रव्य मात्र धर्मी ही, उनका सम्बल ॥
दोनों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है,
औ धर्म-धर्मि-तादात्म्य-भाव यह ही है ॥
है पुरुष शुद्धचैतन्य, प्रकृति जड़रूपा,
त्रिगुणात्मक जिसकी शक्ति मूल सृष्टि का ॥
सत्कार्यवाद में कार्य भिन्न कारण से

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

हैं नहीं समर्थित; स्यात् इसी कारण से—
कारण 'प्रमाण' है 'प्रमा' कार्य का जैसे
होता प्रमाण का अर्थ प्रमा भी वैसे ॥
सत्कार्यवाद इस भाँति सांख्यदर्शन में,
है ओतप्रोत प्रायः समस्त चिन्तन में ॥
अनुमान-वीत एवम् अवीत—है द्विविध,
जिसमें माना उपमान साँख्य ने गर्भित ॥

× × ×

है ब्रह्म सत्य चिद्रूप, असत् जग सारा—
वेदान्तशास्त्र ने यही सदा स्वीकारा ॥
कारण से कार्य न भिन्न—साँख्य का यह मत—
वेदान्त शास्त्र को भी है यू तो सम्मत ॥
पर कारण सत् है, कार्य सदा मिथ्या है—
इतना विवर्तमत का अभिप्राय नया है ॥
परमार्थ दृष्टि से कार्य न यद्यपि सत् है,
सत्कार्यवाद व्यवहार दृष्टि से सत् है ॥
है परामर्श ही अनुमति गौतम-मत में,
पर परामर्श अनिवार्य न शाङ्कर-मत में ॥
केवल-व्यतिरेकी अर्थापत्ति में अन्तर्गर्भित है ।
उसका स्वतन्त्र प्रामाण्य अतः अनुचित है ॥
अन्वय से हो अनुमान यही लाघव है,
अन्वयव्यतिरेकी मानें तो गौरव है ॥
परमार्थतत्त्व पर केवलान्वयी व्याप्ति,
लागू नहीं होती, अतः हुई अव्याप्ति ॥
हैं सभी वाच्य और ज्ञेय—न्याय का यह मत-
वेदान्त शास्त्र को नहीं रहा है अभिमत ॥
सो हुआ न्यायवैशेषिक मत का खण्डन
करने को 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' का प्रणयन ॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

नैयायिक और वैशेषिक लेखक

लेखक	कृतियाँ	प्राचीनता के प्रमाण	अर्वाचीनता के प्रमाण
कणाद (८० ई० से पूर्ववर्ती किन्तु प्राचीनता की सीमा अनिश्चित)	वैशेषिक सूत्र (विशेष देखिये—दास गुप्ता, हिस्ट्री ऑफ् इन्डियन फिलासफी भाग १, पृ० २८०-२८५)	(१) इसमें आत्मा के विवेचन में बौद्धों के अनात्मवाद का कोई उल्लेख नहीं किया गया। (२) ८० ई० से पूर्ववर्ती लङ्कावतार-सूत्र (जिसे अश्वघोष ने उद्धृत किया है) में वैशेषिकों के परमाणुवाद का उल्लेख है। (३) ८० ई० में चरक ने अपने वैद्यक शास्त्र का आधार वैशेषिक दर्शन को ही बनाया। (४) वैशेषिक सूत्र में अनुमान के विवेचन में नैयायिकों के पूर्ववत् और शेषवत् का उल्लेख नहीं है।	(१) मीमांसकों के धर्म, वृष्ट तथा शब्दों की नित्यता सम्बन्धी सिद्धान्तों का विवेचन है। (२) सांख्य-दर्शन के प्रारम्भिक सिद्धान्तों का उल्लेख है।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लेखक	कृतियां	प्राचीनता के प्रमाण	अर्वाचीनता के प्रमाण
गौतम (अथवा मेधातिथि गौतम अथवा अक्षपाद) (५५० ई० पू० से परवर्ती किन्तु ३०० ई० से पूर्ववर्ती)	न्यायसूत्र (विशेष देखिये—विद्याभूषण, हिस्ट्री आफ् इन्डियन लाजिक, पृ० ५०)	१. परम्परा इन्हें ५५० ई० में मानती है। २. ५५० ई० पू० के काल में सूत्र शैली प्रचलित थी। ३. ३०० ई० में वात्स्यायन इनके कुछ सूत्रों के अर्थ के सम्बन्ध में मतभेदों का उल्लेख करते हैं, अतः ये वात्स्यायन से पर्याप्त समय पहले हुए होंगे।	१. सांख्य, वैशेषिक, मीमांसा और बौद्ध दर्शन के ग्रन्थों में न्यायसूत्र के उद्धरण हैं।
वात्स्यायन (३०० ई०)	न्यायभाष्य (विशेष देखिये—जैकोबी, 'डेट्स आफ् दि फिलासफिकल सूत्राज आफ् ब्राह्मणाज,' जर्नल आफ् अमरीकन ओरियन्टल सोसायटी, १९११)	१. न्यायसूत्रों के विरुद्ध एक अनुमान-प्रक्रिया का ४८० ई० में वसुबन्धु ने उल्लेख किया है किन्तु वात्स्यायन इस तथ्य से अपरिचित हैं। २. ५०० ई० में दिङ्नाग ने वात्स्यायन के मत का खण्डन किया है। ३. वात्स्यायन विज्ञानवाद के उस विकसित रूप से	१. ये न्यायसूत्र से कम से कम २०० वर्ष परवर्ती हैं क्योंकि इसमें अनेक सूत्रों के अर्थों के विषय में मत भेदों का उल्लेख है। २. दूसरी शताब्दी के माध्यमिक शास्त्र के अनेक सिद्धान्तों का इसमें खण्डन किया है। ३. वात्स्यायन के न्यायसूत्र

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लेखक	कृतियां	प्राचीनता के प्रमाण	अर्वाचीनता के प्रमाण
		परिचित नहीं हैं, जो असङ्ग और वसुबन्धु के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।	(४.२.२७) की व्याख्या में विज्ञानवाद का खण्डन किया है।
प्रशस्तपाद (चतुर्थ शताब्दी ईस्वी)	पदार्थ-धर्म-संग्रह (वैशेषिक सूत्र पर टीकात्मक स्वतन्त्र ग्रन्थ) (धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, क्रिटीक आफ् इन्डियन रियलिज्म पृ० १०२)	१. उद्योतकर (छठी शती) ने इनका उल्लेख किया है। २. दासगुप्ता के अनुसार ये दिङ्नाग से पूर्ववर्ती हैं। (देखिये—हिस्ट्री आफ् इडियन फिलासफी, भाग १, पृ० ३५१)	१. वात्स्यायन की अपेक्षा इनकी तर्क प्रणाली अधिक विकसित है। २. कीथ के अनुसार इन्होने अनेक सिद्धान्त दिङ्नाग से लिये हैं।
उद्योतकर (छठी शताब्दी ईस्वी का अन्तिम चरण)	न्यायवार्तिक (न्यायभाष्य पर टीका)	१. सुबन्धु ने वासवदत्ता में इसका नामनिर्देश किया है। (कीथ, हिस्ट्री आफ् संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ३०८ पर सुबन्धु को सप्तम शताब्दी के पूर्वार्ध के अन्त में मानते हैं।)	१. इसमें दिङ्नाग के मत की आलोचना है।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लेखक	कृतियां	प्राचीनता के प्रमाण	अर्वाचीनता के प्रमाण
		२. धर्मकीर्त्ति (६३५ ई०) उद्योतकर के मत का न्यायबिन्दु तथा प्रमाण-वार्तिक में उल्लेख करते हैं।	
चन्द्रानन्द (उद्योतकर के परवर्ती)	१. वैशेषिक सूत्र की टीका (गायकवाड ओरियन्टल सीरीज नं० १३६ बड़ौदा १९६१ में प्रकाशित) विशेष देखिये—उपर्युक्त प्रकाशन का सम्पादकीय)	१. इसकी शैली शंकर मिश्र के उपस्कार भाष्य से अधिक प्राचीन है।	
वाचस्पति मिश्र (८४१ ई०, तुलनीय—दि एज आफ् दि इम्पीरियल कन्नौज, भारतीय विद्याभवन पृ० २०४ अथवा ९७६ ई० तुलनीय-डी० सी० भट्टाचार्य, झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट जर्नल भाग २, पृ० ३४९-५६)	तात्पर्य टीका (उद्योतकर के न्याय-वार्तिक पर धर्मकीर्ति द्वारा लगाने गये आरोपों का प्रत्युत्तर)	न्यायसूचि—निबन्ध का निर्माणकाल विक्रम सम्वत् ८९८ दिया गया है।	

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लेखक	कृतियाँ	प्राचीनता के प्रमाण	अर्वाचीनता के प्रमाण
जयन्त	१. न्यायमञ्जरी (लोकायत, बौद्ध और मीमांसकों का खण्डन तथा न्यायदर्शन के सिद्धान्तों का संग्रह) २. न्यायकारिका (सरस्वती भवन सीरीज, बनारस से प्रकाशित)	१. जयन्त के पुत्र अभिनन्द ने कादम्बरी कथासार के आमुख में जयन्त के पितामह शक्तिस्वामी को मुक्तापीड़ (ललितादित्य) नामक कश्मीर-नरेश (७५३ ई०) का मन्त्री बताया है। अतः जयन्त नवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुए होंगे। यही लगभग वाचस्पतिमिश्र का काल है। (धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, उपर्युक्त ग्रंथ, पृ० ११४ तथा परवर्ती पृष्ट) २. गोपीनाथ कविराज ने इस मत का खण्डन किया है कि जयन्त ने वाचस्पति मिश्र के उद्धरण दिये हैं। (ग्लीनिंग्ज फ्राम दि हिस्ट्री एण्ड बिब्लियोग्राफी आफ् दि न्यायवैशेषिक लिट्रेचर पृ० १६-१७)	

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लेखक	कृतियाँ	प्राचीनता के प्रमाण	अर्वाचीनता के प्रमाण
भासर्वज्ञ (८५७-९२५ ई०) (तुलनीय एस. सी०, विद्याभूषण, बिब्लियोथिका इन्डिका एडीशन, न्यायसार, जयसिंह सूरि (१४वीं शती) की न्यायतात्पर्य टीका सहित, पृ० ९)	न्यायसार (न्याय का प्रथम प्रकरण-ग्रन्थ) इस पर १८ टीका हैं। (विशेष देखिये—वी. सुब्रह्मण्य शास्त्री. भूमिका, मद्रास-संस्करण, न्यायसार, आनन्दानुभव (११५०–१२५० ई०) की टीका सहित)	१. उदयन (९वीं शताब्दी) ने इसका अपनी किरणावली (पृ० १९२) में खण्डन किया है।	१. वाचस्पति द्वारा इसका उल्लेख नहीं मिलता।
शिरादित्य (व्योमशिव से पूर्ववर्ती)	१. लक्षणमाला (अनुपलब्ध) २. सप्तपदार्थी	व्योमशिव के अनेक सिद्धान्तों का पूर्वरूप सप्तपदार्थी में प्राप्त होता है।	
व्योमशिव	व्योमवती (प्रशस्तपाद के पदार्थधर्मसंग्रह की प्राचीनतम टीका)		
श्रीधर (९९१ ई०)	न्यायकन्दली (पदार्थधर्म-संग्रह की टीका)	व्यधिकदशोत्तर–नव–शत शाकाब्दे न्यायकन्दली रचिता, यह न्यायकन्दली की पंक्ति है।	

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लेखक	कृतियाँ	प्राचीनता के प्रमाण	अर्वाचीनता के प्रमाण
उदयनाचार्य (९८४ ई०)	१. आत्मतत्त्वविवेक—आत्मा का विवेचन २. न्यायकुसुमाञ्जलि—ईश्वर की सत्ता की सिद्धि तथा ज्ञान और प्रमाण का विवेचन। ३. न्यायपरिशिष्ट—जाति तथा निग्रहस्थान। ४. न्याय-वार्तिक-तात्पर्यटीका-परिशुद्धि—न्यायसूत्र १.१.५ तक की तात्पर्यटीका (वाचस्पतिकृत) पर टीका ५. लक्षणावली—सप्त पदार्थों का विवेचन। ६. किरणावली—पदार्थधर्म-संग्रह की अपूर्ण टीका। इसमें श्रीधर के मत की आलोचना है।	लक्षणावली में (पृ० १८८) ग्रन्थ का निर्माणकाल ९८४ ई० दिया है।	

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लेखक	कृतियाँ	प्राचीनता के प्रमाण	अर्वाचीनता के प्रमाण
शशधर (११२५ ई०) (तुलनीय विद्याभूषण, हिस्ट्री आफ् इण्डियन लाजिक पृ० ३९६)	सिद्धान्तदीपिका—यह प्राचीन न्याय तथा नव्यन्याय के मध्य का प्रकरण ग्रन्थ है।	गङ्गेश ने इनके मत का खण्डन किया है।	उदयन के मत का इन्होंने 'केचित्' शब्द द्वारा निर्देश किया है।
वरदराज (११५० ई०)	तार्किकरक्षा	११५७ ई० थोड़ा बाद में ही विष्णुस्वामी के शिष्य ज्ञानदेव ने इस पर लघुदीपिका नाम की टीका लिखी।	
वल्लभाचार्य (१२वीं शताब्दी) (तुलनीय-विद्याभूषण, हिस्ट्री आफ् इण्डियन लाजिक, पृ० ३८६)	न्यायलीलावती—वैशेषिक प्रकरण	१. १३वीं शताब्दी वर्धमान ने न्यायलीलावती–प्रकाश नाम की टीका लिखी। २. यादववंशी चिंघण राजा (१२१०–१२४७ ई०) के समकालिक एक कन्नड कवि ने न्यायलीलावती का निर्देश किया है।	इसमें कीर्त्ति (धर्मकीर्त्ति) व्योमशिव, उदयन, भासर्वज्ञ, और भूषण का नामनिर्देश है।
केशव मिश्र (१२वीं शताब्दी) (तुलनीय-	तर्कभाषा—न्याय-वैशेषिक दर्शन का प्रकरण ग्रन्थ।	इसमें उदयन और श्रीधर के पारस्परिक मतभेद का उल्लेख है, अतः वह प्रचलित रहा होगा।	इसमें श्रीहर्ष के खण्डन-खण्डखाद्य (११७० से ११९४ ई०) का कोई उल्लेख नहीं।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लेखक	कृतियां	प्राचीनता के प्रमाण	अर्वाचीनता के प्रमाण
विद्याभूषण, हिस्ट्री आफ् इण्डियन लाजिक, पृ० ३८१)			
मणिकण्ठ मिश्र (गङ्गेश के पूर्ववर्ती)	न्यायरत्न (विशेष देखिये—डी० सी० भट्टाचार्य—हिस्ट्री आफ् नव्यन्याय इन मिथिला, पृ० ८४-८५।	गङ्गेश ने इनके मत की अनेक स्थानों पर आलोचना की है।	
गङ्गेशोपाध्याय (१३वीं शताब्दी) (तुलनीय, इंगाल्ज़, मैटिरियल फार दि स्टडी आफ् नव्यन्याय, पृ० ४)	१. तत्वचिन्तामणि—नव्यन्याय का प्रामाणिक ग्रन्थ। २. लक्षणमञ्जरी—अप्रकाशित		१. इसमें श्रीहर्ष के खण्डन-खण्ड-खाद्य (११७०—११९४ ई०) की आलोचना है। २. गङ्गेश के पुत्र वर्धमान ने कुसुमाञ्जलि-प्रकाश १३००—१३६० ई० के बीच लिखा।
वर्धमान (गङ्गेश के पुत्र) १३००-१३६० ई०	१. न्यायनिबन्धप्रकाश—अपूर्ण उदयन की न्यायपरिशुद्धि पर टीका (सूत्र १.१.५ पर्यन्त)।		

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लेखक	कृतियां	प्राचीनता के प्रमाण	अर्वाचीनता के प्रमाण
	२. न्यायवि (?) शिष्टप्रकाश—उदयन की न्यायपरिशिष्ट पर टीका।		
	३. कुसुमाञ्जलिप्रकाश—उदयन की न्यायकुसुमाञ्जलि पर टीका।		
	४. किरणावलीप्रकाश—उदयन की किरणावली पर टीका।		
	५. न्यायलीलावतीप्रकाश—वल्लभाचार्य की न्यायलीलावती पर टीका।		
	६-९. खण्डनप्रकाश, अन्वीक्षानयतत्त्वबोध, चिन्तामणिप्रकाश तथा तर्कभाषा की टीका—अप्रकाशित (उमेशमिश्र, हिस्ट्री आफ् इन्डिन फिलासफी भाग २, पृ० २७५-२८२)		
शङ्करमिश्र (१४७३ ई०) (तुलनीय डी० सी० भट्टाचार्य, हिस्ट्री	१. भेदप्रकाश—अद्वैत का खण्डन और द्वैत का प्रतिपादन।	खण्डन टीका के एक प्रतिलिपिकार ने प्रतिलिपि करने का समय १४७३ ई० दिया है।	

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लेखक	कृतियां	प्राचीनता के प्रमाण	अर्वाचीनता के प्रमाण
आफ् नव्यन्याय इन मिथिला, पृ० १४०)	२. खण्डनटीका—श्रीहर्ष की व्याख्या और खण्डन । ३. कणादरहस्य—प्रशस्तपाद के आधार पर वैशेषिक सिद्धान्तों का परिचय तथा नव्यन्याय के व्याप्ति और उपाधि जैसे विषयों का विवेचन । ४. वादविनोद—वादविवाद के नियम तथा कुछ समस्याओं का विवेचन । ५. वैशेषिकसूत्रप्रकाश—वैशेषिक सूत्र टीका । ६. लीलावतीकण्ठाभरण—वल्लभाचार्य की लीलावती पर टीका । इसमें वर्धमान की टीका से असहमति प्रकट की गयी है ।		
वाचस्पति मिश्र द्वितीय (१४१०-१४९० ई०) (तुलनीय डी० सी० भट्टाचार्य, हिस्ट्री	१. द्वैतनिर्णय २. खण्डनोद्धार—खण्डनखण्ड-खाद्य का खण्डन ।		

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लेखक	कृतियां	प्राचीनता के प्रमाण	अर्वाचीनता के प्रमाण
आफ् नव्यन्याय इन मिथिला, पृ० १४३-१५३)			
जयदेव पक्षधर (१५वीं शताब्दी का उत्तरार्ध)	१. आलोक—तत्त्वचिन्तामणि पर टीका। २-९. न्यायलीलावतीविवेक, द्रव्यविवेक, प्रत्यक्षविवेक, अनुमानविवेक, गुणविवेक, चिन्तामणिविवेक, शशधर विवेक, तथा प्रमाणपल्लव—इन ग्रन्थों के उद्धरण मिलते हैं।	आलोक की रचना १४६५-१४७५ ई० के बीच हुई के (तुलनीय डी० सी० भट्टाचार्य, हिस्ट्री आफ् नव्यन्याय इन मिथिला, पृ० १२४)	
रुचिदत्त मिश्र (१५०५ ई०)	मकरन्द-न्यायकुसुमाञ्जलि पर वधमान की टीका पर टीका	इन्होंने पक्षधर के आलोक की प्रतिलिपि १५०५ ई० में की।	
गोपीनाथ ठक्कुर (१५वीं शताब्दी का अन्त) (तुलनीय-उमेश मिश्र, हिस्ट्री आफ् इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृ० ३४२)	मणिसार—तत्त्वचिन्तामणि एवं उस पर अन्य मतों का सार।		

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लेखक	कृतियां	प्राचीनता के प्रमाण	अर्वाचीनता के प्रमाण
भागीरथ ठक्कुर (मेघ ठक्कुर) (पक्षधर के शिष्य, रघुनाथ शिरोमणि के समकालिक) (तुलनीय—भट्टाचार्य, हिस्ट्री आफ् नव्यन्याय इन मिथिला पृ० १७२)	१. कुसुमाञ्जलि की टीका २. प्रकाशिक—वर्धमान की न्याय-लीलावती—प्रकाश पर टीका (तुलनीय—उमेश मिश्र—हिस्ट्री ऑफ् इन्डियन फिलासफी, भाग २, पृ० ६५०)		
रघुनाथ शिरोमणि (पक्षधर और वासुदेव सार्वभौम के शिष्य) (१४७५-१५७० ई०) (तुलनीय—इंगाल्स, मैटिरियल, फार दि स्टडी आफ् नव्यन्याय पृ० ९, तथा १८-१९)	१. दीधिति—तत्त्वचिन्तामणि पर अपूर्ण टीका। २. पदार्थतत्त्वनिरूपण—न्यायवैशेषिक पदार्थों का विवेचन। ३. आत्मतत्त्व—विवेक—दीधिति—उदयन के बौद्ध मत के खण्डन पर टीका ४. किरणावलीप्रकाशदीधिति—उदयन की किरणावली पर वर्धमान की टीका पर टीका।		
हरिदास भट्टाचार्य (१५९९ ई० से पूर्ववर्ती)	उदयन की कुसुमाञ्जलि-कारिका पर टीका	इनकी आलोक पर टीका की प्रतिलिपि १५९९ में की गई	

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लेखक	कृतियां	प्राचीनता के प्रमाण	अर्वाचीनता के प्रमाण
(तुलनीय गोपीनाथ कविराज, ग्लीनिंग्ज् फॉम दि हिस्ट्री एण्ड बिबलियोग्राफी आफ् दि न्याय-वैशेषिक लिटरेचर पृ० ५७)			
महेश ठक्कुर (१५२९-१५५७ ई०) (तुलनीय-उमेश मिश्र हिस्ट्री आफ् इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृ० ३५५ ; इङ्गाल्स्, उपर्युक्त ग्रंथ, पृ० २२)	दर्पण–पक्षधर की आलोक टीका पर टीका	१. पक्षधरमिश्र के आलोक पर टीका। २. रघुनाथशिरोमणि की दीधिति पर टीका।	
जानकीनाथ भट्टाचार्य चिन्तामणि १. (१५५० ई०) (तुलनीय-विद्याभूषण, हिस्ट्री आफ् इण्डियन लाजिक, पृ० ४६६) २. गिरोमणि के परिवर्ती (तुलनीय-उमेश मिश्र, उपयुक्त ग्रंथ पृ० ४२१) ३. (१५२९) (तुलनीय-इङ्गाल्स्, उपर्युक्त ग्रंथ, पृ० २२)	न्यायसिद्धान्तमञ्जरी–प्रमणों का विवेचन		

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लेखक	कृतियां	प्राचीनता के प्रमाण	अर्वाचीनता के प्रमाण
कृष्णदास सार्वभौम	१. १५२९ ई० इन्होंने जानकीनाथ चिन्तामणि को पत्र लिखा। २. १५५७ ई० अकबर ने इन्हें सनद दी। गदाधर की मृत्यु १७०९ में हुई और ये उनके गुरु थे। ३. डी० सी० भट्टाचार्य तथा म०म० हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार प्रसिद्ध भाषा-परिच्छेद एवं उसकी टीका सिद्धान्तमुक्तावली भी इन्हीं की रचना है, विश्वनाथ ने केवल उस पर उल्लास टीका लिखी है। (तुलनीय—उमेश मिश्र, हिस्ट्री आफ् इन्डियन फिलासफी, भाग २, पृ० ४२२)		
भावानन्द सिद्धान्तवागीश (१६वीं शताब्दी का अन्त) (तुलनीय—उमेश मिश्र, हिस्ट्री	तत्त्वचिन्तामणि पर टीका		

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लेखक	कृतियां	प्राचीनता के प्रमाण	अर्वाचीनता के प्रमाण
आफ् इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृ० ४२६-४२८)			
लौगाक्षि भास्कर (१६०० ई०) (तुलनीय-वी० ए० रामास्वामी शास्त्री, इन्ट्रोडक्शन टू तत्त्वचिन्तामणि, पृ० ११२)	तर्ककौमुदी– प्रमाण का विवेचन ।		
जगदीश मिश्र (१६०१ ई० से पूर्ववर्ती) (तुलनीय–इङ्गाल्स्, उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० २२, उमेश मिश्र, हिस्ट्री आफ् इण्डियन फिलासफी, पृ० ६५२)	१. रघुनाथ की तत्त्वचिन्तामणि–दीधिति पर टीका २. सूक्ति–प्रशस्तपाद के पदार्थ–धर्मसंग्रह पर टीका ३. दीधिति–न्यायलीलावती पर टीका । ४. शब्दशक्तिप्रकाश—न्याय दृष्टि से शब्दशक्ति पर विचार । ५. तर्कामृत–प्रारम्भिक छात्रों लिये ।		

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लेखक	कृतियां	प्राचीनता के प्रमाण	अर्वाचीनता के प्रमाण
मथुरानाथ तर्कवागीश (१६००-१६७५) (तुलनीय-इंगाल्ज़, उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० २३ तथा २५-२७)	१. बौद्धधिक्कारवृत्ति—उदयन के आत्मतत्त्वविवेक पर टीका। २. तत्त्वचिन्तामणिरहस्य — गङ्गेश के ग्रन्थ पर टीका। ३. तत्त्वचिन्तामणिदीधिति-रहस्य-तत्त्वचिन्तामणि पर रघुनाथ की टीका पर टीका। ४. आख्यातवादविवृति— रघुनाथ के आख्यातवाद पर टीका।		
हरिराम तर्कवागीश (गदाधर भट्टाचार्य के के गुरु) १६२५ ई०. (तुलनीय—गोपीनाथ कविराज, ग्लीनिंग्ज़ फ्राम दि हिस्ट्री एण्ड बिबलिओग्राफी आफ् दि न्यायवैशेपिक लिट्रेचर, पृ० ६८—६९।	१. ज्ञानलक्षणविचार रहस्य २. अनुमितेर्मान—सत्त्व—विचार—रहस्यम्। ३. मुक्तिवादविचार ४. प्रामाण्यवाद (तुलनीय—उमेशमिश्र, उपर्युक्त ग्रंथ, पृ० ४३३.		

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लेखक	कृतियां	प्राचीनता के प्रमाण	अर्वाचीनता के प्रमाण
गदाधर भट्टाचार्य (१६५० ई०) (तुलनीय—गोपीनाथ कविराज, उपर्युक्त ग्रंथ)	दीधिति और तत्त्वचिन्तामणि पर अन्तिम टीकायें। लगभग १ दर्जन अन्य ग्रन्थ (देखिये, उमेशमिश्र, उपर्युक्त ग्रंथ पृ० ४४०)।		
जयराम न्यायपञ्चानन १६५७ ई० (तुलनीय—उमेशमिश्र, हिस्ट्री आफ् इन्डियन फिलासफी भाग २ पृ० ४३७)	न्यायसिद्धान्तमाला—न्यायसूत्र के निम्नसूत्रों पर टीका—१.१.९—१२, १४–४१; २.२. १–१९; ५.२.१, ४, १२–१४, १८, २०–२२, २४–२५. १. न्यायवृत्ति—न्यायसूत्र पर टीका।		
विश्वनाथ न्यायसिद्धान्त पञ्चानन (१६५४ ई०)	२. भाषापरिच्छेद और उस पर सिद्धान्तमुक्तावली टीका भी इन्हीं की मानी जाती थीं, यद्यपि अब वे कृष्णसार्वभौम की मानी जाती हैं। (ऊपर		

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लेखक	कृतियां	प्राचीनता के प्रमाण	अर्वाचीनता के प्रमाण
	कृष्णसार्वभौम देखिये)		
अन्नम्भट्ट १६२५–१७०० (अथल्ये और बोडास, इन्ट्रोडक्शन टू तर्कसंग्रह, पृ० LV ।	तर्कसंग्रह तथा उस पर तर्क-दीपिका टीका। (ये दोनों इस ग्रन्थ में मुद्रित हैं।)		

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

बौद्धनैयायिक

लेखक	कृतियां
नागार्जुन दूसरी शती ई० का अन्त (विन्टरनित्स, हिस्ट्री आफ् इन्डियन लिटरेचर भाग २ पृ० ३०४ तथा ६३१-६३२)	१. प्रज्ञामूल २. शून्यतासप्तति } शून्यवाद का ३. युक्तिषष्टिका } विवेचन ४. व्यवहारसिद्धि ५ विग्रहव्यावर्तिनी } तर्क तथा ६. वैदल्यसूत्र } प्रमाण
आर्यदेव (नागार्जुन का शिष्य)	चतुःशतक—माध्यमिक दर्शन का ग्रन्थ
मैत्रेयनाथ (२७० ई०—३५० ई०) योगाचार मत के संस्थापक	१. महायानसूत्रालङ्कार २. मध्यान्तविभङ्ग ३. धर्मधर्मताविभङ्ग ४. उत्तरतन्त्र ५. अभिसमयालङ्कार
असङ्ग ३१० ई०—३९० ई० मैत्रेयनाथ के शिष्य (जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसायटी, १९२९, प्रो० टुची, बुधिस्ट लाजिक बिफोर दिङ्नाग, पृ० ४५१-४८८)	१. योगाचारभूमि—शास्त्र २. अभिधर्मसमुच्चय ३. महायानसंग्रह ४. तत्त्वविनिश्चय—उत्तरतन्त्र पर टीका ५. सन्धिनिर्मोचन सूत्र पर टीका ६. महायानसम्परिग्रह ७. प्रकरणार्यवाचाशास्त्र ८. महायानाभिधर्मसंगीतिशास्त्र
वसुबन्धु	१. अभिधर्मकोश

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लेखक	कृतियां
३२० ई०–४०० ई० (एच-हुइ, मैत्रेय एज एन हिस्टोरिकल पर्सेनेज)	२. विंशतिका ३. त्रिंशतिका ४. त्रिस्वभावनिर्देश ५. वादविधि ६. उपायहृदय ७. तर्कशास्त्र
दिङ्नाग ४०० ई० वसुबन्धु का शिष्य	१. प्रमाणसमुच्चय (तथा उस पर वृत्ति) २. हेतुचक्रहमरु ३. प्रमाणशास्त्रन्यायप्रवेश ४. आलम्बनपरीक्षा (तथा उस पर वृत्ति) ५. त्रिकालपरीक्षा
धर्मपाल ६०० ई०–६३५ ई०	१. आलम्बन–प्रत्यय–ध्यान–शास्त्र–व्याख्या २. विद्यामात्रसिद्धिशास्त्रव्याख्या ३. शतशास्त्रवैपुल्यव्याख्या
धर्मकीर्त्ति ६३५ ई०–६५० ई०	१. प्रमाणवार्तिक (तथा उस पर वार्तिक)—प्रमाणसमुच्चय की टीका २. न्यायबिन्दु ४. हेतुबिन्दु ५. सम्बन्धपरीक्षा ६. वादन्याय ७. सन्तानान्तरसिद्धि
मनोरथनन्दी धर्मकीर्त्ति का समकालिक	प्रमाणवार्तिक पर टीका

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लेखक	कृतियां
(तुलनीय—राहुल सांकृत्यायन, भूमिका, प्रमाणवार्तिक, पृष्ठ त.)	
शान्तिदेव ६९१ ई०–७४३ ई० (तुलनीय–टी० आर० वी० मूर्ति, सेन्ट्रल फिलासफी आफ् बुद्धिज्म, पृ० ८७ १००–१०१)	१. शिक्षासमुच्चय २. बोधिचर्यावतार
प्रज्ञाकर गुप्त ७०० ई० (तुलनीय—राहुल सांकृत्यायन, भूमिका, माणवार्तिक पृष्ठ त) ९४० ई० (विद्याभूषण, ए हिस्ट्री आफ् इन्डियन लाजिक पृ० ३३६)	प्रमाणवार्तिकालङ्कार प्रमाण-वार्तिक पर टीका
विनीतदेव ७०० ई०	धर्मकीर्ति के निम्न ग्रन्थों पर टीका : न्यायबिन्दु–हेतुबिन्दु, वादन्याय सम्बन्धपरीक्षा तथा सन्तानान्तर सिद्धि
जिनेन्द्रबोध ७२५ ई०	प्रमाणसमुच्चय पर विशालाम - वती नामक टीका
शान्तरक्षित ७४९ ई०	१. वादन्यायवृत्तिविपञ्चितार्थ— धर्मकीर्त्ति के वादन्याय पर टीका २. तत्त्वसंग्रहकारिका
कमलशील ७५० ई०	तत्त्वसंग्रहकारिका पर टीका
धर्मोत्तर ८४७ ई०	१. धर्मकीर्त्ति के न्यायबिन्दु पर टीका २. प्रमाणपरीक्षा

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लेखक	कृतियां
	३. पारलोकसिद्धि
	४. प्रमाणविनिश्चयटीका
अर्चट	हेतुबिन्दुविवरण
८०० ई०	
जेतारि	१. हेतुतत्त्वोपदेश
९४० ई०–९८० ई०	२. धर्मधर्मिविनिश्चय
	३. बालावतारतर्क
मोक्षाकर गुप्त	तर्कभाषा
११०० ई०	

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जैननैयायिक

लेखक	कृतियां
उमास्वाति या उमास्वामी प्रथमशताब्दी ईस्वी	तत्त्वार्थाधिगम सूत्र
सिद्धसेनदिवाकर ४८० ई० ५५० ई०	न्यायावतार सन्मतितर्क सूत्र
जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण ५२८ ई०–५८८ ई०	विशेषावश्यकभाष्य
सिद्धसेन गणि छठी शताब्दी ई०	तत्त्वार्थाधिगमसूत्र पर टीका
देवनन्दी (पूज्यपाद) ५ शती–७ शती	तत्त्वार्थाधिगमसूत्र पर सर्वार्थ-सिद्धि नामक टीका
समन्तभद्र छटी शताब्दी ई०	आप्तमीमांसा
अकलङ्क लगभग ७५० ई०	१. तत्त्वार्थवार्तिक सभाष्य २. अष्टशती–आप्तमीमांसा की टीका ३. लघीयस्त्रय ४. न्यायविनिश्चय
विद्यानन्द लगभग ८०० ई०	अष्टसहस्त्री—आप्तमीमांसा पर टीका
माणिकानन्दी लगभग ८०० ई०	परीक्षामुखसूत्र
प्रभाचन्द्र लगभग ८२५ ई०	प्रमेयकमलमार्तण्ड

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लेखक	कृतियां
अनन्तवीर्य लगभग १०३९ ई०	प्रमेयरत्नमाला
देवसूरि १०८६ ई०—११६९ ई०	प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार
हेमचन्द्रसूरि १०८८ ई०–११७२ ई०	प्रमाणमीमांसा
हरिभद्रसूरि लगभग ११२० ई०	१. न्यायप्रवेशसूत्र २. न्यायावतारवृत्ति
मल्लिषेणसूरि १२९२ ई०	स्याद्वादमञ्जरी
यशोविजयगणि १६०८ ई० १६८८ ई०	१. न्यायप्रदीप २. तर्कभाषा ३. न्यायरहस्य ४. न्यायामृततरङ्गिणी ५. न्यायखण्डखाद्य

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

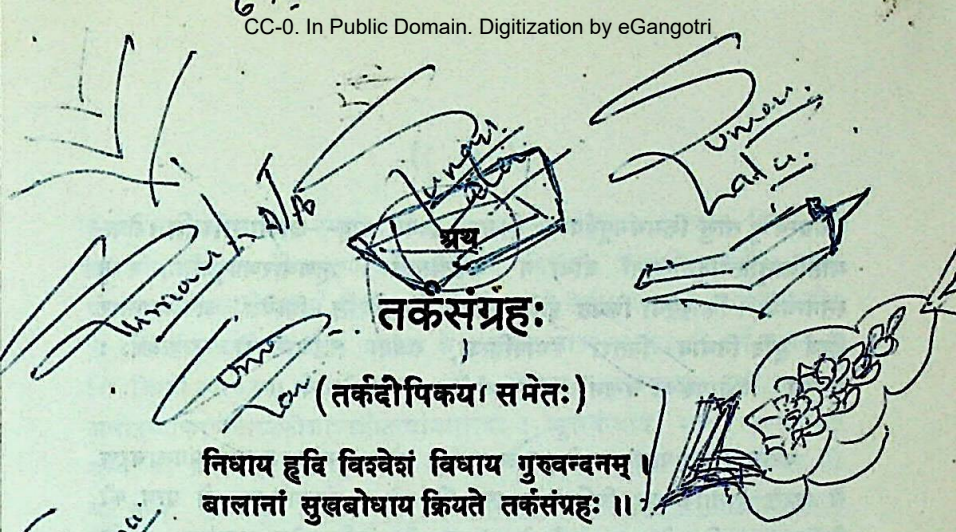

तर्कसंग्रहः

(तर्कदीपिकया समेतः)

निधाय हृदि विश्वेशं विधाय गुरुवन्दनम् ।
बालानां सुखबोधाय क्रियते तर्कसंग्रहः ॥

हृदय में विश्वनाथ को रखकर गुरुवन्दना करके, बालकों के सुखपूर्वक बोध (अथवा मोक्षज्ञान) के लिये तर्कसंग्रह लिखा जाता है।

तर्कदीपिका

विश्वेश्वरं साम्बमूर्तिं प्रणिपत्य गिरं गुरुम् ।
टीकां शिशुहितां कुर्वे तर्कसंग्रहदीपिकाम् ॥

चिकीर्षितस्य ग्रन्थस्य निर्विघ्नपरिसमाप्त्यर्थं शिष्टाचारानुमितश्रुतिबोधित-कर्तव्यताकमिष्टदेवतानमस्कारलक्षणं मङ्गलं शिष्यशिक्षार्थं निबध्नंश्चिकीर्षितं ग्रंथादौ प्रतिजानीते--निधायेति ।

ननु मङ्गलस्य समाप्तिसाधनत्वं नास्ति; मङ्गले कृतेऽपि किरणावल्यादौ समाप्त्यदर्शनात्, मङ्गलाभावेऽपि कादम्बर्यादौ समाप्तिदर्शनादन्वयव्यतिरेकव्यभिचारादिति चेत्,–न; किरणावल्यादौ विघ्नबाहुल्यात्समाप्त्यभावः । कादम्बर्यादौ तु ग्रन्थाद्बहिरेव मङ्गलं कृतमतो न व्यभिचारः ॥

ननु मङ्गलस्य कर्तव्यत्वे किं प्रमाणमिति चेत्,–न; शिष्टाचारानुमितश्रुतेरेव प्रमाणत्वात् । तथाहि—मङ्गलं वेदबोधितकर्तव्यताकम् अलौकिकाविगीतशिष्टाचारविषयत्वाद् दर्शादिवत् । भोजनादौ व्यभिचारवारणाय–अलौकिकेति । रात्रिश्राद्धादौ व्यभिचारवारणाय–अविगीतेति । 'शिष्ट'पदं स्पष्टार्थम् । "न कुर्यान्निष्फलं कर्म" इति जलताडनादेरपि निषिद्धत्वादिति ॥

तर्कसंग्रह इति । तर्क्यन्ते=प्रतिपाद्यन्त इति तर्काः=द्रव्यादिसप्तपदार्थाः, तेषां संग्रहः=संक्षेपेण स्वरूपकथनं क्रियत इत्यर्थः । कस्मै प्रयोजनायेत्यत आह—सुखबोधायेति । सुखेनानायासेन बोधः=पदार्थज्ञानं तस्मा इत्यर्थः ॥ ननु बहुषु

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तर्कग्रन्थेषु सत्सु किमर्थमपूर्वग्रन्थः क्रियत इत्यत आह—बालानामिति। तेषामतिविस्तृतत्वाद्बालानां बोधो न भवतीत्यर्थः। ग्रहणधारणपटुर्बालः, न तु स्तनन्धयः। किं कृत्वा क्रियत्र इत्यत आह—निधायेति। विश्वेशं=जगन्नियन्तारं शिवं हृदि निधाय=नितरां स्थापयित्वा, सर्वदा तद्ध्यानपरो भूत्वेत्यर्थः। गुरूणां=विद्यागुरूणां वन्दनं=नमस्कारं विधाय=कृत्वेत्यर्थः॥

परम्परा का पालन करते हुए अन्नम्भट्ट अपने ग्रन्थ का प्रारम्भ मंगलाचरण से करते हैं ताकि वह निर्विघ्न समाप्त हो सके। मंगलाचरण से ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के सम्बन्ध में दो प्रमाण हैं—श्रुति और अनुमान। यद्यपि ऐसी श्रुति शब्दतः उपलब्ध नहीं होती जहाँ मंगलाचरण का आदेश दिया गया हो किन्तु शिष्टाचार द्वारा ऐसी श्रुति का अनुमान अवश्य किया जा सकता है। जैमिनि का कथन है कि जहां श्रुति शब्दशः कुछ न कहे और शिष्टाचार विषयता हो वहाँ उसका अनुमान लगा लेना चाहिये—असति ह्यनुमानम्[१]। तर्कदीपिका में मंगलाचरणसम्बन्धी श्रुति के अनुमान के सम्बन्ध में निम्न विवेचन किया गया है:—मंगलाचरण श्रुतिसम्मत है, क्योंकि यह १. अलौकिक है, और २. अविगीत है। 'अलौकिक' का अभिप्राय यह है कि यह रागादि वश नहीं किया जाता और 'अविगीत' का अभिप्राय यह है कि श्रुति में इसका कहीं निषेध नहीं। भोजन आदि रागादि वश किये जाते हैं अतः ये अलौकिक नहीं और रात्रि-श्राद्ध आदि श्रुति-निषिद्ध हैं अतः वे अविगीत नहीं।

दूसरा प्रमाण जो मंगलाचरण के पक्ष में दिया जाता है वह अनुमान का है। जिन ग्रन्थों का प्रारम्भ मंगलाचरणपूर्वक हुआ वे निर्विघ्न समाप्त हो गये अतः यह अनुमान किया जाता है कि मंगलाचरण से ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति होती है। यदि कहीं इसका अपवाद देखने में आये तो यह समझना चाहिए कि यदि मंगलाचरण होने पर भी ग्रन्थ निर्विघ्न समाप्त नहीं हुआ तो वहां विघ्न अधिक थे, उदाहरणतः किरणावली। और यदि मंगल के अभाव में भी ग्रन्थ समाप्त हुआ देखने में आये तो यह समझना चाहिए कि वहाँ लेखक ने ग्रन्थ से बाहर ही मंगलाचरण कर लिया है, जैसे—कादम्बरी[२]।

---

१. पूर्वमीमांसा, १.३३

२. यहां कादम्बरी का उदाहरण अनुचित है। प्रथम तो कादम्बरी के प्रारम्भ में विधिवत् मंगलाचरण किया ही गया है। दूसरे कादम्बरी की निर्विघ्न

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इस मंगल श्लोक की दूसरी पंक्ति में अनुबन्ध-चतुष्टय (अर्थात् किसी भी ग्रन्थ के सम्बन्ध में अवश्य ज्ञातव्य चार विषय) बतलाये गये हैं। इस ग्रंथ का अधिकारी 'बाल' अर्थात् वह है जो न तो सर्वथा शिशु है न सर्वथा प्रौढ है। सिद्धान्तचन्द्रोदय तथा पदकृत्य के अनुसार बाल का यह भी अर्थ संभव है कि जिसने व्याकरण आदि शास्त्र पढ़े हैं परन्तु न्यायशास्त्र नहीं पढ़ा—अधीतव्याकरणकाव्यकोशोऽनधीतन्यायशास्त्रः। 'सुखबोधाय' शब्द द्वारा इस ग्रन्थ का प्रयोजन दिया गया है। तर्क के विषय पर अनेक ग्रन्थ होने पर भी यह ग्रन्थ इसलिये लिखा गया कि विषय का बोध सुखपूर्वक हो सके। वाक्यविवृत्ति के अनुसार सुख अर्थात् मोक्ष का बोध इस ग्रन्थ का प्रयोजन है।[1] तर्कसंग्रह शब्द विषय और सम्बन्ध दोनों को बतलाता है। तर्क अर्थात् जिनका विवेचन किया जाता है वे द्रव्यादि सप्त पदार्थ—तर्क्यन्ते प्रतिपाद्यन्त इति तर्काः द्रव्यादिसप्तपदार्थाः। न्याय में 'तर्क' के अनेक अर्थ दिये हैं पर जो अर्थ यहां किया है वह एक दृष्टि से असाधारण ही है। 'संग्रह' शब्द यहां संक्षेप के अर्थ में आया है। वाक्यविवृत्ति के अनुसार संग्रह के अन्तर्गत (१) उद्देश्य (२) लक्षण और (३) परीक्षा आते हैं[2]। उद्देश्य का अर्थ है परिगणन

समाप्ति भी नहीं हुई। इसी प्रकार किरणावली में मंगलाचरण भी है और यह समाप्त भी नहीं हुई। (यह सम्भव है कि किरणावली किसी समय पूर्ण प्राप्त होती हो।) कुछ प्रतिलिपियों में किरणावली के स्थान पर कादम्बरी तथा कादम्बरी के स्थान पर किरणावली पाठ दिया है। इस पाठ के मानने पर कादम्बरी की समस्या तो हल हो जाती है किन्तु किरणावली की समस्या बनी ही रहती है। सिद्धान्तचन्द्रोदय में किरणावली के भी स्थान पर 'नास्तिक ग्रन्थादौ' पाठ मान कर यह समस्या हल की गई है।

१. सुखं दुःखध्वंसः मोक्ष इति यावत्। सुखाय बोधः सुखबोधः—वाक्यविवृत्ति। वाक्यविवृत्ति में मेरुशास्त्री ने सुखबोधाय का जो अर्थ स्वयं अन्नम्भट्ट ने किया है, उसका भी खण्डन कर दिया है—"अन्नम्भट्टस्तु—सुखेनानायासेन बोधः सुखबोध इति व्याचष्ट। तच्च किञ्चिदपकर्षमालम्बते। स्वतः परमपुरुषार्थभूतमोक्षं प्रति स्वग्रन्थस्योपयोगितामप्रत्याय्य ग्रन्थादौ बालकस्य प्रवर्तयितुमशक्यत्वात्।"

२. नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधानमुद्देशः। उद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम्। लक्षितस्य यथा लक्षणमुपपद्यते न वेति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा—वात्स्यायनभाष्य, न्यायसूत्र, १.१.२.

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जैसा कि—द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्त पदार्थाः । लक्षण का उदाहरण है—गन्धवती पृथिवी। परीक्षा में उस लक्षण का विवेचन किया जाता है ।

द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्त पदार्थाः ।

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, और अभाव-ये सात पदार्थ हैं।

(त. दी.) पदार्थान्विभजते—द्रव्येति । 'पदस्यार्थः = पदार्थः' इति व्युत्पत्त्याभिधेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम् ॥ नन्वत्र विभागादेव सप्तत्वे सिद्धे 'सप्त' ग्रहणं व्यर्थमिति चेत्—न; अधिकसंख्याव्यवच्छेदार्थत्वात् ॥ नन्वतिरिक्तः पदार्थः प्रमितो न वा? । नाद्यः; प्रमितस्य निषेधायोगात् । नान्त्यः; प्रतियोगिप्रमितिं विना निषेधानुपपत्तेरिति चेत्,—न; पदार्थत्वं द्रव्यादिसप्तान्यतमत्वव्याप्यमिति व्यवच्छेदार्थत्वात् ॥ ननु सप्तान्यतमत्वं सप्तभिन्नभिन्नत्वमिति वक्तव्यम् । एवं च सप्तभिन्नस्याप्रसिद्धत्वात्सप्तान्यतमत्वं कथम्? इति चेत्,—न; द्रव्यादिसप्तान्यतमत्वं द्रव्यादिभेदसप्तकाभाववत्त्वमित्युक्तत्वात् । एवमग्रेऽपि द्रष्टव्यम् ॥

दीपिका में पदार्थ का अर्थ उसकी व्युत्पत्ति पर आधारित है । पद का अर्थ पदार्थ है—पदस्य अर्थः । इसे ही दूसरे शब्दों में कह सकते हैं—अभिधेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम् । अर्थ उसे कहते हैं जिसके प्रति इन्द्रियाँ गतिशील होती हैं—ऋच्छन्तीन्द्रियाणि यं सः । सिद्धान्तचन्द्रोदय में पदार्थ को 'ज्ञेयत्व' द्वारा और सप्तपदार्थी में 'प्रमितिविषयत्व' द्वारा कहा गया है।[1] वस्तुतः जो पदार्थ ज्ञेय होगा वह अभिधेय भी होगा ही।

अरस्तु ने अपने तर्कशास्त्र में दस पदार्थ माने हैं १. वस्तु, २. परिमाण, ३. गुण, ४. सम्बन्ध, ५. स्थान, ६, काल, ७. स्थिति, ८, विशिष्टता, ९. गति, १०. निष्क्रियता। इनमें अन्तिम नौ विधेय हैं और प्रथम वस्तु उद्देश्य है। किन्तु इन सभी के लिये एक ही शब्द कैटेगोरी (Category) का प्रयोग किया गया है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि अरस्तू का विभाजन तर्कसंगत है जबकि कणाद का तात्त्विक। वैशेषिक दर्शन द्वारा बताये गये ७ पदार्थ और अरस्तू द्वारा बनाये गये १० पदार्थों की तुलना की जा सकती है। द्रव्य और

१. सप्तपदार्थी, १.

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

गुण तो वस्तु और गुण हैं ही, संयोग और समवाय दोनों सम्बन्ध हैं जिनमें प्रथम गुण है और दूसरा विशेष प्रकार का पदार्थ। समय और स्थान की गणना द्रव्यों में की गई है। गति कर्म है और निष्क्रियता उसका निषेध है। विशिष्टता सामान्य या विशेष है जिसको बाद के नैयायिकों ने उपाधि माना। स्थिति का कोई विशेष स्थान वैशेषिक दर्शन में नहीं। अरस्तू ने अभाव का उल्लेख नहीं किया क्योंकि वह सत्तावान् पदार्थों की गणना कर रहा था।[१]

हम देखते हैं कि सभी दर्शनकारों ने पदार्थों की भिन्न-भिन्न संख्या मानी है। गौतम ने १६ पदार्थ माने,[२] वेदान्तियों ने चित् और अचित् दो पदार्थ माने, रामानुज ने उनमें एक ईश्वर और जोड़ दिया। सांख्यदर्शन में २५ तत्त्व हैं[३] और मीमांसकों में ८[४]। वस्तुतः इन सभी दर्शनों में 'पदार्थ' शब्द का प्रयोग किसी एक विशिष्ट अर्थ में नहीं किया गया, प्रत्युत उन सभी विषयों का, जिनका विवेचन तत्तत् दर्शनों में है, पदार्थ नाम दे दिया गया।

दीपिका में यहां इस विषय का भी विवेचन है कि यहां सप्त शब्द का प्रयोग क्यों किया गया। इस पर उत्तर दिया गया कि यहां सप्त का ग्रहण अधिक पदार्थों की सम्भावना का निषेध करने के लिये है। वस्तुतः वैशेषिक दर्शन में छः और गौतम दर्शन में १६ पदार्थ थे। कणाद के बतलाये गये छः पदार्थों में परवर्ती टीकाकारों ने अभाव और जोड़ दिया[५]। दीपिका में अन्त में गौतम द्वारा दिये गये १६ पदार्थों का भी सप्त पदार्थों में ही अन्तर्भाव किया गया है। उसका वर्णन हम आगे करेंगे। यहाँ न्यायबोधिनी टीका में यह शका उठाई गई है कि शक्ति को भी अष्टम पदार्थ क्यों न मान लिया जाये। मणि विशेष के रहने पर ईंधन के पास अग्नि रखने पर भी दाह नहीं

१. तुलनीय, तर्कसंग्रह, अथल्ये तथा बोडास, पृ ७३-७४

२. प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः
—न्यायसूत्र, १.१.१.

३. सांख्यकारिका, ३.

४. तन्त्ररहस्य, पृ० २०-२४ बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० ३८८ पर उद्धृत

५. कणाद ने अपने सूत्रों में अभाव शब्द का प्रयोग अनेक स्थानों पर किया है। तुलनीय—'कारणाभावात् कार्याभावः' तथा 'न तु कार्याभावात् कारणाभावः'—वैशेषिकदर्शन, १.१.१३ तथा १.१.१४.

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

होता और मणि न होने पर दाहानुकूल शक्ति उत्पन्न हो जाती है अतः शक्ति भी एक अष्टम पदार्थ है। इसका उत्तर यह है कि मणि का अभाव ही दाह का कारण है और यदि मणि के संयोग और वियोग को पदार्थ मानें, तो अनन्त शक्तियों की कल्पना करनी पड़ेगी। इसलिये पदार्थ सात ही हैं।

तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव ॥

उन (पदार्थों) में पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन-ये नौ ही द्रव्य हैं।

(त. दी.) द्रव्यं विभजते—तत्रेति। तत्र द्रव्यादिमध्ये द्रव्याणि नवैवेत्यन्वयः। कानि तानीत्यत आह—पृथिवीत्यादि। ननु तमसो दशमद्रव्यस्य विद्यमानत्वात्कथं नवैव द्रव्याणि ? । तथाहि—'नीलं तमश्चलति' इत्यबाधितप्रतीतिबलान्नीलरूपाधारतया क्रियाधारतया च द्रव्यत्वं तावत्सिद्धम्। तत्र तमसो नाकाशादिपञ्चकेऽन्तर्भावः; रूपवत्त्वात्। अत एव न वायौ; स्पर्शाभावात् सदागतिमत्त्वाभावाच्च। नापि तेजसि; भास्वररूपाभावादुष्णस्पर्शाभावाच्च। नापि जले; शीतस्पर्शाभावान्नीलरूपाश्रयत्वाच्च। नापि पृथिव्याम्; गन्धवत्त्वाभावात् स्पर्शरहितत्वाच्च। तस्मात्तमो दशमद्रव्यमिति चेत्,—न; तमसस्तेजोऽभावरूपत्वात्। तथाहि-तमो हि न रूपवद्द्रव्यमालोकासहकृतचक्षुर्ग्राह्यत्वादालोकाभाववत्। रूपिद्रव्यचाक्षुषप्रमायामालोकस्य कारणत्वात्। तस्मात्प्रौढप्रकाशकतेजःसामान्याभावस्तमः। तत्र 'नीलं तमश्चलति' इति प्रत्ययो भ्रमः। अतो नव द्रव्याणीति सिद्धम् ॥

द्रव्य के चार लक्षण किये जा सकते हैं—१. द्रव्यत्वजातिमत्त्वम्, २. गुणवत्त्वम्, ३. क्रियावत्त्वम् ४. समवायिकारणत्त्वम्। किन्तु इनमें अन्तिम को छोड़कर सभी सदोष हैं। प्रथम लक्षण में तो केवल शाब्दिक परिभाषा है क्योंकि उससे द्रव्य का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। सिद्धांतचन्द्रोदय में द्रव्यत्व जाति की सत्ता सिद्ध की गई है और उसकी यह प्रक्रिया दी गई है—द्रव्यवृत्तिर्या समवायिकारणता सा किंचिद्धर्मावच्छिन्ना, कारणतात्वाद्दण्डवृत्तिकारणतावत्। अर्थात् प्रत्येक कारणता में कुछ धर्मावच्छिन्नता रहती है जैसे दण्डनिष्ठकारणता में दण्डत्वावच्छिन्नता। उसी प्रकार जो द्रव्य में रहने वाली समवायिकारणता है वह भी किसी धर्म से अवच्छिन्न है। किन्तु इस परिभाषा के अनुसार दो

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मान्यताएं माननी पड़ती हैं। प्रथम तो यह कि द्रव्य एक कारण है और दूसरे यह कि कारण का कोई धर्म होना चाहिए। दूसरी परिभाषा 'गुणवत्त्व' यद्यपि अधिक उपयुक्त है किन्तु इसके अनुसार द्रव्य जिस क्षण उत्पन्न होगा, उस क्षण वह निर्गुण होने के कारण द्रव्य नहीं हो सकेगा क्योंकि नैयायिकों के अनुसार उत्पन्न होते समय द्रव्य निर्गुण होता है—आद्ये क्षणे निर्गुणं द्रव्यं तिष्ठति। अतः इस परिभाषा में अव्याप्ति दोष आ जाता है। इस दोष का निवारण यह कहकर दिया जाता है कि 'गुणसमानाधिकरण-सत्ताभिन्न-जातिमत्त्वं द्रव्यत्वम्'। अर्थात् यद्यपि प्रथम क्षण में द्रव्य गुण नहीं होते किन्तु उनमें द्रव्यत्व जाति अवश्य होती है। क्योंकि सत्ता भी एक जाति है जिसमें गुण रहते हैं, अतः उसमें अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिए यहां 'सत्ताभिन्न' पद का निवेश किया गया है। किन्तु इस स्थिति में यह परिभाषा लगभग प्रथम परिभाषा जैसी ही हो जाती है। तीसरी परिभाषा—समवायिकारणत्व शुद्ध होने पर भी बहुत अधिक पारिभाषिक है।

प्रस्तुत प्रसंग में दीपिका और न्यायबोधिनी दोनों टीकाओं में यह प्रश्न उठाया गया है कि क्या तमस् दसवां द्रव्य नहीं है? द्रव्य में गुण और क्रिया आवश्यक मानी गई हैं। ये दोनों तमस् में हैं क्योंकि 'नील तम चलता है'—यहां नील गुण और गति क्रिया दोनों का आश्रय तमस् को माना है। तमस् का रूप है अतः यह अन्तिम पांच (आकाश, काल, दिक्, गुण, आत्मा और मन) में तो अन्तर्भूत नहीं हो सकता क्योंकि ये पांचों तो रूप रहित हैं। इसी कारण तमस् वायु भी नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त तमस् में स्पर्श भी नहीं है और न निरन्तर गति ही है इसलिए भी उसका वायु में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। क्योंकि इसका रूप भास्वर नहीं है और न इसका स्पर्श उष्ण है, अतः यह तेज भी नहीं हो सकता। इसका वर्ण नील है और इसका स्पर्श शीत भी नहीं है, अतः यह जल भी नहीं हो सकता। इसमें न गन्ध है न स्पर्श, अतः यह पृथ्वी के अन्तर्गत भी समाविष्ट नहीं होता। अतः तमस् को दसवां द्रव्य मानना ही चाहिये। किन्तु सिद्धांत पक्ष यह है कि तमस् केवल तेज का अभाव है, स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। यदि इसे दसवां द्रव्य मानें तो या तो यह रूपवान् होगा या रूपरहित। नीला प्रतीत होने के कारण यह रूप रहित तो माना नहीं जा सकता और इसे रूपवान् भी नहीं मान सकते क्योंकि रूपवान् को देखने के लिए प्रकाश की आवश्यकता होती है जबकि तमस् को देखने के लिए किसी प्रकार के प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। अतः तमस् को 'प्रौढप्रकाशतेजःसामान्याभावः' कहा है। यहां 'सामान्य' शब्द से यह माना

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

गया है कि किसी भी प्रकार के तेज का अभाव अभिप्रेत है न कि किसी सूर्यचन्द्रादि के तेज विशेष का। 'प्रकाशक' शब्द यहां इसलिए रखा गया कि यद्यपि स्वर्ण तैजस् है किन्तु प्रकाशक नहीं है अतः स्वर्ण के होने पर भी तमस् का होना सम्भव है। 'प्रौढ' का तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म प्रकाश से अन्धकार दूर नहीं होता। दीपिका में अन्धकार में नील वर्ण और गति की प्रतीति को भ्रान्ति माना है। श्रीधर ने न्यायकन्दली में अन्धकार को किसी पदार्थान्तर पर नीलवर्ण का आरोप मात्र माना है और इस प्रकार इसे अभाव न मान कर एक गुण तो माना है किन्तु द्रव्य नहीं[1]। प्राभाकर मीमांसकों में से कुछ इसे तेज के ज्ञान का अभाव मानते हैं तेज का अभाव नहीं।[2] न्यायबोधिनी में यह भी चर्चा की गई है कि तेज को ही अन्धकार का अभाव क्यों न मान लिया जाए। किन्तु उसके उत्तर में यह कहा गया कि उष्ण स्पर्श का आश्रय होने के कारण तेज को अभाव रूप नहीं माना जा सकता। अन्धकार में नील रूप की प्रतीति दीपक के अपसरण की क्रिया के कारण होने वाली भ्रान्ति ही है।

दीपिका में यहां द्रव्य का लक्षण करते समय लक्षण के तीन दोषों की भी चर्चा की गई है। लक्षण को असाधारण धर्मयुक्त होना चाहिए। असाधारण की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—लक्ष्यतावच्छेदकसमनियतत्वमसाधारणत्वम्। लक्षण को तीन दोषों से रहित होना चाहिए—१. अव्याप्ति अर्थात् ऐसे धर्म जो लक्ष्य पदार्थ के एक अंश में रहें जैसे—गौ का 'कपिलत्व'। २. अतिव्याप्ति जो लक्ष्य से अतिरिक्त पदार्थों में भी रहें जैसे गौ का 'शृंगित्व'। ३. असम्भव जो किसी भी लक्ष्य में न रहें जैसे गौ का 'एकशफवत्व'। इस विवेचन में हमें यह पता चलेगा कि भारतीय तार्किक किसी पदार्थ का लक्षण करते समय उसके सब अनिवार्य धर्मों का परिगणन आवश्यक नहीं मानते थे; प्रत्युत केवल ऐसे धर्मों का निर्देश ही पर्याप्त समझते थे जो लक्ष्य को इतर पदार्थों से विविक्त कर दें। इस कारण कई स्थानों पर लक्षण केवल कुछ गुणों का परिगणन या वर्णनमात्र रह गए हैं।

---

१. प्रशस्तपादभाष्य, न्यायकन्दली, पृ. २१–२६. इन पृष्ठों में तमस् के दशम द्रव्यत्व के सम्बन्ध में कुछ मौलिक चर्चा की गयी जो है विस्तारभय से उद्धृत नहीं की गयी; श्री दुर्गाधरझा शर्मा ने उस चर्चा का सुन्दर हिन्दी-रूपान्तर भी नीचे दिया है।

२. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ. १०८.

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहशब्दबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्काराश्चतुर्विंशतिगुणाः ॥

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, और संस्कार—ये चौबीस गुण हैं।

(त. दी.) गुणं विभजते—रूपेति। द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति सामान्यवान् गुणः। गुणत्वजातिमान्वा। ननु लघुत्वमृदुत्वकठिनत्वादीनां विद्यमानत्वात्कथं चतुर्विंशतिगुणाः ? इति चेत्, न; लघुत्वस्य गुरुत्वाभावरूपत्वात्, मृदुत्व-कठिनत्वयोरवयवसंयोगविशेषरूपत्वात् ॥

दीपिका में गुण की परिभाषा गुणत्वजातिमान् भी है, जोकि द्रव्य की प्रथम परिभाषा के समान केवल शाब्दिक परिभाषा मात्र है। गुण की दूसरी परिभाषा है—द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति सामान्यवान्। नैयायिकों के अनुसार सामान्य अथवा जाति द्रव्य, गुण और कर्म में रहती है। अतः ऐसे सामान्यवान् पदार्थ को गुण कहा जा सकता है जो न द्रव्य हो न कर्म। इसे ही दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जाता है—द्रव्याऽवृत्ति-नित्यवृत्ति-जातिमान्। अर्थात् जो न द्रव्य है और न अनित्य और जातिमान् भी है वह गुण है। यहां 'नित्य' शब्द से कर्म का निराकरण हो जाता है। भाषापरिच्छेद में गुण की परिभाषा अधिक पूर्ण दी है—अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः।[1] अर्थात् गुण द्रव्य में रहते हैं किन्तु स्वयं गुण और क्रिया रहित होते हैं। कणाद ने गुण की जो परिभाषा दी है वह इससे बहुत मिलती-जुलती है—द्रव्याश्रयी न गुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्।[2] यहां 'संयोगविभागेष्वकारणम्' पद द्वारा कर्म में अतिव्याप्ति का निवारण हो जाता है, क्योंकि कर्म संयोग और विभाग में कारण है।

उपर्युक्त परिभाषाओं पर ध्यान दें तो यह पता चलेगा कि वास्तविक समस्या गुण को द्रव्य और कर्म से भिन्न करने की है। द्रव्य अधिकरण है, गुण और कर्म दोनों ही उसके आश्रित हैं। बोडास का मत है कि गुण स्थायी है, कर्म अस्थायी।

---

१. भाषापरिच्छेद, ८६।
२. वैशेषिक दर्शन, १. १. १६.

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जब तक प्रक्रिया चलती है तब तक कर्म कहलाता है किन्तु जब प्रक्रिया स्थिर हो जाती है तो यह गुण कहलाता है। उदाहरणतः वाहन की गति कर्म है क्योंकि वह किसी भी क्षण रुक सकती है किन्तु पृथ्वी और नक्षत्रों की गति गुण है क्योंकि वह उनका स्थायी स्वभाव है। किन्तु बोडास का यह विवेचन शास्त्रसम्मत नहीं है।

ऊपर जो २४ गुण दिये हैं उनका आधार कोई गम्भीर विवेचन नहीं प्रतीत होता। किसी पदार्थ के स्वरूप का तात्त्विक विवेचन करके गुणों का परिगणन भारतीय तार्किकों ने सम्भवतः नहीं किया। कणाद ने १७ गुण गिनायें हैं—रूपरसगन्धस्पर्शसंख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नश्च गुणाः।[1] टीकाकारों ने 'च' शब्द का सहारा लेकर इसमें ७ गुण और जोड़ दिये—गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द।[2] शंकर मिश्र ने यह कहकर इसकी व्याख्या की है कि क्योंकि ये सात गुण सर्वविदित हैं अतः सूत्रकार ने उन्हें नहीं गिनाया।[3] स्पष्ट है कि यह व्याख्या अधूरी है। १७ की अपेक्षा २४ गुण संभवतः सर्वप्रथम प्रशस्तपाद ने गिनाये। नव्यन्याय में केवल २१ गुण ही माने जाते हैं। नव्यनैयायिक 'परत्व' 'अपरत्व' को 'त्रिप्रकृष्टत्व' और 'संनिकृष्टत्व' या 'ज्येष्ठत्व' और 'कनिष्ठत्व में अन्तर्निहित मान लेते हैं और पृथक्त्व को अन्योन्याभाव का ही एक रूप मानते हैं।

कुछ टीकाकारों ने गुणों की संख्या बढ़ाने का प्रयत्न भी किया है। दीपिका में लघुत्व, मृदुत्व और कठिनत्व को तथा सिद्धान्तचन्द्रोदय में आलस्य को पृथक् गुण गिनाया है। किन्तु यह कहा जाता है कि लघुत्व केवल गुरुत्व का अभाव है और मृदुत्व तथा कठिनत्व संयोग की सघनता की क्रमिकता पर आश्रित हैं। आलस्य प्रयत्न का विरोधी है किंतु यदि इसी आधार पर यह कहा जाये कि अधर्म भी तो धर्म का विरोधी है तो यह उत्तर दिया गया है कि अधर्म केवल धर्म का अभाव ही नहीं है प्रत्युत

---

१. वैशेषिकदर्शन, १. १. ५।

२. 'च' शब्दसमुच्चिताश्च गुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्कारादृष्टशब्दाः सप्तैवेत्येवं चतुर्विंशतिगुणाः—प्रशस्तपादभाष्य, पृ. २७.

३. उपस्कारभाष्य वैशेषिक दर्शन, १. १. ६. (पृ. १४) ते हि प्रसिद्धगुणभावा एवेति कण्ठतो नोक्ताः।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पाप रूप एक पृथक् गुण है।[1] यही बात संयोग-विभाग परत्व-अपरत्व और सुख-दुख के सम्बन्ध में कही जा सकती है। यह एक दूसरे के विपरीत तो हैं पर विरोधी नहीं हैं।

यदि हम विचार करें तो प्रतीत होगा कि यह विवेचन बहुत सूक्ष्म नहीं है। लघुत्व को गुरुत्व का विरोधी तभी माना जा सकता है जबकि गुरुत्व का अर्थ 'भारीपन' किया जाए। किन्तु गुरुत्व का अर्थ 'वजन' भी है और इस स्थिति में लघुत्व, गुरुत्व का विरोधी नहीं प्रत्युत क्रमिक न्यूनांश मात्र है। इसी प्रकार यदि द्रवत्व को संयोग का ही क्रमिक सघनता अंश होने पर भी स्वतन्त्र गुण माना जाए तो मृदुत्व और कठिनत्व को भी स्वतन्त्र गुण ही मानना चाहिए। आलस्य भी स्थिति-स्थापक[2] है और एक स्वतन्त्र गुण है, प्रयत्न का अभाव मात्र नहीं है। बुद्धि के बाद आने वाले नौ गुणों का सम्बन्ध आत्मा से है अतः उनका वर्गीकरण पृथक् होना चाहिए। अतः गुणों का परिगणन और वर्गीकरण वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

द्रव्य और गुण

भाषापरिच्छेद में किस-किस द्रव्य में कौन-कौन-से गुण रहते हैं, इसका भी विवेचन किया है। वायु में स्पर्श आदि ८ गुण और वेग नाम का संस्कार है। तेज में स्पर्श आदि ८ गुण रूप, द्रव्य और वेग हैं। जल में स्पर्श आदि ८, वेग, गुरुत्व, द्रवत्व, रूप, रस तथा स्नेह ये १४ गुण हैं। इन्हीं १४ गुणों में स्नेह को निकाल दें और गन्ध को जोड़ दें तो ये चौदह गुण पृथ्वी में पाये जाते हैं। आत्मा में, बुद्धि आदि ६, संख्या आदि ५, भावना, धर्म और अधर्म—ये १४ गुण हैं। काल और दिशा में संख्या आदि ५ गुण हैं, और आकाश में संख्या आदि पांच और शब्द—ये ६ गुण हैं। ईश्वर में संख्या आदि ५, बुद्धि, इच्छा और यत्न—ये ८ गुण हैं। मन में परत्व अपरत्व संख्या आदि ५, और वेग ये ८ गुण हैं।[3]

---

१. भाषापरिच्छेदकार ने धर्म तथा अधर्म अदृष्ट के अन्तर्गत माने हैं—धर्माधर्मावदृष्टं स्यात्—भाषापरिच्छेद, १६१.

२. स्थितिस्थापक को यहां सामान्य अर्थ में लेना चाहिये, संस्कार के तीन भेदों में से एक भेद नहीं समझना चाहिये।

३. स्पर्शादयोऽष्टौ वेगाख्यः संस्कारो मरुतो गुणाः।
अष्टौ स्पर्शादयो रूपं द्रवो वेगश्च तेजसि॥
स्पर्शादयोऽष्टौ वेगश्च गुरुत्वञ्च द्रवत्वकम्।
रूपं रसस्तथा स्नेहो वारिण्येते चतुर्दश॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इन गुणों का सामान्य और विशेष इन दो भागों में विभाजन किया जाता है। विशेष गुण का दीपिका में यह लक्षण दिया है—द्रव्यविभाजकोपाधित्वयसमानाधिकरणावृत्ति-द्रव्यकर्मावृत्ति-जातिमान्। जिसका सरल शब्दों में यह अर्थ है कि वह गुण जो एक समय में एक ही द्रव्य में रहे विशेष गुण कहलाता है। सामान्य गुण दो द्रव्यों में या दो से अधिक द्रव्यों में एक साथ रहते हैं। २४ गुणों में से बुद्धि आदि ६, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक, द्रवत्व, अदृष्ट, भावना और शब्द विशेष गुण माने जाते हैं। संख्या से लेकर अपरत्व तक और असांसिद्धिक द्रवत्व, गुरुत्व तथा वेग ये सामान्य गुण माने गये हैं।[१]

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श एकेन्द्रिय-ग्राह्य गुण हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व तथा स्नेह, द्वीन्द्रियग्राह्य गुण हैं। गुरुत्व, धर्म, अधर्म और संस्कार अतीन्द्रिय गुण हैं।[२]

उत्क्षेपणावक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनानि पञ्च कर्माणि।

उत्क्षेपण (ऊपर फेंकना), अवक्षेपण (नीचे फेंकना), आकुञ्चन (समेटना) प्रसारण (फैलाना) और गमन (गति)—ये पांच कर्म हैं।

स्नेहहीना गन्धयुताः क्षितावेते चतुर्दश
बुद्ध्यादिषट्कं संख्यादिपञ्चकं भावना तथा॥
धर्माधर्मौ गुणा एत आत्मनः स्युश्चतुर्दश।
संख्यादिपञ्चकं कालदिशोः शब्दश्च ते च खे॥
संख्यादयः पञ्च बुद्धिरिच्छा यत्नोऽपि चेश्वरे।
परापरत्वे संख्याद्याः पञ्च वेगश्च मानसे॥
भाषापरिच्छेद, ३०–३४

१. बुद्ध्यादिषट्कं स्पर्शान्ताः स्नेहः सांसिद्धिको द्रवः॥
अदृष्टभावना शब्दा अमी वैशेषिका गुणाः।
संख्यादिरपरत्वान्तो द्रवोऽसांसिद्धिकस्तथा॥
गुरुत्ववेगौ सामान्यगुणा एते प्रकीर्तिताः।
उपरिवत्, ९०–९२।

२. संख्यादिरपरत्वान्तो द्रवत्वं स्नेह एव च।
एते तु द्वीन्द्रियग्राह्या अथ स्पर्शान्तशब्दकाः॥
बाह्यैकेन्द्रियग्राह्या गुणत्वादृष्टभावना
अतीन्द्रियाः.....। उपरिवत्, ९२–९४।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(त. दी.) कर्म विभजते—उत्क्षेपणेति। संयोगभिन्नत्वे सति संयोगासमवायिकारणं कर्म, कर्मत्वजातिमद्वा ॥ ननु भ्रमणादेरप्यतिरिक्तस्य कर्मणः सत्त्वात् पञ्चेत्यनुपपन्नमिति चेत्,—न; भ्रमणादीनामपि गमनेऽन्तर्भावान्न पञ्चविधत्व-विरोधः ॥

कर्म—

यहाँ कर्मों का विभाजन सर्वथा कणाद के सूत्रानुकूल हुआ है।[1] दीपिका में गुण की तरह कर्म की भी दो परिभाषाएं दी हैं जिनमें वस्तुतः प्रथम—संयोगभिन्नत्वे सति संयोगासमवायिकारणं कर्म—अधिक उपयुक्त है। कर्म संयोग का असमवायी कारण है परन्तु स्वयं संयोग नहीं है। असमवायी कारण की व्याख्या हम बाद में करेंगे। यहां केवल यह कहना पर्याप्त है कि केवल कर्म और कुछ गुण ही द्रव्य या गुणों का असमवायी कारण हो सकते हैं। उदाहरणतः यदि हाथ से पुस्तक को छुएं तो हाथ की गति, हाथ और पुस्तक के संयोग का कारण होगी। किन्तु साथ ही कभी-कभी एक संयोग ही दूसरे संयोग का असमवायी कारण होता है, उदाहरणतः हाथ से पुस्तक छूते समय हाथ और पुस्तक का संयोग शरीर और पुस्तक के संयोग का कारण है। अतः परिभाषा में यह कहा गया है कि संयोग का कारण होने पर भी कर्म स्वयं संयोग नहीं होता।

कणाद के सूत्रों में कर्म की परिभाषा अधिक विस्तृत है—एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षं कारणमिति कर्मलक्षणम्।[2] किन्तु इस व्याख्या में कोई नई बात नहीं कही गई केवल यही कहा गया है कि कर्म एक द्रव्य में रहने वाला है किन्तु गुण से भिन्न संयोग विभाग का अनपेक्ष अर्थात् तात्कालिक कारण है। एक द्रव्य कहने का अभिप्राय यह है कि संयोग इत्यादि का निराकरण हो जाए। अनपेक्ष कारण समवायी कारण का ही लगभग दूसरा नाम है। वैशेषिक सूत्र के भाष्य में शंकरमिश्र ने कर्म की और भी अनेक परिभाषाएं दी हैं जिनमें एक उल्लेखनीय है—नित्यावृत्तिसत्तासाक्षाद्व्याप्यजातिमत्वम्।[3] अभिप्राय यह है कि कर्मत्व जाति कर्म में रहती है जो कभी स्थायी नहीं

---

१. उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि—वैशेषिकदर्शन। १. १. ६.

२. उपरिवत्, १. १. १७.

३. उपस्कारभाष्य, वैशेषिकदर्शन, १. १. १७.

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

होता । सत्ता, द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में रहती है किन्तु द्रव्य और गुण तो कभी कभी नित्य होते हैं जबकि कम सदा अनित्य होता है ।

कर्म का पाँच भागों में विभाजन पर्याप्त वैज्ञानिक है—भ्रमण, रेचन, स्पन्दन, ऊर्ध्व उज्ज्वलन, तिर्यग्गमन इत्यादि गमन में ही आ जाएंगे । यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार तो उत्क्षेपण आदि भी गमन में ही आ जाएंगें। किन्तु नीलकण्ठ ने यह कहकर इसका समाधान किया है कि ऋषि स्वतन्त्र इच्छा वाले हैं और उनके मत में नियोग पर्यनुयोग अर्थात् प्रश्नोत्तर नहीं हो सकता, अतः यही विभाजन ठीक है । किन्तु इस विभाजन में भी एक वैज्ञानिक आधार है । गति तीन प्रकार की हो सकती है ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर या वक्र । वक्र गति भी दो प्रकार की है—दूरगामी और निकट लाने वाली । और यही चार गतियां यहां दी गई हैं । शेष प्रकार की गतियां गमन में ही अन्तर्भूत हो जाती हैं । अतः कर्म का विभाजन करते समय यादृच्छिक विभाजन नहीं किया गया, प्रत्युत इसका एक वैज्ञानिक आधार मन में रखा गया है ।

परमपरं चेति द्विविधं सामान्यम् ॥

पर और अपर—दो प्रकार का सामान्य है ।

(त. दी.) सामान्यं विभजते—परमिति । परमधिकदेशवृत्ति । अपरं न्यूनदेशवृत्ति । सामान्यादिचतुष्टये जातिर्नास्ति ॥

परमपरञ्चेति—आगे चलकर अन्नम्भट्ट सामान्य की परिभाषा यह देते हैं—नित्यमेकमनेकानुगतम् । उनके अनुसार सामान्य द्रव्य गुण और कर्म तीन में रहता है । इसकी तीन विशेषतायें हैं—१. यह नित्य है, २. यह एक है, ३. यह अनेकों में रहता है । यद्यपि संयोग और द्वित्व आदि अनेक में रहते हैं, किन्तु नित्य नहीं हैं । अणु नित्य भी है और अनेकों में भी रहता है किन्तु एक नहीं है । अत्यन्ताभाव नित्य भी है, एक भी है और अनेक में भी रहता है किन्तु वह अनुगत नहीं है । अनुगतम् का अर्थ है 'समवेतम्' और इसीलिये अत्यन्ताभाव समवेत न होने के कारण सामान्य नहीं है । सामान्य की कुछ और भी परिभाषाएं दी गई हैं जैसे 'नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वम्' तथा 'नित्यत्वे

---

१. न चोत्क्षेपणादीनां गमनेऽन्तर्भावोऽस्विति शङ्कनीयम् । स्वतन्त्रेच्छस्य नियोग-पर्यनुयोगानर्हस्य ऋषेः सम्मतत्वादिति भावः ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सति स्वाश्रयान्योन्याभावसमानाधिकरणम्' इन सभी परिभाषाओं की अपेक्षा दीपिका की परिभाषा ही ठीक है। किन्तु इससे इतना सिद्ध अवश्य होता है कि सभी परवर्ती नैयायिक सामान्य को मानते हैं। कणाद ने सामान्य और विशेष की परिभाषा बुद्धिसापेक्ष बतलाई है—सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्[1]। अर्थात् वही गुण यदि एक व्यक्ति में रहने वाले गुण की दृष्टि से देखा जाय तो विशेष है। उदाहरणतः यदि मैं एक गज देखूं किन्तु अन्य गजों की सत्ता से परिचित न होऊं तो गज मेरे लिये विशेष ही रहेगा सामान्य नहीं होगा। इसी प्रकार यदि घटत्व सब घटों में रहने वाला माना जाय, तो सामान्य है, किन्तु यदि इसे पटादि अन्य वस्तुओं से पृथक् करने वाला मानें तो विशेष है। मूलतः तो सामान्य और विशेष का विवेचन सापेक्ष ही रहा होगा किन्तु बाद में इसकी निरपेक्ष स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार कर ली गई।

सामान्य के भेद—

बाद में सामान्य को जाति मानकर एक पृथक् रूप दे दिया गया। सामान्य के दो रूप—पर और अपर—माने गये हैं और उदाहरण के रूप में क्रमशः सत्ता और द्रव्यत्व को दिया गया है। किन्तु यह पर और अपर सापेक्ष हैं। सत्ता की अपेक्षा द्रव्यत्व अपर है पर घटत्व की अपेक्षा द्रव्यत्व पर है। कुछ ने सामान्य के तीन भेद माने हैं। उदाहरणतः तर्कामृत में व्यापक व्याप्य और व्याप्यव्यापक ये तीन प्रकार के सामान्य माने हैं। सत्ता व्यापक है, घटत्व व्याप्य, और द्रव्यत्व व्याप्य-व्यापक। इस प्रकार पर और अपर का विभाजन जो सापेक्ष है, तर्कामृत में निरपेक्ष रूप से तीन भागों में बांट दिया गया।[2] वाक्यविवृत्ति टीका में

---

१. वैशेषिकदर्शन, १. २. ३.

२. वस्तुतः यह विवेक अथल्ये और बोडास ने किया है। किन्तु यहां उन्हें कुछ भ्रान्ति हो गयी प्रतीत होती है। पर, अपर रूप में सामान्य का विभाजन स्वीकार करने वाला वर्ग भी परापर नामक एक तृतीय प्रकार स्वीकार करता है जो कि तर्कामृत के व्याप्यव्यापक नामक प्रकार का समानान्तर है। तुलनीय भाषापरिच्छेद, ८–९.।

सामान्य द्विविधं प्रोक्तं परञ्चापरमेव च।
द्रव्यादिकत्रिकवृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते॥
परभिन्ना तु या जातिः सैवापरतयोच्यते।
द्रव्यादिकजातिस्तु परापरतयोच्यते॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

'परमपरञ्चेति' यहाँ आने वाले इति शब्द की व्याख्या इस प्रकार दी गई है—अत्रेतिशब्दस्य स्वसमभिव्याहृत-पदार्थतावच्छेदक-परत्वापरत्वरूप-द्विप्रकारवत्सामान्यमिति वाक्यार्थः ।

जाति और उपाधि—

सामान्य के दो भाग किये जाते हैं—अखड और सखंड । अखंड जाति है सखंड उपाधि । पहला साक्षात् रूप से सम्बद्ध सामान्य है, दूसरा परम्परया सम्बद्ध सामान्य[1] । द्रव्यत्व कर्मत्व प्रथम के उदाहरण हैं, प्रमेयत्व और दण्डित्व दूसरे के हैं । अभिप्राय यह है कि द्रव्यत्व द्रव्य से सीधा सम्बद्ध है, किन्तु दण्डी का दण्डित्व से सम्बन्ध दण्ड के माध्यम से ही है; यदि दण्डसंयोग हट जाये तो दण्डित्वधर्म भी हट जायेगा । अतः यह परम्परया सम्बन्ध है, द्रव्य और द्रव्यत्व के बीच कोई ऐसा माध्यम नहीं है ।[2] प्रत्येक सामान्य गुण जाति नहीं होता यद्यपि बहुत से व्यक्ति अन्धे, लंगड़े या काले हो सकते हैं ये जाति नहीं कहलाएंगे । उदयनाचार्य ने निम्नकारिका में छः कारण दिये हैं जिनके कारण एक सामान्य गुण भी जाति नहीं बन सकता—

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः ।
रूपहानिरसंबन्धो जातिबाधकसंग्रहः ॥

१. जो पदार्थ एक ही हो, वह जाति नहीं बनाता जैसे आकाशत्व जाति नहीं है । २. जो पदार्थ एक ही हों उनकी पृथक् पृथक् जाति नहीं होती जैसे घटत्व और कलशत्व पृथक्-पृथक् जाति नहीं हो सकती । ३. जिन गुणों में परस्पर सकर हो वे जाति नहीं बनाते जैसे भूतत्व और मूर्तत्व । आकाश भूत है और मूर्त नहीं है और मनस् मूर्त है पर भूत नहीं है, जबकि आकाश के अतिरिक्त शेष चारों तत्त्व भूत भी हैं और मूर्त भी । ४. स्वयं जाति की जाति नहीं होती । अन्यथा अनवस्था दोष आ जाएगा । ५. विशेष की विशेषत्व जाति नहीं होती । क्योंकि विशेष का स्वरूप ही ऐसा है कि वह जाति के

---

१. साक्षात्सम्बद्धमखण्डसामान्यं जातिः, परम्परया सम्बद्धं सखण्डसामान्य-मुपाधिः । तर्ककिरणावली, पृ. २२.

२. किरणावली, पृ. १६१.

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

विरुद्ध है । ६. जो परस्पर असम्बद्ध हों उनकी जाति नहीं हो सकती। जैसे समवायत्व ।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाएगा कि अन्नम्भट्ट ने द्रव्य, गुण और कर्म की जाति मानी है अन्तिम चार पदार्थों की नहीं। द्रव्य में भी कुछ ऐसे द्रव्य हैं– जैसे आकाश या काल–जिनकी जाति नहीं हो सकती। फलतः उपाधि वह गुण है जो अनेक व्यक्तियों में रहता हो जबकि जाति एक विशेष प्रकार की उपाधि है जो ऊपर दी गई शर्तें पूरी होने पर ही हो सकती है। उदाहरणतः यदि सौ व्यक्तियों का हम उनकी राष्ट्रीयता, भाषा, और शिक्षा के अनुसार वर्गीकरण करें तो एक ही व्यक्ति भाषा की दृष्टि से एक वर्ग में, वर्ण की दृष्टि से दूसरे वर्ग में, और राष्ट्रीयता की दृष्टि से अन्य वर्ग में आएगा, अतः यह वर्गीकरण नहीं बन सकता। मनुष्य एक जाति अवश्य है क्योंकि वह आकृतिग्राह्य है किंतु काला एक जाति नहीं है क्योंकि उसमें मनुष्य के अतिरिक्त काले पशुओं को भी लेना पड़ेगा। इस प्रकार भारतीय न्यायशास्त्र में जाति और उपाधि का यह सूक्ष्म भेद दिया गया है और यह उसकी एक विशेष देन है।

नित्यद्रव्यवृत्तयो विशेषास्त्वनन्ता एव ॥

नित्य द्रव्यों में रहने वाले विशेष तो अनन्त ही हैं ॥

(त. दी.) विशेषं विभजते—नित्येति। पृथिव्यादिचतुष्टयस्य परमाणव आकाशादिपञ्चकञ्च नित्यद्रव्याणि ॥

कणाद विशेष को अन्त में रहने के कारण अन्त्य कहते हैं। अन्त्य का अर्थ है कि वह अवसान में रहने वाला है। आगे चलकर अन्नम्भट्ट बतलाएंगे कि विशेष वह है जो नित्य पदार्थों में रहता है और उन्हें एक दूसरे से पृथक् करता है। ये विशेष अनन्त हैं क्योंकि प्रत्येक नित्य पदार्थ के अपने-अपने पृथक्-पृथक् हैं। विशेष की दूसरी परिभाषा है–स्वतो व्यावर्तकत्वम्। अर्थात् जो स्व से स्व को पृथक् करे। विशेष सजातीय परमाणुओं में परस्पर भेदसिद्धि के लिये माना जाता है। पृथ्वी, जल, तेज, और वायु के परमाणुओं में और आकाश, काल, दिग्, आत्मा और मन में विशेष रहता है। विशेष की कुछ अन्य परिभाषाएं हैं– जातिरहितत्वे सति नित्यद्रव्यमात्रवृत्तिः, एकमात्रसमवेतत्वे सति सामान्यशून्यः, तथा अत्यन्तव्यावृत्तिः। इन सभी परिभाषाओं का एक ही तात्पर्यार्थ है कि एक नित्य पदार्थ को

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

दूसरे नित्य पदार्थ से पृथक् करने के लिए विशेष को भी पदार्थ मानना आवश्यक है। सिद्धान्तचन्द्रोदय में विशेष की आवश्यकता इन शब्दों में बतलाई गई है—घटादीनां कपालसमवेतत्वादिकं पटादिभेदकमस्ति परमाणूनां तु परस्परभेदकं न किञ्चिदस्त्यतो नायत्या विशेष आश्रयितव्यः। घट पट से इसलिए पृथक् है कि घट के अवयव पट के अवयव से भिन्न हैं। और इस प्रकार अवयव का भेद होने से अवयवी का भी भेद मान लें तो अन्ततोगत्वा हमें परमाणु आकर रुकना पड़ेगा क्योंकि परमाणु का तो कोई अवयव होता नहीं। फिर एक परमाणु को दूसरे परमाणु से कैसे पृथक् किया जाए? अतः इस समस्या का समाधान करने के लिए परमाणु में विशेष की सत्ता मानने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है।

विशेष पदार्थ की सत्ता का यह सिद्धान्त वैशेषिकदर्शन का इतना महत्त्वपूर्ण अंग है कि इसके आधार पर इस दर्शन का नाम ही वैशेषिक दर्शन पड़ गया यद्यपि कणाद ने इस पर इतना अधिक बल कहीं नहीं दिया। केवल एक सूत्र—अन्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्यः[1]—में इसका उल्लेख किया है। उन्होंने यह बतलाया है कि यह विशेष पदार्थों के परमाणुओं में रहता है। इसी स्थल पर प्रशस्तपाद ने विशेष के सिद्धान्त का ऊहापोहपूर्वक प्रतिपादन किया जिसका बहुत से नव्यनैयायिकों ने खण्डन भी किया, यद्यपि वे नव्यनैयायिक अन्यथा वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तों को मानते हैं। उनका यह कहना है कि यदि एक परमाणु को दूसरे परमाणु से पृथक् मानने के लिये विशेष की आवश्यकता है तो एक विशेष को दूसरे विशेष से पृथक् मानने के लिये भी एक पदार्थ की आवश्यकता पड़ेगी। यदि यह कहा जाए कि स्वयं विशेषों में ही एक ऐसी शक्ति है कि वे एक दूसरे से पृथक् हो जाते हैं, तो यह शक्ति परमाणुओं में ही क्यों न मान ली जाए; यदि ऐसी शक्ति माननी ही है तो विशेष की अतिरिक्त सत्ता मानने की कोई आवश्यकता नहीं। किन्तु इस आक्षेप का प्रशस्तपाद ने पहले ही अपने भाष्य में उत्तर देने का प्रयत्न किया है यद्यपि वह उत्तर बहुत सन्तोषजनक नहीं है। प्रशस्तपाद के भाष्य से इस सम्बन्ध में प्रस्तुत प्रसंग उद्धृत किया जाता है—अथान्त्यविशेषेष्विव परमाणुषु कस्मान्न स्वतः प्रत्ययव्यावृत्तिः प्रत्यभिज्ञानं वा कल्प्यत इति चेन्न तादात्म्यात्। इह तादात्म्यनिमित्तप्रत्ययो

---

१. वैशेषिकदर्शन, १. २. ६.

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भवति यथा घटादिषु प्रदीपात् । न तु प्रदीपे प्रदीपात् । यथा च श्वमांसादीनां स्वत एवाशुचित्वं तद्योगादन्येषां तथेहापि तादात्म्यादन्त्यविशेषेषु स्वत एव प्रत्ययव्यावृत्तिस्तद्योगात्परमाण्वादिष्विति ।[1] इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि विशेष का सिद्धान्त नव्यनैयायिक, भाट्ट और प्राभाकर मीमांसक स्वीकार नहीं करते और न वेदान्ती ही उसे मानते हैं।

समवायस्त्वेक एव ॥

समवाय तो एक ही है

(त. दी.) समवायस्य भेदो नास्तीत्याह—समवायस्त्विति ॥

समवाय का शब्दार्थ है घनिष्ठ सम्बन्ध या दो वस्तुओं का परस्पर एक दूसरे के निकट आना। यह ऐसे घनिष्ठ सम्बन्ध को बतलाता है जो उन दो वस्तुओं में रहता है जिनका सम्बन्ध बिना उन्हें नष्ट किये नहीं नष्ट किया जा सकता। आगे चलकर अन्नम्भट्ट समवाय की परिभाषा देते हुए यह बतलाएंगे कि समवाय उन दो पदार्थों में, जो सदा अविभक्त रहते हैं, रहने वाला नित्य सम्बन्ध है। यहां समवाय को नित्य सम्बन्ध कहा गया है क्योंकि संयोग एक गुण है और अनित्य है। अयुतसिद्ध उन पदार्थों को बतलाता है जो एक दूसरे पर अवलम्बित रहते हैं जैसे घट और कपाल या गुण और गुणी। अयुतसिद्ध का विपरीतार्थक है युतसिद्ध अर्थात् जो परस्पर मिले हुए हैं या एक दूसरे से पृथक् हैं। यु धातु के दोनों अर्थ हैं जोड़ना और पृथक् करना। किन्तु इससे युतसिद्ध शब्द के अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता। यदि युतसिद्ध का अर्थ यह लें कि जोड़ दिये गये हैं तो भी यही अर्थ निकलेगा कि वे कभी पृथक्-पृथक् थे और यदि युत शब्द का यह अर्थ लें कि जो पृथक् हैं तो भी यही अर्थ निकलेगा कि किसी अवस्था में ये पृथक् थे। इसके विपरीत अयुतसिद्ध वे पदार्थ हैं जो किसी भी अवस्था में पृथक्-पृथक् नहीं थे। घट के दो कपाल कभी पृथक्-पृथक् थे, और अब भी पृथक्-पृथक् किये जा सकते हैं, अतः उनका सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध है। किन्तु घट उन कपालों से पृथक् न कभी था और न कभी हो सकता है। अतः घट और कपाल का सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध है।

---

१. प्रशस्तपाद भाष्य, पृ. ७७०-७७१.

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अयुतसिद्ध सम्बन्ध पांच प्रकार से सम्भव है। १. अवयव और अवयवी में २. गुण और गुणी में, ३. क्रिया और क्रियावान् में, ४. जाति और व्यक्ति में, ५. विशेष और उसके अधिकरण नित्य द्रव्य में। कणाद ने समवाय की जो परिभाषा दी है वह अधिक सरल और कम विस्तृत है—इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि परवर्ती आचार्यों ने इस प्रारम्भिक परिभाषा को पल्लवित पुष्पित किया।

अन्नम्भट्ट ने यहां समवाय को केवल एक ही बतलाया है और ऐसा बलपूर्वक कहा है—समवायस्त्वेक एव। ऐसा अन्नम्भट्ट ने जानबूझ कर किया है क्योंकि प्राभाकर मीमांसक और नव्यनैयायिकों में कुछ लोग ऐसा नहीं मानते। नव्यनैयायिकों में कुछ लोग समवाय को नित्य भी नहीं मानते। समवाय का नित्यत्व यह कहकर सिद्ध किया जाता है कि भावकार्य केवल उपादान कारण में ही समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं। यदि ऐसा मानें तो समवाय भी उत्पन्न होने के लिए एक अन्य समवाय की अपेक्षा रखेगा और इस प्रकार अनवस्था दोष आ जाएगा। अतः समवाय को अनुत्पाद्य अर्थात् नित्य मानना चाहिए। हां, यह नित्यत्व परमाणु के नित्यत्व की भाँति एकांत नहीं प्रत्युत आपेक्षिक है। समवाय के नित्य होने का यह अर्थ है कार्य को उत्पन्न किये बिना न इसे उत्पन्न किया जा सकता है और कार्य को नष्ट किये बिना इसे नष्ट भी नहीं किया जा सकता। यहां नैयायिकों और वैशेषिकों में, जिन्हें सिद्धान्तचन्द्रोदयकार प्राचीन और नव्य के नाम से पुकारते हैं, मत-भेद है। नैयायिकों का कहना है कि समवाय प्रत्यक्ष है, अतः उसके लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं किन्तु वैशेषिक, जिनमें अन्नम्भट्ट भी सम्मिलित हैं, समवाय को प्रत्यक्ष नहीं मानते। वे इसका यह कारण देते हैं कि कभी-कभी जिन दो पदार्थों में समवाय होता है, उनमें से एक परोक्ष होता है। उदाहरणतः आकाश शब्द का समवाय कारण है और स्वयं प्रत्यक्ष नहीं है। अतः समवाय प्रत्यक्ष नहीं है। प्रत्युत अनुमेय है। अन्नम्भट्ट आगे चलकर अपनी टीका में इसका विवेचन करते हैं।

न्याय दर्शन में समवाय का बहुत अधिक महत्त्व है। उनका सारा कार्यकारण सिद्धान्त इसी पर आधारित है और यही सिद्धान्त उन्हें वस्तुवादी बनाता है। वेदांत के मायावाद के विरोध में नैयायिकों का विशेष मत वस्तु-वाद ही है। अतः सांख्य और वेदान्त में इस सिद्धान्त का विस्तारपूर्वक खण्डन

---

१. वैशेषिक दर्शन, ७. २, २६.

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

किया गया है। भाट्ट मीमांसक भी समवाय का खंडन करने में वेदान्तियों का साथ देते हैं। नैयायिकों का परमाणुवाद भी समवाय के सिद्धान्त पर आधारित है। ब्रह्मसूत्र की टीका में शङ्कराचार्य ने[1] समवाय सिद्धान्त का खण्डन किया है। उनका कहना है कि जब समवाय दो भिन्न पदार्थों का सम्बन्ध है, तो यह संयोग ही हुआ। यदि संयोगी द्रव्यों में संयोग समवाय सम्बन्ध से रहता है, तो समवायी द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से रहेगा और इस प्रकार अनवस्था दोष आ जाएगा। नैयायिकों का कहना है कि समवाय गुण नहीं है प्रत्युत पदार्थ है और समवाय समवायियों में समवाय सम्बन्ध से नहीं रहता, प्रत्युत तादात्म्य सम्बन्ध से रहता है। वेदान्तियों का कहना है कि यदि ऐसा है तो संयोग और संयोगी में भी तादात्म्य सम्बन्ध क्यों न मान लिया जाये। संयोग गुण है और समवाय पदार्थ है ऐसा कहना सर्वथा आधाररहित है। यह कहना भी गलत है कि समवाय नित्य होने के कारण संयोग से पथक् है क्योंकि कोई-कोई संयोग भी नित्य होते हैं, उदाहरणतः परमाणु का काल या आकाश से संयोग नित्य है जबकि समवाय वस्तुतः नित्य नहीं है क्योंकि कार्य के नष्ट हो जाने पर वह भी नष्ट हो जाता है। मूल प्रश्न यह है कि यदि समवाय का कार्य और कारण से तादात्म्य मानें तो या कार्य का ही कारण से तादात्म्य मानना अधिक सरल नहीं रहेगा? इसमें लाघव है। अतः वेदान्त और सांख्य कार्य और कारण में समवाय सम्बन्ध नहीं मानते प्रत्युत तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं। शङ्कराचार्य ने अयुतसिद्ध सिद्धान्त का भी जमकर खण्डन किया है। उनका कहना है कि यह कहना कि कार्य और कारण अयुतसिद्ध हैं, इस सिद्धान्त के विरुद्ध जाएगा कि कारण कार्य में ही रहता है। वस्तुतः कारण और कार्य एक ही हैं, समवाय सम्बन्ध द्वारा सम्बद्ध दो भिन्न पदार्थ नहीं। अतः नैयायिकों का वस्तुवादी दृष्टिकोण कल्पना पर आधारित है। यह विवाद भारतीय दर्शन के प्रौढ़ ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक चलता है। किन्तु यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि नैयायिकों के कार्यकारण सिद्धान्त का मूल आधार समवाय का सिद्धान्त है।

अभावश्चतुर्विधः—प्रागभावः प्रध्वंसाभावोऽत्यन्ताभावोऽन्योन्याभावश्चेति ॥

अभाव चार प्रकार का है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव

---

१. शङ्करभाष्य, ब्रह्मसूत्र, २. २. १७.

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(त. दी) अभावं विभजते—अभावेति ।

अभाव—

यहां अभाव के चार भेद बतलाये गये हैं। प्रागभाव वस्तु की उत्पत्ति से पूर्व रहने वाला अभाव है। प्रध्वंसाभाव वस्तु के नष्ट हो जाने पर होने वाला अभाव है। अत्यन्ताभाव वस्तु का आत्यन्तिक अभाव है, और अन्योन्याभाव पारस्परिक अभाव। कई ग्रन्थों में इन चार अभावों को दो मूल भागों में विभाजित कर दिया है। संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव। संसर्गाभाव के तीन रूप हैं। जब हम कहते हैं--इह भूतले घटो नास्ति—उस समय हम भूतल से घट के संसर्ग का अभाव बतलाते हैं। इसी प्रकार प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव भी अधिकरण में पदार्थ का अभाव बतलाते हैं। जबकि अन्योन्याभाव दो पदार्थों का पारस्परिक अभाव बतलाता है। वस्तुतः अन्योन्याभाव दो संसर्गाभावों को मिलाकर बनता है—घटः पटो नास्ति इसके दो अर्थ हैं--घटे पटत्वं नास्ति और पटे घटत्वं नास्ति। अन्योन्याभाव में दोनों पदार्थ समानाधिकरण होते हैं और प्रथमा में रखे जाते हैं जबकि संसर्गाभाव में एक अधिकरण होता है, एक आधेय।

लक्षण—

अभाव का एक लक्षण है भावभिन्न। सिद्धान्तचन्द्रोदय में अभाव का लक्षण दिया है—प्रतियोगिज्ञानाधीनविषयत्वम्। सिद्धान्तमुक्तावली में अभाव का लक्षण दिया है—द्रव्यादिषट्कान्योन्याभावत्वम्[1]। प्रथम लक्षण का यह अभिप्राय है कि अभाव वह है जिसका ज्ञान उसके प्रतियोगी अर्थात् विरोधी पदार्थ के ज्ञान पर आधारित हो और दूसरी परिभाषा का यह अर्थ है--छः द्रव्यों का पारस्परिक निषेध अर्थात् जो छहों द्रव्यों से पृथक् है। किन्तु इस दूसरी परिभाषा में यह दोष है कि यहां अन्योन्याभाव शब्द आ गया है जो कि स्वयं अभाव का ही एक भेद है। सर्वदर्शनसंग्रह में अभाव का यह लक्षण दिया है—असमवायत्वे सत्यसमवायित्वम्[2] अर्थात् न अभाव स्वयं समवाय सम्बन्ध से कहीं रहता है, न अभाव में कोई समवाय सम्बन्ध से रहता है। नैयायिकों का कहना है कि अभाव प्रत्यक्षगम्य है और विशेषणता सम्बन्ध से अधिकरण

---

१. भाषापरिच्छेद, सिद्धान्तमुक्तावली, पृ० ३३

२. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ १०९

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

से सम्बद्ध रहता है। अर्थात् जब हम कहते हैं—घटाभाववद्भूतलम्–तो हमारा यह अभिप्राय होता है कि भूतल घटाभाव विशिष्ट है। इस प्रकार नैयायिकों ने अभाव की कल्पना करके व्यावहारिक उपयोग के लिये एक सुविधा बना ली। वस्तुस्थिति यह है कि अभाव की गणना पदार्थ में हो ही नहीं सकती। क्योंकि अभाव शेष छः पदार्थों का सर्वथा विरोधी है। हां अभाव को इस शाब्दिक अर्थ में पदार्थ अवश्य माना जा सकता है कि वह 'अभाव' पद का अर्थ है। किन्तु इसकी कोई वास्तविक स्थिति नहीं है। और इसके भेद भी केवल भाषा की सुविधा के लिए हैं। वे आरोपित हैं, वास्तविक नहीं। उदाहरणतः घटाभाव और पटाभाव में कोई वास्तविक भेद नहीं है। यह कहना कि जहाँ पट हो वहाँ भी घटाभाव रहता है और जहाँ घट हो वहाँ भी पटाभाव रहता है, अतः घटाभाव और पटाभाव परस्पर भिन्न हैं, ठीक नहीं होगा। क्योंकि वास्तविक भेद घट और पट में है जिसका आरोप हम घटाभाव और पटाभाव में कर रहे हैं। अभिप्राय यह है कि अभाव भूतल का कोई विशेषण नहीं हो सकता। जैसा कि वेदान्तियों का कहना है, अभाव पदार्थ नहीं है केवल कैवल्य रूप है। अर्थात् यह भूतल को केवल भूतल के रूप में बतलाता है। इससे अधिक कुछ नहीं।

कणाद ने अपने सूत्रों में अभाव को गिनवाया भी नहीं है। किन्तु टीकाकारों ने कणाद के अन्य सूत्रों में जैसे—कारणाभावात् कार्याभावः[1] और असति क्रियागुणव्यपदेशाभावादर्थान्तरम्[2]–में अभाव शब्द को देखकर अभाव को एक पृथक् पदार्थ मान लिया। उदयनाचार्य ने किरणावलि में अभाव को सूत्र में न गिनने का यह कारण दिया है—एते च पदार्थाः प्रधानतयोद्दिष्टा अभावस्तु स्वरूपवानपि नोद्दिष्टः प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वात् न तुच्छत्वात्[3]। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि अभाव की स्वतन्त्र सत्ता है। इतना निश्चित है कि चाहे तात्त्विक दृष्टि से अभाव की सत्ता न हो किन्तु व्यवहार के लिए इसकी सत्ता मान कर चलने से तार्किक पद्धति में बहुत सुविधा हो जाती है। अभाव, प्रतियोगी और अनुयोगी कुछ ऐसे ही शब्द हैं जिनकी वास्तविक सत्ता

---

१. वैशेषिकदर्शन, १. २. १.
२. उपरिवत्, ९. १. ३.
३. वोडास और अथल्ये, तर्कसंग्रह, पृ १०२ पर उद्धृत

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

चाहे नहीं है, किन्तु जिनका प्रयोग भारत के सभी दार्शनिकों ने किया है और इससे उन्हें बहुत सुविधा भी हुई है।

गन्धवती पृथिवी। सा द्विविधा—नित्यानित्या च। नित्या परमाणुरूपा। अनित्या कार्यरूपा। पुनस्त्रिविधा—शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरमस्मदादीनाम्। इन्द्रियं गन्धग्राहकं घ्राणं नासाग्रवर्ति। विषयो मृत्पाषाणादिः॥

गन्धवती (जिसमें गन्ध समवाय सम्बन्ध से हो) पृथ्वी है। वह दो प्रकार की है—नित्य और अनित्य। नित्य परमाणुरूप है। अनित्य कार्य (घटादि) रूप। फिर वह (?)[1] तीन प्रकार की है—शरीर, इन्द्रिय और विषय। शरीर हमारा (पार्थिव प्राणियों का) है। इन्द्रिय गन्ध को ग्रहण करने वाली घ्राणेन्द्रिय है जो नासिका के अग्रभाग में स्थित है। विषय मिट्टी पत्थर आदि हैं।

(त. दी.) तत्रोद्देशादिक्रमानुसारात्पृथिव्या लक्षणमाह—गन्धवतीति। नाम्ना पदार्थसंकीर्तनमुद्देशः। उद्देशक्रमे च सर्वत्रेच्छैव नियामिका। ननु सुरभ्यसुरभ्यवयवारब्धे द्रव्ये परस्परविरोधेन गन्धानुत्पादादव्याप्तिः। न च तत्र गन्धप्रतीत्यनुपपत्तिरिति वाच्यम्; अवयवगन्धस्यैव तत्र प्रतीतिसंभवेन चित्रगन्धानङ्गीकारात्॥ किञ्चोत्पन्नविनष्टघटादावव्याप्तिरिति चेत्, न; गन्धसमानाधिकरणद्रव्यत्वापरजातिमत्त्वस्यैव विवक्षितत्वात्। ननु जलादावपि गन्धप्रतीतेरतिव्याप्तिरिति चेत्,—न; अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पृथिवीगन्धस्यैव तत्र भानाङ्गीकारात्। ननु तथापि कालस्य सर्वाधारतया सर्वेषां लक्षणानां कालेऽतिव्याप्तिरिति चेत्—न; सर्वाधारताप्रयोजकसंबन्धभिन्नासंबन्धेन लक्षणस्याभिमतत्वात्॥

पृथिवीं विभजते—सा द्विविधेति। नित्यत्वं ध्वंसाप्रतियोगित्वम्। ध्वंसप्रतियोगित्वमनित्यत्वम्॥ प्रकारान्तरेण विभजते—पुनरिति। आत्मनो भोगायतनं शरीरम्। यदवच्छिन्नात्मनि भोगो जायते तद्भोगायतनम्। सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारो भोगः॥ शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयत्वमिन्द्रियत्वम्। शरीरेन्द्रियभिन्नो विषयः। एवञ्च गन्धवच्छरीरं पार्थिवशरीरम्, गन्धवदिन्द्रियं पार्थिवेन्द्रियम्, गन्धवान्विषयः पार्थिवविषय

---

१. यहाँ अर्थ में मतभेद है। हिन्दी व्याख्या देखिये पृ० २६-२७।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इति तत्तल्लक्षणं बोध्यम् ॥ पार्थिवशरीरं दर्शयति—शरीरमिति। पार्थिवेन्द्रियं दर्शयति—इन्द्रियमिति । गन्धग्राहकमिति प्रयोजनकथनम् । घ्राणमिति संज्ञा । नासाग्रेत्याश्रयोक्तिः । एवमत्तरत्रापि ज्ञेयम् । पार्थिवविषयं दर्शयति—विषयेति ॥

पृथ्वी

यहां पृथ्वी का लक्षण गन्धवती किया है जिसका अर्थ है गन्धसमवायिकारणम् । यहां 'वत्' का अर्थ है—समवाय, अन्यथा तो काल और दिक् भी कालिक और देशिक सम्बन्ध से गन्ध के साथ सम्बद्ध रहते हैं; अतः अतिव्याप्ति दोष आ जाएगा। दीपिका में अन्य तीन आक्षेप भी उठाये गये हैं। पहला यदि एक पदार्थ में सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनों मिलकर उसे गन्धरहित कर दें तो उसमें यह लक्षण नहीं घटेगा । अतः वहां भी यह लक्षण घट जाए, इसके लिए यह आवश्यक है कि यहां 'वत्' का अर्थ या तो समवाय माना जाय, अथवा एक चित्रगन्ध की उपस्थिति मानी जाए । चित्रगन्ध की उपस्थिति यहां नहीं मानी जा सकती क्योंकि अलग-अलग भागों की अलग-अलग गन्ध प्रतीति में आती है अतः 'वत्' का अर्थ समवाय ही है । दूसरा आक्षेप वही है-जो द्रव्य को गुणवत् कहने में आता है, अर्थात् जैसे ही द्रव्य उत्पन्न होता है उस क्षण वह निर्गुण होता है और इसलिए उसमें गन्ध भी नहीं होगी । इसका समाधान यह कहकर किया गया है कि यहां गन्ध-समानाधिकरणद्रव्यत्वापर-जातिमत्त्व ही विवक्षित है । तीसरा आक्षेप यह है कि जल इत्यादि में भी गन्ध देखने में आती है किन्तु इसका उत्तर यह है कि वह गन्ध पार्थिव कणों के संयोग के कारण ही है । चौथा आक्षेप जो दीपिका ने नहीं दिया, और बोडास ने अपने टिप्पणों में दिया है, वह यह है कि पाषाण इत्यादि पार्थिव पदार्थ भी निर्गन्ध होते हैं । किन्तु इसका उत्तर यह है कि उनमें गन्ध अनुद्भूत होती है यद्यपि इसकी सत्ता वहां अवश्य होती है। काल के सर्वाधार होने के कारण पृथ्वी का लक्षण उसमें भी अतिव्याप्त हो जायेगा, यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि सर्वाधार होने के कारण होने वाला सम्बन्ध यहां या अन्य लक्षणों में अभिप्रेत नहीं है ।

पृथ्वी के गुण

यद्यपि यहां गन्ध को पृथ्वी का लक्षण माना है । किन्तु गन्ध पृथ्वी का एक मात्र गुण नहीं है । कणाद ने अपने सूत्रों में पृथ्वी के चार गुण

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

माने हैं—रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी,[1] और शंकर मिश्र ने इसके आधार पर पृथ्वी के चार वैकल्पिक लक्षण भी माने हैं[2]। इसके अतिरिक्त जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं, पृथ्वी में दस गुण और रहते हैं और इस प्रकार पृथ्वी में कुल १४ गुण हैं किन्तु लक्षण कोटि में असाधारण धर्म का ही निर्देश रहता है। पृथ्वी का असाधारण धर्म गन्धमात्र ही है। कुछ पुस्तकों में गन्धवती पृथ्वी से पूर्व 'तत्र' पाठ भी जाता है जिसका अर्थ नीलकण्ठ ने यह किया है—पृथिव्यादिषु (नवद्रव्येषु) मध्य इत्यर्थः।

नित्य और अनित्य पृथ्वी—

दीपिका में नित्य का अर्थ दिया है—ध्वंसाप्रतियोगित्वम् और अनित्य का अर्थ दिया है—ध्वंसप्रतियोगित्वम्। जो नष्ट न हो सके वह नित्य है और जो नष्ट हो सके वह अनित्य है। किन्तु इससे भी अधिक उपयुक्त परिभाषा वाक्यवृत्ति में दी है—नित्यत्वं प्रागभावाप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाप्रतियोगित्वम् तथा अनित्यत्वं प्रागभावप्रतियोगित्वध्वंसप्रतियोगित्वान्यतरत्वं बोध्यम्। दीपिका की परिभाषा में ध्वंस को भी नित्य मानना पड़ेगा क्योंकि इसका ध्वंस नहीं होता अतः वह ध्वंस का अप्रतियोगी है किन्तु नित्य नहीं क्योंकि उसकी उत्पत्ति होती है। वाक्यवृत्ति के लक्षण में प्रागभाव के अप्रतियोगी होने की शर्त लग जाने पर यह दोष नहीं होगा। किन्तु कुछ विद्वानों के मतानुसार ध्वंस नित्य है और उनके अनुसार दीपिका की परिभाषा ठीक है। नित्यत्व की एक दूसरी भी सरल परिभाषा दी जाती है—त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नत्वम्। अर्थात् जो तीनों कालों में रहे। कोई भी लक्षण मानें, कार्य सदा अनित्य ही रहेगा क्योंकि उत्पन्न होने से पहले उसका अभाव होता है। परमाणु नित्य हैं क्योंकि न वे उत्पन्न होते हैं न नष्ट। वैशेषिकों के मतानुसार परमाणुवाद की व्याख्या हम आगे चल कर करेंगे।

एक अन्य विभाजन—

पृथ्वी को शरीर, इन्द्रिय और विषय की दृष्टि से त्रिधा विभाजित किया जाता है। मनुष्य इत्यादि का शरीर पार्थिव शरीर है, नासिका या घ्राणेन्द्रिय इन्द्रिय है, जबकि पत्थर इत्यादि उसके विषय हैं। कणाद ने भी इन

---

१. वैशेषिक दर्शन, २.१.१.
२. तुलनीय अथल्ये और बोडास, तर्कसंग्रह, पृ. १०४

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तीन प्रकार की पृथ्वियों का वर्णन किया है[1]। किन्तु इस विषय में मतभेद है कि पृथ्वी का यह त्रिधा विभाजन कार्यरूपा पृथ्वी का है या सभी प्रकार की पृथ्वी का। यहाँ तर्कसंग्रह के पाठ पर भी इसका निर्णय निर्भर करता है, क्योंकि एक स्थान पर 'पुनस्त्रिविधा' से पहले 'सा' पाठ मिलता है और यदि इस पाठ को मानें तो यह विभाजन कार्यरूपा पृथ्वी का ही मानना होगा। यह पाठ कणाद के निम्न सूत्र के आधार पर भी युक्तिसंगत माना जा सकता है, क्योंकि इस सूत्र में कार्य पृथ्वी के ही ये तीन भेद मानें हैं—तत्पुनः पृथिव्यादि कार्यद्रव्यं त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषय-संज्ञकम्[1]। किन्तु यहां यदि "सा" पाठ न भी मानें तो भी पुनः शब्द के आधार पर यही अर्थ निकाला जा सकता है और सिद्धान्तचन्द्रोदय में वस्तुतः निकाला भी गया है। 'सा' शब्द के यहाँ पढ़ने के सम्बन्ध में सबसे बड़ी बाधा यह है कि दीपिका ने यहाँ टिप्पणी करते हुए लिखा है—प्रकारान्तरेण विभजते। अर्थात् यह विभाजन एक अन्य प्रकार से किया गया है, जिसका अर्थ यह है कि यह एक उपविभाजन नहीं है प्रत्युत प्रकारान्तर से किया जाने वाला एक स्वतंत्र विभाजन है। यह बात सिद्धान्तचन्द्रोदय के भी विरोध में जाती है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या अन्नम्भट्ट कणाद के सूत्रों के विरोध में जा सकते हैं? जैसाकि हमने ऊपर लिखा कणाद के सूत्रों में ये तीन विभाजन कार्य पृथ्वी के ही माने गये हैं और प्रशस्तपाद ने अपनी टीका में इसे और भी स्पष्ट कर दिया है—त्रिविधं चास्याः कार्यम्। शरीरेन्द्रियविषय-संज्ञकम्[2]। यदि अन्नम्भट्ट इसे पृथ्वी-मात्र का विभाजन मानें, तो यह इस समस्त परम्परा के विरुद्ध चला जाएगा। अतः जैसाकि नीलकण्ठ ने कहा है—चाहे हम कोई सा ही विभाजन मानें, वस्तुस्थिति यह है कि यह विभाजन नित्या पृथ्वी पर लागू नहीं होगा—अत्र नित्यपृथिव्याः शरीरेन्द्रिय-भिन्नत्वरूपविषयलक्षणाक्रान्तत्वेन विषयान्तर्गतत्वमिति पृथिव्यास्त्रिविधत्वमत एव मूले पुनस्त्रिविधेत्युक्तिः संगच्छत इति ध्येयम्। नित्या पृथ्वी वस्तुतः तृतीय प्रकार के विभाजन के अन्तर्गत आएगी और इस प्रकार इन तीन प्रकारों में उसका भी समावेश हो जाएगा। इस प्रकार दोनों ही दृष्टियों का समन्वय हो सकता है।

---

१. The Sacred Books of the Hindus, Vol VI. The Vaiśeṣaka Sūtras of Kaṇāda., ४.२.१.

२. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. ८१.

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शरीर की परिभाषा है—आत्मनो भोगायतनम्[1]। इससे भी अधिक उपयुक्त परिभाषा है—अन्त्यावयवित्वे सति चेष्टाश्रयम्[2]। अर्थात् जिसमें स्वतन्त्र चेष्टा है, और जो अन्तिम अवयवी हो, वह शरीर है। अन्तिम अवयवी की परिभाषा है—अवयवजन्यत्वे सत्यवयव्यजनकत्वम्[3]। अर्थात् जो स्वयं किन्हीं अवयवों से मिलकर बना है किन्तु स्वयं किसी अवयवी का जनक न हो। जैसे घट और हमारा शरीर। हमारा शरीर स्वयं एक अवयवी है किन्तु अन्य अवयवी का अवयव नहीं है। चेष्टा की परिभाषा दी गई है—हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थः स्पन्दः। अर्थात् जो इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति के लिए की जाए। हाथ और पांव भी ऐसी चेष्टा करते हैं किन्तु वह स्वयं शरीर के अवयव हैं। अतः अन्तिम अवयवी नहीं कहला सकते। शरीर दो भागों में विभक्त है—योनिज और अयोनिज। शुक्र, शोणित इत्यादि के संयोग से उत्पन्न शरीर योनिज है जैसाकि मनुष्य, पशु और पक्षी का। स्वेद से उत्पन्न होने वाले कीटाणुओं का, वृक्षों का, और मनु इत्यादि सिद्ध पुरुषों का शरीर अयोनिज है क्योंकि वह स्वयंभू है[4]। इस वर्गीकरण के अन्तर्गत नैयायिकों ने समस्त प्राणियों का विभाजन कर दिया।

इन्द्रिय—

इन्द्रिय की दीपिका में यह परिभाषा दी गई है—शब्देतरोद्भूतविशेष-गुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयम्। अर्थात् जो मन के संयोग से ज्ञान का कारण बने, किन्तु स्वय शब्द के अतिरिक्त किसी अन्य विशेष गुण का आश्रय न हो। नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्ष की प्रक्रिया सिद्धान्त चन्द्रिका में इस प्रकार दी है—आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेणेन्द्रियमथन ततः प्रत्यक्षम्। अर्थात् इन्द्रियां एक ओर वाह्य विषयों से सम्बद्ध होती हैं, और दूसरी ओर मन से जोकि आत्मा से शृंखला का कार्य करता है।

---

१. तुलनीय वात्स्यायनभाष्य, न्यायसूत्र, १.१.९.
२. तुलनीय उपस्कार, वैशेषिक सूत्र, ४.२.१.
३. सिद्धान्तचन्द्रोदय, ६
४. तत्रायोनिजमनपेक्ष्य शुक्रशोणितं देवर्षीणां शरीरं धर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायते।—शुक्रशोणित—सन्निपातजं योनिजम्। —प्रशस्तपादभाष्य, पृ० ८२।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अतः मन आत्मा और इन्द्रिय दोनों से सम्बन्ध रखता है और ये दोनों ही सम्बन्ध ज्ञान का कारण हैं। उपर्युक्त परिभाषा में शब्देतरोद्भूतविशेष-गुणानाश्रयत्वे सति इसलिए कहा गया है कि इन्द्रिय का लक्षण आत्मा में अतिव्याप्त न हो जाए क्योंकि आत्मा में तो, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, १४ गुण होते हैं। किन्तु इस पर यह आक्षेप उठाया जा सकता है, कि इन्द्रियाँ भी जिन जिन पदार्थों से बनती हैं, उन-उन के गुणों का आश्रय होती ही हैं। उदाहरणतः पृथ्वी से निर्मित इन्द्रिय में गन्ध और तेज से निर्मित इन्द्रिय में रूप होना ही चाहिए। उत्तर यह है कि उनमें गुण रहते अवश्य हैं, किन्तु व्यक्त नहीं होते। इसीलिये परिभाषा में विशेष का उद्भूत विशेषण दिया गया है। किन्तु इस प्रकार यह परिभाषा अव्याप्त हो जाएगी क्योंकि श्रोत्र में तो जोकि आकाश स्वरूप है, शब्द गुण उद्भूत ही रहता है अतः परिभाषा में 'शब्देतर' पद जोड़ दिया गया है। इसी प्रकार इन्द्रियों की कुछ अन्य परिभाषाएं भी हैं जैसे—शरीरसंयुक्तं ज्ञानकारणमतीन्द्रियम्[1] तथा स्मृत्यजनक-ज्ञानजनक-मनःसंयोगाश्रयत्वम्[2]। प्रथम परिभाषा में अतीन्द्रिय शब्द से आत्मा और बाह्य पदार्थों का निराकरण हो जाता है और शरीर-संयुक्त पद से निर्विकल्प ज्ञान का निराकरण हो जाता है जोकि सविकल्प ज्ञान का आभ्यन्तर कारण है। दूसरी परिभाषा में स्मृत्यजनक पद द्वारा आत्मा का निराकरण किया गया है। इन्द्रियां दो प्रकार की हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। मन आभ्यन्तर है शेष इन्द्रियां बाह्य। इनमें से घ्राण, रसना और श्रोत्र केवल गुणों को ग्रहण करते हैं, जबकि चक्षु और स्पर्श द्रव्य तथा गुण दोनों को ग्रहण करते हैं।

विषय—

इसके अन्तर्गत समस्त निर्जीव पार्थिव पदार्थ आते हैं। ये यहाँ पर समस्त ज्ञेय पदार्थों के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। क्योंकि इन्द्रियों को हम ज्ञेय नहीं बना सकते, अतः वे विषय के अन्तर्गत नहीं आतीं किन्तु कम से कम हमारे शरीर के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के शरीर ज्ञेय हैं अतः वे तो विषय ही होने चाहिएं। स्वयं का शरीर तो विषयी (आध्यात्मिक) है किन्तु अन्यों

१. तर्ककौमुदी, पृ. ३
२. उपस्कारभाष्य, वैशेषिक, दर्शन, ४. २. १.

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

के शरीर अवश्य विषय है। अतः उन्हें विषयों के अन्तर्गत मानना चाहिए। किन्तु यहाँ विषय शब्द का प्रयोग एक सीमित अर्थ में किया गया है सब ज्ञेय पदार्थों के अर्थ में नहीं। अन्य मनुष्यों के शरीर भी चाहे हमारी दृष्टि से विषय हों, पर उनकी अपनी दृष्टि से विषयी हैं। किन्तु पाषाण इत्यादि हमेशा विषय ही रहेंगे, विषयी नहीं हो सकते क्योंकि उन में ज्ञान नहीं है। इस कठिनाई की ओर सिद्धान्तचन्द्रिका का ध्यान गया था क्योंकि उसमें लिखा है—"यद्येतल्लक्षणं शरीरादावतिव्याप्तमिति विभाव्यते तदा शरीरेन्द्रिये भिन्नत्वमेव तदनुसरम्। वस्तुतस्तु शरीरादिकमपि विषय एव। भेदेन कीर्तनं तु बालधी-वैशद्याय। अर्थात् भोगोपयोगी सभी पदार्थ विषय हैं तो शरीर और इन्द्रियाँ भी विषय के अन्तर्गत आएंगी किन्तु बालबुद्धि लोगों के लिए उनका अलग वर्गीकरण किया गया है। वस्तुतः सिद्धान्तचन्द्रिका का यह विचार मुक्तावली की निम्न पंक्ति से ले लिया गया प्रतीत होता है—शरीरेन्द्रिययोर्विषयत्वेऽपि प्रकारान्तरोपन्यासः शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थः।[1] ऐसा लगता है कि इन टीका-कारों ने इस बात पर विचार नहीं किया जो हमने ऊपर कही है कि यहां विषय का अर्थ उस पदार्थ से है जो हर स्थिति में विषय ही बने रहते हैं विषयी नहीं बन सकते। ध्यान देने की बात है कि अन्नम्भट्ट ने विषय को शरीरेन्द्रिय भिन्न कहा है, भोग या उपभोग का कोई निर्देश नहीं किया।

यहाँ एक यह भी प्रश्न आता है कि क्या परमाणुओं को विषय माना जाएगा, क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय होने के कारण भोगने में तो आते नहीं और भाषापरिच्छेद में तो स्पष्ट रूप में परमाणुओं का विषय से बहिष्कार किया गया है—विषयो द्व्यणुकादिश्च ब्रह्माण्डान्त उदाहृतः[2]। किन्तु ऐसा लगता है कि अन्नम्भट्ट जैसा कि हम पहले कह चुके हैं परमाणुओं को विषय के अन्त-र्गत लाना चाहता है। एक दूसरा प्रश्न यह है कि वृक्ष शरीर माने जाएंगे या विषय? प्रशस्तपाद वृक्षों को विषय मानते हैं[3] और विश्वनाथ शरीर।[4]

---

१. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. ७५.

२. भाषापरिच्छेद, ३८.

३. विषयस्तु———मृत्पाषाणस्थावरलक्षणः। ——स्थावरास्तृणौषधिलता-वतानवनस्पतय इति।—प्रशस्तपादभाष्य पृ. ८८–८९.

४. तुलनीय–न च वृक्षादीनां शरीरत्वे किं मानमिति वाच्यम्।———इत्यादि न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. ७३.

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शंकर मिश्र ने दोनों पक्षों की चर्चा करके निम्न परिणाम दिया है और अन्नम्भट्ट भी सम्भवतः इससे सहमत हैं--तथापि चेष्टावत्त्वमिन्द्रियवत्त्वं च नोद्भिदां स्फुटतरमतो न शरीरव्यवहारः।[1]

शीतस्पर्शवत्य आपः। ता द्विविधाः--नित्या अनित्याश्च। नित्याः परमाणुरूपाः अनित्याः कार्यरूपाः। पुनस्त्रिविधाः-शरीरेन्द्रियविषय-भेदात्। शरीरं वरुणलोके। इन्द्रियं रसग्राहकं रसनं जिह्वाग्रवर्ति। विषयः सरित्समुद्रादिः॥

शीत स्पर्श वाला जल है। वह दो प्रकार का है--नित्य और अनित्य। नित्य परमाणुरूप है। अनित्य कार्यरूप है। फिर वह तीन प्रकार का है--शरीर, इन्द्रिय और विषय। शरीर वरुणलोक में है। इन्द्रिय रस को ग्रहण करने वाली रसनेन्द्रिय है जो जिह्वा के अग्रभाव में स्थित है। विषय नदी, समुद्र आदि हैं।

(त. दी.) अपां लक्षणमाह--शीतेति। उत्पन्नविनष्टजलेऽव्याप्तिवारणाय शीतस्पर्शसमानाधिकरणद्रव्यत्वापरजातिमत्त्वे तात्पर्यम्। 'शीतं शिलातलम्' इत्यादौ जलसंबन्धादेव शीतस्पर्शभानमिति नातिव्याप्तिः। अन्यत्सर्वं पूर्वरीत्या व्याख्येयम्॥

आपः--

शीतल स्पर्श जल का लक्षण है। इसका विभाजन भी पृथ्वी की भांति प्रथम नित्य, अनित्य, और फिर शरीर, इन्द्रिय और विषय के रूप में किया गया है। जलीय शरीर वरुण लोक में माना गया है। जिह्वा का अग्रभाग जो स्वाद ग्रहण करता है इसकी इन्द्रिय है और नदी, समुद्र इत्यादि इसके विषय हैं। ऐसा लगता है कि एकरूपता की दृष्टि से आपः और तेजस् पर भी लिखे गये दोनों गद्यांश पृथ्वी के गद्यांश के ढाँचे पर ढाले गये हैं। इससे यह विचित्रता आ गई है कि पार्थिव शरीर तो प्रत्यक्ष ही देखने में आते हैं, किन्तु जलीय और तैजस, जो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होते, वरुण और आदित्य लोक में मान लिये गये हैं। कणाद ने आपः की यह परिभाषा दी है--रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः;[2] और यह भी कहा है कि जल का स्पर्श शीतल होता है[3] किन्तु

१. उपस्कारभाष्य, वैशेषिक दर्शन, ४. २. ५.
२. वैशेषिक दर्शन, २. १. २.
३. अप्सु शीतता, उपरिवत्, २. २ ५.

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इसका कोई वर्गीकरण नहीं किया जो कि बाद के टीकाकारों ने जोड़ा है। एक बार जब टीकाकारों ने यह वर्गीकरण कर दिया तो फिर इसके पक्ष में उठने वाले समस्त आक्षेपों का समाधान अनिवार्य हो गया, चाहे वह समाधान बहुत बार उचित न भी रहा हो। उदाहरणतः यह आक्षेप किया जाता है कि जलीय शरीर तो जल के बुलबुले की तरह बिलकुल तरल होगा और भोग भोगने में असमर्थ होगा। किंतु इसका उत्तर यह दिया जाता है कि जलीय शरीर वस्तुतः प्रधान रूप से जलीय परमाणुओं से बनते हैं किन्तु उनमें पार्थिव परमाणुओं का भी इतना अंश अवश्य रहता है कि वे एक सूत्र में गुथे रहें। जलीय शरीर केवल अयोनिज माने जाते हैं।[1]

पाषाण में जो हमे शीतलता का अनुभव होता है, वह उसमें जलीय तत्त्व की सत्ता के कारण ही है। इस वर्गीकरण के सम्बन्ध में जो बात हम पृथ्वी का वर्णन करते हुए कह चुके हैं, वही लागू होती है। जल में रहने वाले गुणों का भी हम पहले ही निर्देश कर चुके हैं।

उष्णस्पर्शवत्तेजः। तद्द्विविधम्—नित्यमनित्यं च। नित्यं परमाणुरूपम्। अनित्यं कार्यरूपम्। पुनस्त्रिविधम्—शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरमादित्यलोके। इन्द्रियं रूपग्राहकं चक्षुः कृष्णतारायग्रवर्ति। विषयश्चतुर्विधः-भौमदिव्यौदर्याकरजभेदात्। भौमं वह्न्यादिकम्। अबिन्धनं दिव्यं विद्युदादि। भुक्तस्य परिणामहेतुरौदर्यम्। आकरजं सुवर्णादि॥

उष्ण स्पर्श वाला तेज है। वह दो प्रकार का है—नित्य और अनित्य। नित्य परमाणुरूप है। अनित्य कार्यरूप। फिर वह तीन प्रकार का है—शरीर, इन्द्रिय तथा विषय। शरीर आदित्यलोक में है। इन्द्रिय रूप को ग्रहण करने वाली चक्षुरिन्द्रिय है, जो काली पुतली के अग्रभाग में स्थित है। विषय चार प्रकार का है—भौम (भूमिसम्बन्धी) दिव्य, उदर्य (उदरसम्बन्धी) तथा आकरज। भौम अग्नि आदि हैं। जल ही जिस की इन्धन है ऐसी विद्युदादि दिव्य है। खाये हुए को पचाने वाला औदर्य है। आकरज सुवर्ण आदि हैं।

(त. दी.) तेजसो लक्षणमाह—उष्णस्पर्शवदिति। 'उष्णं जलम्' इति प्रतीतेस्तेजः संबन्धानुविधायित्वान्नातिव्याप्तिः। विषयं विभजते—भौमेति। ननु

---

३. आप्यतैजसवायवीयशरीराणां वरुणादित्यवायुलोकेषु प्रसिद्धानामयोनिजत्वमेव उपस्कारभाष्य, वैशेषिकदर्शन ४. २. ५.

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सुवर्णं पार्थिवं, पीतत्वाद्गुरुत्वाद्धरिद्रादिवदिति चेत्-न; अत्यन्तानलसंयोगे सति घृतादौ द्रवत्वनाशदर्शनेन, जलमध्यस्थघृतादौ द्रवत्वनाशादर्शनेन, असति प्रतिबन्धके पार्थिवद्रव्यद्रवत्वनाशाग्निसंयोगयोः कार्यकारणभावावधारणात् । सुवर्णस्यात्यन्तानलसंयोगे सत्यनुच्छिद्यमानद्रवत्वाधिकरणत्वेन पार्थिवत्वानुपपत्तेः। तस्मात्पीतद्रव्यद्रवत्वनाशप्रतिबन्धकतया द्रवद्रव्यान्तरसिद्धौ नैमित्तिकद्रवत्वाधिकरणतया जलत्वानुपपत्तेः, रूपवत्तया वाय्वादिष्वनन्तर्भावात्, तैजसत्वसिद्धिः। तत्रोष्णस्पर्शभास्वररूपयोरुपष्टम्भकपार्थिवरूपस्पर्शाभ्यां प्रतिबन्धादनुपलब्धिः। तस्मात्सुवर्णं तैजसमिति सिद्धम्॥

तेजस्—

इस प्रकरण में यह उल्लेखनीय है कि यहां तेजस् क विषय चार प्रकार के माने गये हैं। (१) पार्थिव अर्थात् साधारण अग्नि और जुगनू इत्यादि (२) दिव्य अर्थात् विद्युत् और वाड़वाग्नि, (३) औदरिक जो भोजन को पचाने में सहायक होता है, (४) चौथा आकरज जैसे सुवर्ण इत्यादि। इनमें भौम और दिव्य तो निश्चय ही तेज के स्वरूप हैं किंतु अंतिम दोनों केवल लाक्षणिक अर्थों में ही तेजस् माने जा सकते हैं। भोजन को पचाने और शरीर में उष्णता उत्पन्न करने के कारण औदर्य को भी तेज कह देते हैं। सुवर्ण के तेजस्त्व के सम्बन्ध में हम अभी चर्चा करेंगे।

मूल सूत्रों में तेजस् का यह विभाजन नहीं मिलता। यह विभाजन प्रशस्तपाद के भाष्य में से लिया गया है। उपस्कार के लेखक, शंकर मिश्र ने तेज का एक अन्य विभाजन भी दिया है—१. जिनमें रूप भी है और स्पर्श भी, जैसे सूर्य का प्रकाश। २. जिनमें रूप हैं, किंतु स्पर्श व्यक्त रूप में नहीं है, जैसे चन्द्रमा का प्रकाश। ३. जिनमें रूप और स्पर्श अर्ध-व्यक्त हैं जैसे—नेत्र की ज्योति। ४. जिनमें रूप अर्धव्यक्त है किंतु स्पर्श पूर्ण-व्यक्त है, जैसे लाल गर्म घट।[1] यहां यह भी उल्लेखनीय है कि नैयायिकों ने रूप का ग्राहक चक्षु में कृष्ण तारिका का अग्रभाग माना है किंतु आधुनिक विज्ञान इस कृष्ण तारिका को बाह्य प्रकाश के अन्दर जाने का मार्ग मात्र मानता है

१. चतुर्विधं हि तेजः किञ्चिदुद्भूतरूपस्पर्शं यथा सौरादि, किञ्चिदुद्भूतरूपमनुद्भूतस्पर्शं यथा चान्द्रं, किञ्चिदनुद्भूतरूपस्पर्शं यथा नायनम् (=सौवर्णं), किञ्चिदनुद्भूतरूपमुद्भूतस्पर्शं यथा नैदाघं वारिभर्जनकपालादिगतञ्च तेजः। उपस्कारभाष्य, वैशेषिकदर्शन, २.१.३.

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

और रूप का वास्तविक ग्राहक रैटीना को मानता है। दूसरा एक अन्य सिद्धान्त जिस पर आक्षेप किया गया है वह यह है कि चक्षु प्राप्यकारी इन्द्रिय है अर्थात् दृग् इन्द्रिय आंख से बाहर दृश्य पदार्थ तक जाकर उसे छूती है। इस पर जैन नैयायिकों ने भी आक्षेप किया है और यह माना है कि दृग् इन्द्रिय बाहर नहीं जाती प्रत्युत पदार्थ पर पड़ने वाली सूर्य की किरणें ही उस पदार्थ को रैटीना तक ले जाती हैं।

नैयायिकों ने बहुत से कारण दिये हैं कि धातुओं को भी क्यों तैजस माना जाए ? तर्कदीपिका कहती है कि सुवर्ण न पृथ्वी है, न जल, न वायु। यह अन्तिम पांच तत्त्वों के अन्तर्गत तो माना ही नहीं जा सकता। सुवर्ण पृथ्वी नहीं है क्योंकि इसे चाहे कितनी भी गर्मी पहुंचाएं यह नष्ट नहीं होता, जिस प्रकार मक्खन गर्मी पहुंचाये जाने पर लुप्त हो जाता है। सुवर्ण जल भी नहीं हो सकता क्योंकि इसकी तरलता की प्रकृति स्वाभाविक नहीं है प्रत्युत उपाधिजन्य है। यह वायु भी नहीं हो सकता क्योंकि इसका रूप है। अतः स्वर्ण तैजस ही हो सकता है और इसकी उष्णता पार्थिव पदार्थों के आधिक्य द्वारा छिपा ली गई है।

किन्तु ये तर्क निर्दोष नहीं हैं। प्रत्येक पार्थिव पदार्थ पिघलने पर नष्ट नहीं होता। वस्तुतः ठोस और द्रवीभूत होना पदार्थ का कोई गुण नहीं है प्रत्युत एक ही पदार्थ की दो विभिन्न अवस्थाएं हैं। दूसरे यदि यह माना जाए कि पृथ्वी तत्त्व की अधिकता स्वर्ण की उष्णता को छिपा लेती है तो हम क्या यह नहीं मान सकते कि स्वर्ण के पिघलने पर इसके नाश न होने का कारण भी पार्थिव तत्त्वों की सत्ता ही है। आधुनिक विज्ञान यह जानता है कि धातुओं को वायवीय रूप नहीं दिया जा सकता और प्राचीन भारतीय दार्शनिक भी इससे परिचित थे। इस कठिनाई को उन्होंने यह कहकर दूर कर दिया कि ये धातुएं पार्थिव नहीं हैं प्रत्युत तैजस हैं। अतः नैयायिकों ने उनमें एक चमक देखकर उन्हें तैजस के अन्तर्गत मान लिया। किन्तु मीमांसक इसके भी आगे गये और उन्होंने धातुओं को एक पृथक् ही द्रव्य माना।

रूपरहितस्पर्शवान् वायुः। स द्विविधो नित्योऽनित्यश्च। नित्यः परमाणुरूपः। अनित्यः कार्यरूपः। पुनस्त्रिविधः—शरीरेन्द्रियविषयभेदात्। शरीरं वायुलोके। इन्द्रियं स्पर्शग्राहकं त्वक्सर्वशरीरवर्ति। विषयो वक्षादिकम्पनहेतुः॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शरीरान्तःसंचारी वायुः प्राणः । स चैकोऽप्युपाधिभेदात्प्राणापानादिसंज्ञां लभते ॥

रूपरहित तथा स्पर्शवान् वायु होती है । वह दो प्रकार की है—नित्य तथा अनित्य । नित्य परमाणुरूप है । अनित्य कार्यरूप है । फिर वह तीन प्रकार की है—शरीर, इन्द्रिय तथा विषय । शरीर वायुलोक में होते हैं । इन्द्रिय स्पर्श को ग्रहण करने वाली त्वगिन्द्रिय है जो समस्त शरीर के अग्र-भाग में है । विषय वृक्षादि को कँपाने वाली पवन है ।

शरीर के अन्दर सञ्चरण करने वाली वायु प्राण है । वह एक होने पर भी विभिन्न स्थानों में स्थिति के भेद से प्राण, अपान आदि नामों से जानी जाती है ।

(त. दी.) वायुं लक्षयति—**रूपरहितेति** । आकाशादावतिव्याप्तिवारणाय—**स्पर्शवानिति** । पृथिव्यादावतिव्याप्तिवारणाय—**रूपरहितेति** । ननु प्राणस्य कुत्रान्तर्भाव इत्यत आह—**शरीरेति** । **स चेति** । एक एव प्राणः स्थानभेदात्प्राणापानादिशब्दैर्व्यवह्रियत इत्यर्थः । स्पर्शानुमेयो वायुः । तथाहि—योऽयं वायौ वाति सत्यनुष्णाशीतस्पर्शो भासते स स्पर्शः क्वचिदाश्रितो गुणत्वाद्रूपवत् । न चास्य पृथिव्याश्रय उद्भूतस्पर्शवतः पार्थिवस्योद्भूतरूपवत्त्वनियमात् । न जलतेजसी; अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्वात् । न विभु चतुष्टयम्; सर्वत्रोपलब्धिप्रसङ्गात् । न मनः; परमाणुस्पर्शस्यातीन्द्रियत्वात् । तस्माद्यः प्रतीयमानस्पर्शाश्रयः स वायुः ॥ ननु वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वाद् घटवदिति चेत्,—न; उद्भूतरूपवत्त्वस्योपाधित्वात् । यत्र द्रव्यत्वे सति बहिरिन्द्रियजन्यप्रत्यक्षत्वं तत्रोद्भूतरूपवत्त्वमिति घटादौ साध्यव्यापकत्वम् । यत्र प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वं तत्रोद्भूतरूपवत्त्वं नास्तीति पक्षे साधनाव्यापकत्वम् । न चैवं तप्तवारिस्थतेजसोऽप्यप्रत्यक्षत्वापत्तिः; इष्टत्वात् । तस्माद्रूपरहितत्वाद्वायुरप्रत्यक्षः ॥

इदानीं कार्यरूपपृथिव्यादिचतुष्टयस्योत्पत्तिविनाशक्रमः कथ्यते । ईश्वरस्य चिकीर्षावशात्परमाणुषु क्रिया जायते । ततः परमाणुद्वयसयोगे सति द्व्यणुकमुत्पद्यते । त्रिभिर्द्व्यणुकैस्त्र्यणुकम् । एवं चतुरणुकादिक्रमेण महती पृथिवी महत्य आपो महत्तेजो महान्वायुरुत्पद्यते । एवमुत्पन्नस्य कार्यद्रव्यस्य संज्जिहीर्षावशात्परमाणुषु क्रिया । क्रियया परमाणुद्वयविभागे सति द्व्यणुकनाशः । ततस्त्र्यणुकनाशः । ततश्चतुरणुकस्येत्येवं महापृथिव्यादिनाशः ॥ असमवायिकारणनाशाद्द्व्यणुकनाशः, समवायिकारणनाशात्त्र्यणुकनाश इति संप्रदायः । सर्वत्रासमवायिकारणनाशाद् द्रव्यनाशः—इति नवीनाः ॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

किं पुनः परमाणुसद्भावे प्रमाणम् ? उच्यते,—जालसूर्यमरीचिस्थं सूक्ष्मतमं यद्रज उपलभ्यते तत्सावयवम्, चाक्षुषद्रव्यत्वात्पटवत्। त्र्यणुकावयवोऽपि सावयवः, महदारम्भकत्वात्तन्तुवत्। यो द्व्यणुकावयवः स परमाणुः। स च नित्यः; तस्यापि कार्यत्वेऽनवस्थाप्रसङ्गात्। तथा च मेरुसर्षपयोरपि समानपरिमाणत्वापत्तिः। सृष्टिप्रलयसद्भावे "धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" इत्यादिश्रुतिः प्रमाणम्। सर्वकार्यद्रव्यध्वंसोऽवान्तरप्रलयः। सर्वभावकार्यध्वंसो महाप्रलय इति विवेकः॥

वायु—

वायु का भी अन्नम्भट्ट ने वही विभाजन किया है जो पृथ्वी, अपस् और तेजस् का। वायु को स्पर्शवान् और रूपरहित माना है। यह भी नित्य और अनित्य दोनों प्रकार की है। इसका शरीर वायु लोक में प्राप्त होता है। हमारे शरीर का जो चर्म स्पर्श को ग्रहण करता है वह इसका ग्राहक इन्द्रिय है और इसका विषय वह वायु है जो बहती है और वृक्ष इत्यादि को हिलाती है।

वायु का एक अन्य प्रकार प्राण वायु है, जो वस्तुतः वायु ही है किन्तु वह शरीर में विचरण करता है। इस विषय में पर्याप्त मतभेद है कि प्राण को किस प्रकार वायु के अन्तर्गत माना जाए। प्रशस्तपाद और प्राचीन नैयायिक प्राण को वायु का एक चतुर्थ रूप मानते हैं और उसे शरीर, इन्द्रिय तथा विषय से भिन्न मानते हैं।[1] किन्तु नव्य नैयायिक उसे विषय के ही अन्तर्गत मानते हैं। इस सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ भी कहना कठिन है कि अन्नम्भट्ट की क्या दृष्टि है। न तो वे प्रशस्तपाद की भांति उसे चौथे प्रकार का मानते हैं और न उसे विषय के अन्तर्गत ही गिनाते हैं। दीपिकाकार ने भी इस विषय पर कोई प्रकाश नहीं डाला और प्राण को पांच, 'प्राण', 'अपान', 'व्यान', 'समान', और 'उदान', के अन्तर्गत ही मान लिया और यह भी कहा कि प्राण इन पाँचों का सामूहिक नाम ही है। वस्तुतः यह एक ही प्राण वायु है जो शरीर के भिन्न-भिन्न भागों से संचरण करने के कारण और भिन्न-भिन्न क्रिया में सहायक होने के कारण भिन्न-भिन्न नाम पा लेती है। निम्न पद्य में इन पांचों प्राणों के स्थान दिये हैं—

---

१. तत्र कार्य्यलक्षणश्चतुर्विधः, शरीरमिन्द्रियं विषयः प्राण इति।

—प्रशस्तपादभाष्य, पृ ११३.

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः ।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः ॥[1]

एक और भी अधिक विस्तृत वर्णन में इनकी भिन्न-भिन्न क्रियाएं दी गई हैं—मुखनासिकाभ्यां निष्क्रमणप्रवेशनात्प्राणः । मलादीनामधोनयनादपानः । आहारेषु पाकार्थं वह्नेः समुन्नयनात्समानः । ऊर्ध्वनयनादुदानः । नाडी-मुखेषुवितननाद्व्यानः ।[2] इन पांचों प्राणों के पौराणिक नाम ये हैं—

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः ।
कृकरः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ।
न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापि धनंजयः ॥[3]

इन पांचों पौराणिक प्राणों को जिस प्रकार न्यायशास्त्र ने अपने अनुकूल ढाल लिया, वह इस बात का एक सुन्दर उदाहरण है कि किस प्रकार भारतीय दार्शनिकों ने प्राचीन तत्त्वों को नवीन ढंग से अपने अनुकूल बना लिया।

क्या वायु दृश्य है ?

वायु को रूप-रहित कहकर उसे पहले तीन द्रव्य, पृथ्वी, अग्नि और तेज से व्यावृत किया गया है और स्पर्शवान् कहकर उसे अन्तिम पांच द्रव्य, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन से पृथक् किया गया है। वायु का स्पर्श न तो तेज के समान उष्ण है और न जल के समान शीतल। इस प्रकार वायु की स्थिति दृश्य और अदृश्य द्रव्यों के बीच में है और नैयायिकों में इस विषय पर पर्याप्त वादविवाद है कि वायु प्रत्यक्षगम्य है या नहीं। प्राचीन नैयायिक यह मानते हैं कि वायु प्रत्यक्षगम्य नहीं है प्रत्युत अनुमानगम्य है और अन्नम्भट्ट उनसे सहमत है। दीपिका में यह तर्क दिया गया है कि वायु स्पर्शवान् होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता क्योंकि प्रत्यक्षगम्य होने के लिये रूपवान् होना आवश्यक है। उपाधि को 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकः' कहा गया है। कारण को सोपाधिक अर्थात् साध्य की अपेक्षा अधिक विस्तृत किन्तु साधन की अपेक्षा कम विस्तृत नहीं होना चाहिए।

---

१. अमर० १/६७ टी० न्यायकोश पृ० ७३७ पर उद्धृत
२. दिनकरीव्याख्या, पृ० १४१
३. सिद्धान्तचन्द्रोदय, न्यायकोश पृ० ७३८ पर उद्धृत

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उदाहरणतः साध्य अग्नि को वहां अवश्य होना चाहिए जहां हेतु धूम रहता है। किन्तु ऐसे उदाहरण मिल सकते हैं जबकि हेतु साध्य की अपेक्षा अधिक व्यापक हो और ऐसी दशा में अनुमान दूषित हो जाता है। ऐसे हेतु सोपाधिक कहलाते हैं। उदाहरण के लिये ऊपर के तर्क को न्याय के अनुमान की भाषा में इस प्रकार रखा जाएगा—वायुः प्रत्यक्षः। प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात्। यो यो द्रव्यत्वे सति प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयः स स प्रत्यक्षः यथा घटः। तथा चायम्। तस्मात्तथा। यहां उद्भूतरूपवत्त्व उपाधि है जोकि साध्य की अपेक्षा अधिक और साधन की अपेक्षा कम व्यापक है क्योंकि हम यह कह सकते हैं कि प्रत्यक्षगम्य समस्त पदार्थ उद्भूत रूपवत्त्व वाले हैं। किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि जहां जहां पदार्थ को स्पर्श किया जा सकता है, वहां-वहां वह 'उद्भूतरूपवत्त्व भी है क्योंकि हमें मालूम है कि वायु स्पर्शवान् तो है किन्तु उद्भूत रूपवाली नहीं है। अतः यह उपाधि साधन में व्यापक नहीं है। अतः यह समस्त तर्क दूषित है। यदि इस पारिभाषिक ढंग से हट कर कहें तो यह तर्क इस प्रकार दिया जा सकता है कि प्राचीन नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्षत्व सीमित अर्थ रखता है और केवल रूपवान् पदार्थों पर ही लागू होता है। अतः जो रूपवान् नहीं है वह प्रत्यक्षगम्य नहीं है, अतः वायु भी प्रत्यक्षगम्य नहीं है।

नव्यनैयायिक वायु को सर्वथा प्रत्यक्षगम्य मानते हैं। सिद्धान्तचन्द्रोदय में उनका तर्क इन शब्दों में दिया गया है—बहिर्द्रव्यप्रत्यक्षं प्रति महत्त्वविशिष्ट-विभुव्यावृत्त-विशेषगुणः महत्त्वविशष्टोद्भूतरूपोद्भूतस्पर्शान्यतरद्वा करणम् अर्थात् जिस पदार्थ में महत्त्व हो किन्तु विभुत्व न हो और उस पदार्थ का कोई विशिष्ट गुण भी हो तथा वह उद्भूतरूप या उद्भूतस्पर्श वाला हो, प्रत्यक्ष होता है। इसी तर्क के आधार पर नव्यनैयायिक वायु को प्रत्यक्ष मानते हैं क्योंकि उसका स्पर्श होता है। किन्तु वे भी परमाणु को प्रत्यक्ष नहीं मानते क्योंकि उसमें महत्त्व नहीं है। अन्नम्भट्ट प्राचीन नैयायिकों के समान वायु को अनुमेय ही मानते हैं।

वायु की पृथक् सत्ता : तर्कदीपिका में यह कहा गया है कि जिसका हम अनुष्ण और अशीत स्पर्श अनुभव करते हैं, वही वायु है, क्योंकि यह एक गुण है जो किसी द्रव्य में रहना चाहिए। यह द्रव्य पृथ्वी नहीं हो सकता क्योंकि इसमें उद्भूत रूप नहीं है। यह न शीतल है न उष्ण, इसलिए यह न जल हो सकता है, न तेज। यह आकाश, काल, दिक् और आत्मा भी नहीं है क्योंकि यह सर्वव्यापक नहीं है। वायु मन नहीं हो सकता, क्योंकि मन अणु है अतः पृथक् वायु की सत्ता माननी होगी।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उपर्युक्त विवेचन में आधुनिक विज्ञान का अंश नहीं है। नैयायिकों को यह ज्ञान नहीं था कि वायु में स्पर्श के अतिरिक्त भी कुछ और गुण हैं। पृथ्वी, जल और वायु आज के विज्ञान के ठोस, तरल और गैस के समान हैं और तेज एक प्रकार की शक्ति है।

सृष्टि की उत्पत्ति : अब तक हमने पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार तत्त्वों का विवेचन किया। ये चार तत्त्व इन्द्रियगम्य हैं और मूर्त हैं। अतः तर्कदीपिका में इस स्थान पर यह विवेचन भी किया है कि किस प्रकार इन चार तत्त्वों के मेल से सृष्टि होती है। परमाणु में ईश्वरीय इच्छा से गति होती है और उस गति के कारण द्व्यणु, त्रसरेणु और चतुरणु बनते हैं। और इनसे ही पृथ्वी, जल, तेज और आकाश बनता है।

इसके विपरीत क्रम से सृष्टि का विलय होता है और ये परमाणु विपरीत क्रम में टूटते-टूटते केवल अणु के रूप में रह जाते हैं। इस प्रक्रिया के सम्बन्ध में सभी नैयायिक एकमत हैं किन्तु पदार्थों के नाश के सम्बन्ध में थोड़ा सा मतभेद है। प्राचीन नैयायिकों का यह मत है कि कार्य का नाश कारण के नाश होने पर होता है किन्तु इसका द्व्यणुक अपवाद है क्योंकि द्व्यणुक का नाश परमाणुनाशाधीन नहीं होता, क्योंकि परमाणु नित्य है। किन्तु द्व्यणुकों का विनाश परमाणुओं के संयोग के नाश से होता है। नैयायिक इसके विपरीत यह मानते हैं कि इस सब विलय की शृंखला में कारण पदार्थ का नाश नहीं मानना चाहिए प्रत्युत कारण पदार्थों के संयोग का नाश ही कारण मानना चाहिए। प्राचीन नैयायिकों की भांति अन्य सब शृंखलाओं में तो पदार्थ का नाश और अंतिम स्थिति में संयोग का नाश कारण मानने से गौरव आता है और इस प्रकार संयोग जोकि कार्य का असमवायी कारण है, वही नष्ट होता है, पदार्थ नष्ट नहीं होता।

इस मतभेद से एक गहरा मतभेद उत्पन्न हो जाता है। प्राचीन नैयायिकों के अनुसार कार्य के विनाश से पहले उसके अंशों का नाश आवश्यक है। जब परमाणु पृथक् होते हैं तो द्व्यणुक नष्ट हो जाते हैं और जब द्व्यणुक नष्ट होते हैं तो त्रसरेणु नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार अन्तिम कार्य सब से अन्त में नष्ट होता है जबकि यह उत्पन्न भी सबसे अन्त में होता है।[1] यह वेदान्तियों के मत

---

१. तुलनीय, न्याय कोश पृ. ५७३, यहां खण्ड प्रलय तथा महाप्रलय के सम्बन्ध में अनेक मतमतान्तरों का उल्लेख है।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

के सर्वथा विपरीत है। ब्रह्मसूत्र में इसके विपरीत सृष्टि का क्रम दिया है अर्थात् अन्तिम कार्य नाश के समय सबसे पहले नष्ट होता है, तदनन्तर उसके अंश और इस प्रकार हम अन्तिम कारण तक पहुंचते हैं।[1] हम लोग भी इस बात को प्रतिदिन अनुभव करते हैं कि किसी चीज़ का निर्माण करते समय जो क्रम होता है, उसके नाश के समय, वह क्रम उससे विपरीत होता है। किन्तु नैयायिक इसे नहीं मानते। शंकराचार्य ने इस मत में दोष दिखलाते हुए यह कहा है कि यदि कारण के नाश के बाद कार्य का नाश होगा तो उस अन्तराल के समय में, जो कारण के नाश और कार्य के नाश के बीच रहता है, कार्य कहाँ रहेगा? कारण तो नष्ट हो चुका और अन्तिम कारण जो परमाणु हैं, उनमें वह कार्य रह नहीं सकता क्योंकि उन दोनों के अन्तराल में अनेक व्यवधान हैं। यह सिद्धान्त ऐसा ही है जैसे कोई कहे कि घर की छत तो न गिराई जाय, पर नींव उखाड़ दी जाय। अतः प्राचीन नैयायिकों की दृष्टि असंगत लगती है। नव्यनैयायिकों का यह कहना कि कारण पदार्थों के संयोग का नाश होने पर कार्य का नाश हो जाता है, जहां एक ओर प्राचीननैयायिकों के सिद्धान्त से मेल खाता है, वहां दूसरी ओर वेदान्त के सिद्धान्तों से भी मेल खा सकता है। इस प्रकार यह मत अधिक संगत लगता है।

प्राचीन नैयायिक अवांतरप्रलय और महाप्रलय के सिद्धान्त को भी मानते हैं। अवांतरप्रलय में केवल मूर्त पदार्थ नष्ट होते हैं जबकि महाप्रलय में समस्त मूर्त और अमूर्त पदार्थ प्रकृति में विलीन हो जाते हैं[2]। दीपिका में प्रलय के सिद्धान्त को मानने के लिये प्रमाणस्वरूप श्रुति उद्धृत की है—धाता यथापूर्वमकल्पयत्।[3]

परमाणुवाद—जिन चार द्रव्यों का विवेचन हमने अब तक किया उनके विकास को समझने के लिये नैयायिकों का परमाणुवाद समझना जरूरी है। पृथ्वी, जल, तेज और वायु के जो ऊपर नित्य और अनित्य भेद किये गये हैं, वे भी इस परमाणुवाद पर आधारित हैं। दीपिका में परमाणुओं की सत्ता को प्रमाणित करने के लिये निम्न तर्क दिया है: प्रत्येक दृश्य पदार्थ अवयवी है। क्योंकि हर दृश्य पदार्थ के तीन आयाम होते हैं, लम्बाई, चौड़ाई

---

१. शांकरभाष्य, ब्रह्मसूत्र २.३.१४.

२. अथल्ये और बोडास, तर्कसंग्रह पृ० १२१

३. ऋग्वेद १०, १९०, ३

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

और मोटाई और जिस पदार्थ के ये तीन आयाम हैं, उसका अवयव भी अवश्य होगा। एक रेखा की लम्बाई होती है क्योंकि यह बहुत से बिन्दुओं का समूह है। एक तल की लम्बाई और चौड़ाई होती है क्योंकि यह बहुत सी रेखाओं का समूह है। किन्तु रेखागणित की बिन्दु की जो परिभाषा है, उसके अनुसार उसकी लम्बाई, चौड़ाई या मोटाई कुछ भी नहीं होती। और इस प्रकार वह केवल एक वैचारिक सत्ता मात्र है। अब यदि प्रत्येक दृश्य पदार्थ को सावयव मानें[1] तो यह भी मानना पड़ेगा कि उसके अवयवों को पृथक्-पृथक् किया जा सकता है। इस प्रकार यदि अवयवों को विभाजित करते चलें तो एक ऐसी स्थिति आ जाएगी कि जहां हमें यह विभाजन रोक देना पड़ेगा। यही स्थिति न्याय का परमाणु और वैज्ञानिकों का एटम है। यही परमाणुवाद का मूल आधार है। एक अणु से द्व्यणु और द्व्यणु से त्रसरेणु बनता है। यहां यह उल्लेखनीय है कि महत्त्व अणुत्व से सर्वथा भिन्न है और इस प्रकार अणु से महत्त्व उत्पन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार द्व्यणु और त्रसरेणु भी परिमाण वाले होते हैं, अणु नहीं। परमाणु की यह परिभाषा वाक्यवृत्ति में दी है—जालसूर्यमरीचिस्थं यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः। तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुः स उच्यते ॥

इस प्रकार यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अणु और द्व्यणु के परिमाण में क्या अन्तर है? परमाणु के परिमाण को पारिमाण्डल्य कहा जाता है। परिमाणस्य स्वसमानजातीयोत्कृष्टपरिणामजनकत्वनियमात् महदारब्धस्य महत्तरत्ववत् अणुजन्यस्याणुतरत्वप्रसङ्गात्।[2] अर्थात् द्व्यणु को अणु से अधिक सूक्ष्म होना चाहिए किन्तु यह असम्भव है, अतः यहां नैयायिक एक अपवाद नियम मानते हैं। वे यह कहते हैं कि प्रत्येक कार्य के परिमाण में तीन कारण होते हैं—परिमाण, संख्या और अवयवों की व्यवस्था। कणाद ने एक सूत्र दिया है—कारणबहुत्वाच्च और यहां 'च' शब्द से कारणमहत्त्व और प्रचयविशेष का ज्ञान होता है।[3] त्र्यणुक के

---

१. उपस्कारभाष्य, वैशेषिक दर्शन, ४. १. २.

२. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, १५ (पृ. ४१)

३. वस्तुतः हमारे द्वारा उद्धृत वैशेषिक सूत्रों में (देखिये पुस्तकसूची) सूत्र ही इस प्रकार है—कारणबहुत्वात् कारणमहत्त्वात् प्रचयविशेषाच्च महत्—वैशेषिकदर्शन ७. १, १२ अन्यत्र, कारणबहुत्वाच्च, इतना ही है।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सम्बन्ध में कारणमहत्त्व और प्रचय दोनों महत्त्वपूर्ण हैं किन्तु अणुत्व में संख्या ही महत्त्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध में कुछ मतभेद है। यह प्रश्न आता है कि त्रसरेणु के छठे भाग पर ही क्यों रुका जाय? कुछ लोग द्व्यणुक पर रुकने के पक्षपाती हैं किन्तु कोई भी परमाणु से आगे नहीं जाना चाहता। हाँ, वेदान्ती और सांख्य अवश्य परमाणु से आगे जाते हैं। कहीं भी जाकर हमें रुकना तो होगा ही अन्यथा अनवस्था दोष आ जाएगा। अतः परमाणु पर ही रुकना ठीक है। इसी तर्क को इस रूप में भी कहा जाता है कि घट पट से भिन्न क्यों है? इसका यह उत्तर दिया जाता है। कि उनके अवयव भिन्न हैं। किन्तु अन्ततः परमाणु भेद ही उनकी भिन्नता का कारण मानना होगा कि उसके परमाणु उससे भिन्न हैं। अन्ततः यह भेद परमाणुओं पर ही आकर रुकेगा। क्योंकि ये परमाणु अविभाज्य हैं, अतः उनका आकार भी समान ही होना चाहिए। अतः यदि मेरु में और एक छोटे कण में अन्तर है तो वह उनकी परमाणुओं की संख्या के कारण है। यदि हम यह न मानें तो यह मानना पड़ेगा कि उन दोनों के परमाणु भिन्न-भिन्न आकार वाले हैं किन्तु तब उनके भिन्न-भिन्न आकार का कोई कारण देना पड़ेगा। और यदि उन्हें भिन्न आकार वाला न मानकर एक ही संख्या वाला माना जाए, तो मेरु और सर्षप में तुल्यता हो जाएगी। परमाणुवाद के द्वारा इस कठिनाई को दूर किया जा सकता है। परमाणुगत संख्या को भेदक मानने से इस दोषका परिहार हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि किसी वस्तु का परमाणु अपने बहुत्व, महत्त्व और प्रचय विशेष के कारण भिन्न-भिन्न आकारों वाले पदार्थों को बना सकता है।

भारतीय और यूनानी परमाणुवाद : भारतीय परमाणुवाद बहुत कुछ यूनानी परमाणुवाद से मिलता जुलता है। ल्यूकिपस ने यह सिद्ध किया कि हर पदार्थ के कुछ अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु होते हैं जिनकी प्रकृति और आकृति एक दूसरे से भिन्न होती है। ऐपीक्यूरस ने उन्हें ऐटम नाम दिया। उसने इन परमाणुओं में एक आयताकार गति मानी जिसके अनुसार एक ही जाति के परमाणु परस्पर मिल जाते हैं। इन नित्य अविनाशी परमाणुओं से ही उसने सृष्टि की उत्पत्ति मानी। एम्पीडोक्लस और अनेक्सेगोरस ने परमाणुओं से ही मन और आत्मा को भी उत्पन्न माना। ल्यूकिपस और डेमोक्रिटस दोनों

पाठ है। तुलनीय, The Sacred Books of the Hindus, Vol VI, ७. १. ९.

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ही मन और आत्मा को परमाणुओं से बना हुआ नहीं मानते थे किन्तु कणाद मन को ही अणुरूप मानते थे यद्यपि आत्मा की वे पृथक् सत्ता मानते थे। आधुनिक युग में डाल्टन ने जिस परमाणुवाद का प्रचार किया, वह कणाद के परमाणुवाद से पर्याप्त मिलता है। यद्यपि शंकराचार्य और अन्य वेदान्ती आचार्यों की आलोचना ने परमाणुवाद की लोकप्रियता कम कर दी, किन्तु तब भी इस सिद्धान्त के मौलिक उद्भावक के रूप में कणाद का कम महत्त्व नहीं है।[1]

शब्दगुणकमाकाशम्। तच्चैकं विभु नित्यं च॥

शब्द है गुण (समवायसम्बन्ध से) जिसका वह आकाश है और वह एक, सर्वव्यापक तथा नित्य है।

(त. दी.) आकाशं लक्षयति—शब्दगुणकमिति। नन्वाकाशमपि किं पृथिव्यादिवन्नाना? । नेत्याह—तच्चैकमिति। भेदे प्रमाणाभावादित्यर्थः। एकत्वादेव सर्वत्रोपलब्धेर्विभुत्वमङ्गीकर्तव्यमित्याह—विभ्विति। सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वम्। मूर्तत्वं परिच्छिन्नपरिमाणवत्त्वं क्रियावत्त्वं वा। विभुत्वादेवात्मवन्नित्यमित्याह—नित्यं चेति॥

आकाश

आकाश की परिभाषा में यह विशेषता है कि जहां अन्य परिभाषाओं में गुण शब्द नहीं दिया गया है, वहां आकाश की परिभाषा में गुण शब्द भी दिया गया है, वाक्यवृत्ति और सिद्धान्तचन्द्रोदय के अनुसार इस शब्द का यहां समावेश भाट्टमीमांसकों के इस मत का खण्डन करने के लिये किया गया है, कि शब्द गुण नहीं है प्रत्युत पदार्थ है। न्यायबोधिनीकार और नीलकण्ठ का कहना है कि यहाँ गुण शब्द का प्रयोग विशेष गुण के अर्थ में किया गया है। अर्थात् इस शब्द के द्वारा यहाँ यह बतलाया गया है कि शब्द आकाश का गुण है और केवल आकाश का ही गुण है, अन्य किसी पदार्थ का नहीं। रूप, रस, इत्यादि अनेक पदार्थों में पाये जाते हैं किन्तु शब्द केवल आकाश में ही पाया जाता है और यही बतलाने के लिये यहाँ गुण शब्द का प्रयोग है। जहां तक मीमांसा के इस मत का सम्बन्ध है कि शब्द पदार्थ है, उसका खण्डन तो पहले ही शब्द को २४ गुणों के अन्तर्गत मानकर कर दिया गया है।

---

१. अथल्ये और बोडास, तर्कसंग्रह, पृ. १२५. १२६.

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सर्वदर्शनसंग्रह में आकाश की एक दूसरी परिभाषा दी गई है—संयोगाजन्यजन्यविशेषगुणसमानाधिकरणविशेषाधिकरणम् ।[1] अर्थात् आकाश एक विशेष गुण का आश्रय है, और वह गुण जन्य है किन्तु संयोगजन्य नहीं है। यद्यपि आत्मा भी विशेषगुण—समानाधिकरण—विशेषाधिकरण तो है किन्तु जन्य विशेष गुण उसमें नहीं है। जबकि आकाश में एक जन्य विशेष गुण अर्थात् शब्द रहता है। यद्यपि जन्य विशेष गुण तो परमाणुओं में भी रहते हैं, किन्तु परमाणुओं के वे जन्य विशेष गुण संयोगजन्य हैं। इस परिभाषा की भी अन्ततः यही परिणति है कि आकाश शब्द-गुण वाला है। अंग्रेजी का ईथर शब्द आकाश के लिये प्रयोग किया जाता है क्योंकि ईथर भी सर्वव्यापक है किन्तु ईथर केवल प्रकाश और ताप का माध्यम है जबकि आकाश शब्द का माध्यम है।

कणाद ने अपने वैशेषिक सूत्रों में यह सिद्ध किया है कि क्योंकि शब्द किसी अन्य द्रव्य का गुण नहीं हो सकता अतः वह आकाश का गुण है।[2] वस्तुस्थिति यह है कि परम्परा से चले आने वाले पांच तत्त्वों में आकाश की गणना प्रारम्भ से ही की जाती थी और नैयायिकों ने अपने सिद्धान्त के अनुकूल बनाकर उसका भी यहां समावेश कर लिया। यहां आकाश को एक बतलाया गया है क्योंकि जो हम घटाकाश या मठाकाश का प्रयोग करते हैं, वह केवल उपाधि के कारण है। आकाश सर्वव्यापक है, अतः उसे नित्य तो होना ही चाहिए। वह विभु है। दीपिका में विभुत्व की यह परिभाषा दी है—सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वम्। और मूर्तत्व की परिभाषा परिच्छिन्नपरिमाणत्वम् दी है। अर्थात् जिसका परिमाण सीमित है, वह मूर्त है और जिसका समस्त मूर्त पदार्थों से सम्बन्ध है, वह विभु है। न्यायबोधिनी में मूर्तत्व को क्रियावद्द्रव्यत्वम् कहा है। ये दोनों परिभाषाएं लगभग एक जैसी हैं क्योंकि वही द्रव्य जो सीमित परिमाण वाला है, क्रिया कर सकता है। मूर्त द्रव्य पांच हैं—आकाश, पृथ्वी, तेज, वायु और मन। इनकी गणना और गुणों का वर्णन भाषापरिच्छेद में इस प्रकार किया गया है—

क्षितिर्जलं तथा तेजः पवनो मन एव च।
परापरत्वमूर्तत्वक्रियावेगाश्रया अमी ॥[3]

---

१. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ. २१९
२. परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य, वैशेषिकसूत्र, २. १. २९
३. भाषापरिच्छेद, २५

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इनमें से प्रथम चार मूर्त हैं और भूत भी। किन्तु मनस् केवल मूर्त है भूत नहीं है। और आकाश केवल भूत है मूर्त नहीं है। मूर्त द्रव्य सीमित परिमाण वाले होते हैं। जबकि भूत द्रव्य के लिए यह आवश्यक शर्त नहीं है। उनके लिये आवश्यक यह है कि वे किसी कार्य का उपादानकारण बनें और इसीलिये मन जो किसी कार्य का उपादानकारण नहीं बनता, भूत द्रव्य नहीं है और आकाश शब्द का उपादानकारण बनने के कारण भूत है। आत्मा ज्ञान का अधिकरण है, उपादानकारण नहीं है और यह न भूत है, न मूर्त।

अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः। स चैको विभुर्नित्यश्च ॥

अतीतादि व्यवहार का जो (निमित्त) कारण हो वह काल और वह एक, सर्वव्यापक और नित्य है।

(त. दी.) कालं लक्षयति—**अतीतेति**। सर्वाधारः कालः सर्वकार्यनिमित्त-कारणं च ॥

काल

अन्नम्भट्ट ने काल की जो परिभाषा दी है वह व्यवहार के लिये ठीक है किन्तु उससे काल के तात्त्विक स्वरूप पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। अन्नम्भट्ट ने भूत, भविष्य आदि के व्यवहार के हेतु को काल कहा है। वाक्यवृत्ति में व्यवहार का अर्थ वाक्य प्रयोग रूप किया है। हेतु शब्द का अर्थ यहां असाधारण निमित्तकारण है। काल व्यवहार का निमित्त कारण है जबकि आकाश उसका उपादानकारण है क्योंकि व्यवहार शब्द के अतिरिक्त कुछ नहीं है। काल भूत भविष्यादि व्यवहार का असाधारण कारण है, इसलिये यह असाधारण निमित्तकारण है जबकि यह अन्य भी बहुत से कार्यों का निमित्त कारण है, किन्तु वहाँ इसकी असाधारण कारणता नहीं है। इस प्रकार यहाँ हेतु शब्द का असाधारण कारण अर्थ करने से आकाश में और दिशा आदि में अतिव्याप्ति नहीं होती और यह काल जो अन्य पदार्थों का भी कारण होता है, उसमें अव्याप्ति नहीं होती। किन्तु यहाँ काल की जो परिभाषा दी है उससे अतिरिक्त इसके कि जो हमारे भूत, भविष्य और वर्तमान के प्रयोग का कारण बनता है, वह काल है, कुछ ज्ञान नहीं होता। यह हमारे प्रतिदिन ज्ञान में आता है और हम इसे स्वतन्त्र द्रव्य इसी कारण मानते भी हैं।

विश्वनाथ ने काल की एक दूसरी परिभाषा दी है—

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः ।
परापरत्वधीहेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः ॥[1]

इसे संक्षेप में इस रूप में भी कह सकते हैं—परापरव्यतिकर-यौगपद्ययौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययकारणं द्रव्यं कालः ।[2] अर्थात् जिसके द्वारा हमें पौर्वापर्य या यौगपद्य या चिर और क्षिप्रता का ज्ञान होता है, वह काल है । इस परिभाषा में अन्नम्भट्ट के व्यवहार शब्द की जगह प्रत्यय शब्द का प्रयोग है । व्यवहार का अर्थ है भाषा और प्रत्यय का अर्थ है ज्ञान । वस्तुतः भाषा और ज्ञान अन्योन्याश्रित हैं ।

व्यवहार और प्रत्यय का हेतु होने के अतिरिक्त काल का वास्तविक स्वरूप क्या है, यह अभी भी विवादास्पद है । सांख्यदर्शन ने काल को आकाश के अन्तर्गत माना जबकि कुछ नव्य नैयायिक काल और दिशा को ईश्वर रूप मानते हैं । काल अमूर्त है, और अदृश्य है, अतः केवल अनुमेय है । जो परत्व अपरत्वका असमवायी कारण है वह काल है ।[3] काल के ही औपाधिक भेद क्षणादि हैं ।

जिस प्रकार घटाकाश और मठाकाश उपाधिजन्य होने के कारण असत्य हैं उसी प्रकार काल भी एक है, उसके भेद अवास्तविक हैं । कुछ नैयायिक क्षणात्मक काल को ही प्रमुख मानते हैं, किन्तु अन्नम्भट्ट उनके समर्थक नहीं हैं । आधुनिक समय में काण्ट जैसे दार्शनिकों ने काल का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन किया है और यह माना है कि काल और आकाश हमारी सब अनुभूतियों में अनुस्यूत रहने वाले अन्तिम तथ्य हैं ।

प्राच्यादिव्यवहारहेतुर्दिक् । सा चैका, विभ्वी नित्या च ॥

प्राची आदि व्यवहार की जो कारण हो वह दिशा है । और वह एक, सर्वव्यापिनी तथा नित्य है ।

(त. दी.) दिशो लक्षणमाह—प्राचीति । दिगपि कार्यमात्रे निमित्तकारणम् ।

---

१. भाषापरिच्छेद, ४५-४६
२. उपस्कारभाष्य, वैशेषिक सूत्र, ७. १. २५
३. उपरिवत्, २.२. ६

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

दिक्

दिक् की परिभाषा भी लगभग काल की परिभाषा के आधार पर दी गई है। विश्वनाथ ने इसकी परिभाषा दी है—दूरान्तिकादिधीहेतु :।[1] सर्वदर्शनसंग्रह में इसकी परिभाषा और भी अधिक पारिभाषिक शब्दावलि में दी गई है—अकालत्वे सत्यविशेषगुणा महती[2]। अर्थात् दिक् वह है जो काल से भिन्न है और महान् है और जिसमें कोई विशेष गुण नहीं है। दिशा के जो चार या दस भेद माने जाते हैं वे उपाधि-जन्य हैं। यद्यपि समय और दिशा का भेद स्पष्ट है किन्तु वह भेद बहुत सूक्ष्म है। काल कालिकपरत्व का कारण है और दिक् देशिकपरत्व का। काल की उपाधि या तो कोई जन्य पदार्थ है या क्रिया। किन्तु दिक् की उपाधि मूर्त पदार्थों से सम्बद्ध है। एक दूसरा भेद भी काल और दिक् में किया जाता है—नियतोपाध्युन्नायकः कालः। अनियतोपाध्युन्नायिका दिक्[3]। अर्थात् काल के सम्बन्ध निरन्तर होते हैं क्योंकि जब एक पदार्थ की अपेक्षा किसी काल को भूत या भविष्य कहा जाता है तो उस पदार्थ की अपेक्षा वह काल भूत या भविष्य ही बना रहता है। किन्तु दिक् के क्षेत्र में एक दिशा एक पदार्थ के पूर्व में है, तो दूसरे समय वही दिशा उस पदार्थ के पश्चिम में भी हो सकती है किन्तु यह भेद बहुत सूक्ष्म दृष्टि से नहीं किया गया। क्योंकि जो घटना एक समय की अपेक्षा भूतकाल की है, वही घटना दूसरे समय की अपेक्षा वर्तमान या भविष्यकाल की हो सकती है। आकाश की तरह दिक् भी अनुमेय है।

दिक् और आकाश का अन्तर बहुत सूक्ष्म है, तथापि वह स्पष्ट है। आकाश भूत है, दिक् नहीं है। आकाश का शब्द विशेष गुण है, दिक् का कोई विशेष गुण नहीं है। दिक् काल की तरह सभी कार्यों का साधारण कारण है, किन्तु आकाश पृथ्वी आदि की तरह एक विशेष गुण का असाधारण कारण है अर्थात् शब्द का। आकाश का सम्बन्ध भूतों से है, दिक् का सम्बन्ध मन से। आकाश की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है, दिक् प्रमाता के अनुभव पर आधारित है। किन्तु प्रश्न यह है कि नैयायिकों ने आकाश और दिक् का जो स्वरूप दिया है, चाहे वह स्वरूप परस्पर भिन्न हो, किन्तु इन दोनों को पृथक्-पृथक् मानने की आवश्यकता ही क्या है ? ऐसा लगता है

---

१. भाषापरिच्छेद, ४६
२. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० २१९
३. उपस्कारभाष्य, वैशेषिक सूत्र, २. २. १०

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कि शब्द को उत्पन्न करने वाले आकाश से सभी कार्यों के साधारण कारण रूप, स्थान को भिन्न मानना आवश्यक था। जो शब्द को जन्म देता है, वह भूत होना चाहिए किन्तु जो परत्व अपरत्व जैसे सम्बन्धों का निमित्त कारण मात्र है, उसकी सत्ता वास्तविक नहीं, प्रत्युत मानसिक है। ऐसा लगता है कि पंचभूतों के अन्तर्गत आकाश को परम्परा के अनुसार मान लेने के बाद नैयायिकों को एक ऐसे अतिरिक्त पदार्थ की भी कल्पना करनी पड़ी जो परत्व, अपरत्व जैसे सम्बन्धों का कारण बने।

ज्ञानाधिकरणमात्मा। स द्विविधः-परमात्मा जीवात्मा च। तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मैक एव। जीवात्मा प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च॥

ज्ञान का जो (समवायसम्बन्ध से) अधिकरण हो वह आत्मा है। वह दो प्रकार का है-परमात्मा और जीवात्मा। इनमें सर्वज्ञ परमात्मा तो एक ही है। जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न, सर्वव्यापक और नित्य है।

(त. दी.) आत्मनो लक्षणमाह—ज्ञानेति॥ आत्मानं विभजते—स द्विविध इति। परमात्मनो लक्षणमाह—तत्रेति नित्यज्ञानाधिकरणत्वमीश्वरत्वम्॥ नन्वीश्वरस्य सद्भावे किं प्रमाणम्? न तावत्प्रत्यक्षम्, तद्धि बाह्यमाभ्यन्तरं वा?। नाद्यम्, अरूपिद्रव्यत्वात्। नान्त्यम्, आत्मसुखादिव्यतिरिक्तत्वात्। नाप्यनुमानम्; लिङ्गाभावात्। नाप्यागमः, तथाविधागमाभावादिति चेत्—न; क्षित्यंकुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वाद्, घटवदित्यनुमानस्य प्रमाणत्वात्। उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वं कर्तृत्वम्। उपादानं समवायिकारणम्। सकलपरमाण्वादिसूक्ष्मदर्शित्वात्सर्वज्ञत्वम्। "यः सर्वज्ञः स सर्ववित्" इत्याद्यागमोऽपि तत्र प्रमाणम्॥

जीवस्य लक्षणमाह—जीव इति। सुखाद्याश्रयत्वं जीवलक्षणम्°। ननु 'मनुष्योऽहं, ब्राह्मणोऽहम्' इत्यादौ सर्वत्राहंप्रत्यये शरीरस्यैव विषयत्वाच्छरीरमेवात्मेति चेत्—न; शरीरस्यात्मत्वे करपादादिनाशे सति शरीरनाशादात्मनोऽपि नाशप्रसङ्गात्। नापीन्द्रियाणामात्मत्वम्; तथात्वे 'योऽहं घटमद्राक्षं सोऽहमिदानीं त्वचा स्पृशामि' इत्यनुसंधानाभावप्रसङ्गादन्यानुभूतेऽन्यस्यानुसंधानायोगात्। तस्माद्देहेन्द्रियव्यतिरिक्तो जीवः। सुखदुःखादिवैचित्र्यात्प्रतिशरीरं भिन्नः। स च न परमाणुपरिमाणः; शरीरव्यापिसुखाद्यनुपलब्धिप्रसङ्गात्। न मध्यमपरिमाणः; तथा सत्यनित्यत्वप्रसङ्गे न कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गात्। तस्मान्नित्यो विभुर्जीवः॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आत्मा

आत्मा को ज्ञानाधिकरण कहा है। यहां अधिकरण से अभिप्राय समवाय सम्बन्ध से अधिकरण है अन्यथा कालिक और देशिक सम्बन्ध से तो काल और दिक् सभी पदार्थों के अधिकरण हैं। आत्मा को दो प्रकार का माना गया है—परमात्मा और जीवात्मा। परमात्मा सर्वज्ञ है जबकि जीवात्मा विभु, नित्य और प्रत्येक प्राणी में पृथक्-पृथक् है। अमूर्त होने के कारण आत्मा केवल अनुमेय है। इन्द्रियां और उनके विषय का पारस्परिक सम्बन्ध यह सिद्ध करता है कि उनका ज्ञाता और भोक्ता कोई होना चाहिए। करणव्यापारः सकर्तृकः। करणव्यापारत्वात्। छिदिक्रियायां वास्यादिव्यापारवत्[1] अर्थात् इन्द्रियों के व्यापार का कोई कर्त्ता होना चाहिए क्योंकि प्रत्येक कारण का कोई कर्त्ता होता है जिस प्रकार छेदन की क्रिया में परशु। कणाद का सूत्र भी लगभग यही तर्क देता है—इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः[2]। किन्तु गौतम के अनुयायी अर्थात् नैयायिक इस अनुमान का प्रयोग केवल परमात्मा की सिद्धि के लिए आवश्यक मानते हैं, जीवात्मा की सिद्धि के लिए नहीं, क्योंकि उनके अनुसार जीवात्मा का प्रत्यक्ष साक्षात् किया जा सकता है। आत्मा की सत्ता के लिए एक दूसरा तर्क भी दिया जाता है—बुद्ध्यादयः पृथिव्याद्यष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रिताः। पृथिव्याद्यष्टद्रव्यानाश्रितत्वे सति गुणत्वात्। यन्नैवं तन्नैवं, यथा रूपादि।[3] अर्थात् बुद्धि से लेकर अधर्म पर्यन्त जो आठ गुण हैं उनका कोई अधिकरण होना चाहिए और वह अधिकरण पृथ्वी आदि जड़ पदार्थ नहीं हो सकते। अतः आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है।

आत्मा की दो परिभाषायें हैं—आत्मत्वसामान्यवान्[4] तथा अमूर्तसमवेतद्रव्यत्वापरजातिमत्त्वम्[5]। इनमें दूसरी परिभाषा के अनुसार आत्मत्व अमूर्त-पदार्थ-समवेत हैं। आकाश, काल, दिक् और आत्मा चार अमूर्त पदार्थों में से प्रथम तीन तो केवल एक-एक ही हैं, अतः उनकी जाति नहीं हो सकती। आत्मत्व ही एक

---

१. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ० २०९
२. वैशेषिकसूत्र, ३, १·२·२
३. उपरिवत्, ३.२.४
४. तर्ककौमुदी, पृ० ३
५. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १०४

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जाति हो सकती है। यह कहा जा सकता है कि आत्मत्व भी सब आत्माओं में नहीं रह सकता क्योंकि आत्मा भी दो प्रकार की है—जीवात्मा और परमात्मा। किन्तु इसका उत्तर यह कहकर दिया जाता है कि सभी प्रकार की आत्माओं में ज्ञान रहता है, अतः उनकी एक जाति हो सकती है। किन्तु इस उत्तर से यह स्पष्ट हो जाता है कि नैयायिक दो भिन्न प्रकार के पदार्थों में भी यदि एक समान गुण देखते थे तो उसे एक जाति मान लेते थे। परमात्मा और जीवात्मा में से एक सर्वज्ञ और एक है, दूसरा अल्पज्ञ और अनेक है। एक स्रष्टा है, दूसरा उस स्रष्टा के हाथ का खिलौना। एक सुख दुख रहित है, दूसरा सुख दुख का अनुभव करता है। फिर भी उन दोनों को एक ही जाति के अन्तर्गत मान लिया गया है जबकि जिस एक गुण, ज्ञान, के आधार पर उनकी एक जाति मानी गई है, वह ज्ञान भी परमात्मा में नित्य है और जीवात्माओं में नित्य। इसी कारण आत्मा की परिभाषा ज्ञानाधिकरण दी गई है।

परमात्मा और जीवात्मा को एक ही जाति में जिस प्रकार रखा गया है, उससे कुछ लोगों को यह अनुमान है कि कणाद का अभिप्राय आत्मा से केवल जीवात्मा था, परमात्मा नहीं और बाद के टीकाकारों ने परमात्मा को उसमें जोड़ दिया। जो तर्क जीवात्मा को सिद्ध करने के लिये दिये जाते हैं, वे परमात्मा पर लागू भी नहीं होते। कणाद या गौतम ने कहीं परमात्मा का नामतः निर्देश भी नहीं किया। कुछ लोगों का कहना है कि मूलतः न्याय और वैशेषिक दर्शन नास्तिक थे। किन्तु इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि गौतम और कणाद का उद्देश्य दृश्यमान् जगत् का विश्लेषण करना है और इसलिए उन्होंने परमात्मा की चर्चा नहीं की। स्वय प्रशस्तपाद ने भी परमात्मा का कोई निर्देश नहीं किया। किन्तु उसके टीकाकार श्रीधर ने जीवात्माओं के साथ परमात्मा का भी उल्लेख किया। यद्यपि परमात्मा में केवल ६ और जीवात्मा में १४ गुण हैं[1] किन्तु नैयायिक प्रायः जब आत्मा कहते हैं तो उनका उद्देश्य जीवात्मा से ही होता है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि नैयायिकों ने अन्य जड़ पदार्थों के साथ ही आत्मा का भी उल्लेख कर दिया है और इस प्रकार जड़ और चेतन में जो मौलिक भेद है, उसे कोई महत्त्व नहीं दिया।

ईश्वर की सिद्धि—तर्कदीपिका में ईश्वर की सिद्धि के लिये तर्क दिया

---

१. न्यायकन्दली, पृ० १०

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

गया है। यह तर्क चार्वाक और बौद्ध लोगों के खण्डन के रूप में है जिनका यह कहना है कि परमात्मा न तो प्रत्यक्षगोचर है, न बुद्धिगम्य और न उसमें सुख दुख की अनुभूति है। परमात्मा अनुमान से भी सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि वह ऐसा पदार्थ है जिसके समर्थन में कोई तत्सदृश उदाहरण नहीं दिया जा सकता। आगम प्रमाण तो इसलिए नहीं माना जा सकता कि प्रथम तो आगम सर्वसम्मत नहीं है और दूसरे वेदों की प्रमाणिकता ईश्वर के अस्तित्व पर ही आधारित है। दीपिकाकार ने ईश्वर की सिद्धि के लिये निम्न अनुमान दिया है—क्षित्यंङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात्। यद्यत्कार्यं तत्कर्तृजन्यं यथा घटः। अर्थात् विश्व यदि कार्य है तो इसका कोई कर्ता भी होना चाहिए और यही कर्ता परमात्मा है। यहां यह तर्क चार मान्यताओं पर आधारित है—१. सर्वत्र कार्यकारण भाव है, अर्थात् प्रत्येक कार्य का कोई कारण होता है। २. प्रत्येक कार्य का कर्ता कोई चेतन होता है। ३. संसार एक कार्य है। ४. इस कार्य का कर्ता एक असाधारण सत्ता है। कार्यकारण सम्बन्ध तो स्वतः सिद्ध है और अनुभव सिद्ध भी है। दूसरे सत्य को भी हम अनुभव के आधार पर सिद्ध कर सकते हैं। सृष्टि के लिये परमाणुओं में गति चाहिए और उस गति के पीछे कोई प्रयत्न या इच्छा चाहिए। और इच्छा केवल चेतन सत्ता में ही हो सकती है और यह चेतन सत्ता ऐसी होनी चाहिए जो संसार की सृष्टि से पूर्व भी हो। संसार एक कार्य है—यह तो देखने में ही आता है क्योंकि यहां पदार्थों का जन्म, वृद्धि और मृत्यु होती है। इसके अतिरिक्त संसार में प्रत्येक घटना इतनी नियमितता से हो रही है कि हमें यह मानना पड़ेगा कि उसके पीछे किसी बुद्धिमान् सत्ता का हाथ है। वह केवल अदृष्ट की रचना नहीं हो सकती और ईश्वर के सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् मानने पर ही यह सम्भव होगा कि हम उसे सृष्टि का स्रष्टा और ध्वंस करने वाला मान सकें।

दीपिका में कर्तृत्व की यह परिभाषा दी है—उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वम्। अर्थात् कर्ता को उपादान कारण का साक्षात् ज्ञान होना चाहिए, कार्य की इच्छा होनी चाहिए और कार्यानुकूल प्रयत्न होना चाहिए। ज्ञान, इच्छा, और कृति परस्पर सम्बद्ध हैं। बिना ज्ञान के इच्छा और बिना इच्छा के कृति नहीं हो सकती। उपादान कारण का भी प्रत्यक्ष ज्ञान ही कार्यकारी है, परोक्ष ज्ञान नहीं। कुछ विचारकों का मत है कि केवल कृतिमत्त्व ही कर्तृत्व की पर्याप्त परिभाषा है क्योंकि कृति में ज्ञान और इच्छा तो निहित ही हैं। इस प्रकार ईश्वर को संसार का निर्माण करने के लिये समस्त

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पदार्थों के परमाणुओं का, जिनसे यह विश्व बनता है, साक्षात् ज्ञान होना चाहिए, सृजन की इच्छा होनी चाहिए और तदनुकूल प्रयत्न भी होना चाहिए। इनसे ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान स्वतः सिद्ध हो जाता है।

उदयनाचार्य ने अपनी न्यायकुसुमांजलि में ईश्वर की सत्ता को प्रमाणित करने के लिए नौ तर्क दिये हैं जो निम्न कारिका में संगृहीत हैं:—

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥[1]

अर्थात् कार्य, आयोजन, धारणा, पारम्परिक कार्यकुशलता, प्रामाणिकता, श्रुति, उसके वाक्य, संख्या इन कारणों से एक अव्यय सर्वज्ञ सत्ता की स्थिति प्रमाणित होती है। इनमें से प्रथम तर्क तो वही है जिसकी चर्चा हमने ऊपर की कि यदि संसार एक कार्य है तो उसका कर्ता भी एक होना चाहिए। दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि परमाणुओं को जोड़कर द्व्यणु बनाने के लिये भी एक बुद्धिमान् कर्ता होना चाहिए। तीसरा तर्क यह है कि संसार को धारण करने वाली शक्ति होनी चाहिए। कारिका में जो 'आदि' शब्द दिया है उसका यह अभिप्राय है कि धारण के साथ-साथ जन्म देने वाली और और ध्वंस करने वाली शक्ति भी माननी होगी। चौथा कारण यह दिया गया है कि जो परम्परा से वस्त्र को बुनने इत्यादि की कलाएँ चली आती हैं, उनका सर्वप्रथम कोई ऐसा आविष्कारक होना चाहिए, जिसने उन्हें किसी से सीखा न हो। छठा कारण वेदों के ज्ञान की प्रामाणिकता है और सातवां कारण स्वयं वेद के वे वाक्य हैं जो ईश्वर की सत्ता बतलाते हैं। आठवां कारण वेदवाक्य हैं जिनका कोई कर्ता होना चाहिये। नवां कारण संख्या है। परमाणुओं में द्वित्वादि संख्या अपेक्षा-बुद्धि-विशेष-विषयत्व रूप है। यह अपेक्षा-बुद्धि जिस चेतन में होगी वही ईश्वर है।[2] इसके अतिरिक्त भी न्यायकुसुमांजलि में उदयनाचार्य ने यह कहा है कि अदृष्ट को नियमित करने के लिये भी कोई सत्ता माननी होगी। यहां जो तर्क ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिये दिये गये हैं, उनमें से बहुतों का प्रयोग अरस्तू ने और पाले जैसे आधुनिक लेखकों ने भी किया है और इस प्रकार

---

१. न्यायकुसुमाञ्जलि, ५.१
२. प्रशस्तपादभाष्य, पृ. १३१

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

न्यायसूत्रों में जिस ईश्वर की सत्ता केवल धुंधले रूप में दी गई थी, उसकी सत्ता अब विशेष रूप से सिद्ध की गई ।

सभी नैयायिक ईश्वर की सत्ता को तो मानते हैं, पर उसके स्वरूप के सम्बन्ध में सहमत नहीं हैं। कुछ उसको किसी प्रकार का अदृष्ट न होने के कारण अशरीरी मानते हैं, क्योंकि शरीर को भोगायतन माना गया है और भोग अदृष्ट के बिना नहीं होता। एक दूसरे मत के लोग यह मानते हैं कि ईश्वर के अदृष्ट न होने पर अन्य जीवों के अदृष्टाधीन उसका शरीर हो सकता है[1] कुछ लोग परमाणुओं को ईश्वर का शरीर मानते हैं। कुछ लोग परमाणुओं को आकाश का शरीर मानते हैं। एक अन्य मत यह है कि एक तो ईश्वर का अपना शरीर है और एक उसका शरीर यह संसार है। एक ऐसा विचित्र मत भी है कि जिस प्रकार प्रेत किसी मनुष्य शरीर को धारण कर लेता है, उसी प्रकार ईश्वर भी शरीर को धारण कर लेता है। मूल प्रश्न यह है कि बिना शरीर के और इन्द्रियों के ईश्वर सृजन कैसे कर सकता है ?

संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न—ईश्वर के ये आठ गुण हैं ।[2] उसमें धर्म अधर्म नहीं है। उसमें दुख भी नहीं है। किन्तु इस सम्बन्ध में मतभेद है कि उसमें आनन्द है या नहीं। नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म—जैसे श्रुति वाक्यों में नव्य नैयायिक आनन्द का अर्थ सुख मानते हैं किन्तु प्राचीन नैयायिक आनन्द का अर्थ केवल दुःखाभाव मानते हैं।

दीपिका में आत्मा की परिभाषा 'सुखाद्याश्रयः' कहकर दी गई है। जीव को कभी इन्द्रियाद्यधिष्ठाता, कभी बन्धमोक्षयोग्य, कभी जन्यज्ञानवान् कहा जाता है। ये सभी गुण जीवात्मा को परमात्मा से विविक्त करने के लिये हैं। चार्वाक के अनुसार शरीर ही आत्मा है क्योंकि जब हम कहते हैं कि मैं ब्राह्मण हूं या मेरा शरीर है या 'मैं' अन्धा हूं तो हम 'मैं' से देह को ही कहते हैं चाहे वह देह हो या उसका एक भाग या उसकी एक इन्द्रिय । दीपिका इसके विरुद्ध यह युक्ति देती है कि यदि इन्द्रियों को ही आत्मा माना जाय तो शरीर में बहुत सी आत्माएं माननी होंगी और यह अनुभूति कि जिसने घट को देखा वही उसे छू रहा है, नहीं हो सकेगी क्योंकि घट को देखा चक्षु ने था और छू स्पर्शेन्द्रिय रही है। जीवात्माएं न्यायदर्शन में अनेक मानी जाती हैं क्योंकि हरेक को सुख दुख का पृथक्-पृथक् अनुभव होता है। इसके अतिरिक्त नवजात शिशु

१. तुलनीय गीता, १८.१४
२. भाषापरिच्छेद, ३४

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

में भी स्तनपान इत्यादि की क्रियायें इतने स्वाभाविक ढंग से होती हैं कि यदि वह पूर्व जन्म के संस्कार लेकर आया हो तभी यह हो सकता है और इस प्रकार पूर्व जन्म का सिद्धान्त भी मानना होगा। आत्मा या तो सर्वव्यापक हो सकती है या मध्यम परिमाण वाली। यदि आत्मा को परिमाणु के परिमाण वाली मानें तब तो समस्त शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में होने वाले सुख और दुख का अनुभव वह नहीं कर सकेगी। यदि आत्मा को मध्यम परिमाण वाली मानें तो उसके परिमाण को घटा या बढ़ा कर नष्ट किया जा सकेगा। यदि आत्मा को शरीर परिमाणी मानें, जैसाकि जैन लोग मानते हैं, तो यह कठिनाई आएगी कि बालक के छोटे शरीर की छोटी आत्मा बालक के बढ़ जाने पर बढ़ कैसे जाती है और इस प्रकार एक जन्म में चींटी के परिमाण वाली आत्मा दूसरे जन्म में हाथी के परिमाण वाली कैसे हो जाती है। यह भी मानना उस स्थिति में कठिन होगा कि वह एक ही आत्मा है जिसके भिन्न-भिन्न परिमाण हैं। अतः आत्मा को सर्वव्यापक मानना चाहिए। यह कहा जा सकता है कि यदि आत्मा सर्वव्यापक है तो सबके सुख-दुख का अनुभव उसे होना चाहिए। किन्तु इसका उत्तर यह है कि आत्मा स्वयं अनुभव नहीं करती केवल मन की सहायता से अनुभव करती है और यह मन हर शरीर में पृथक्-पृथक् है।

इस सम्बन्ध में एक यह भी चर्चा आती है कि आत्मा को प्रत्यक्ष जाना जा सकता है या वह आकाश के समान अनुमेय है। आत्मा का अनुमान जिन चिह्नों से लग सकता है, वे कणाद के इस सूत्र में दिये गये हैं—प्राणापान-निमेषोन्मेषजीवन-मनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिंगानि।[1] आत्मा के चौदह गुण हम पहले ही बतला चुके हैं।

सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। तच्च प्रत्यात्मनियतत्वादनन्तं परमाणुरूपं नित्यं च॥

जो इन्द्रिय सुखादि के ज्ञान का साधन है वह मन है और वह प्रत्येक आत्मा से (पृथक्-पृथक्) सम्बद्ध होने के कारण अनन्त, परमाणुरूप और नित्य है।

(त. दी.) मनसो लक्षणमाह—सुखेति। स्पर्शरहितत्वे सति क्रियावत्त्वं मनसो लक्षणम्। मनो विभजते—तच्चेति। एकैकस्यात्मन एकैकं मन आवश्यकम्

---

१. वैशेषिक सूत्र, ३.२.४

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इत्यात्मनोऽनेकत्वान्मनसोऽप्यनेकत्वमित्यर्थः । परमाणुरूपमिति । मध्यमपरिमाणत्वेऽनित्यत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । ननु मनो नाणु, किन्तु विभु, स्पर्शरहितद्रव्यत्वादाकाशवदिति चेत्, न; मनसो विभुत्व आत्ममनःसंयोगस्यासमवायिकारणस्याभावाज्ज्ञानानुत्पत्तिप्रसङ्गात् । न च विभुद्वयसंयोगोऽस्त्विति वाच्यम्; तत्संयोगस्य नित्यत्वेन सुषुप्त्यभावप्रसङ्गात् । पुरीतद्व्यतिरिक्तप्रदेश आत्ममनःसंयोगस्य सर्वदा विद्यमानत्वात् । अणुत्वे तु यदा मनः पुरीतति नाड्यां प्रविशति तदा सुषुप्तिः । यदा निःसरति तदा ज्ञानोत्पत्तिरित्यणुत्वसिद्धिः ॥

मन

मन केवल एक साधन ही नहीं है, जिसके द्वारा हम मनन करते हैं, प्रत्युत सुख दुख जैसी आन्तरिक अनुभूतियों के साथ-साथ बाह्य इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले भावों में भी यह सहायक है। यह नहीं, बल्कि नैयायिक तो मन का वह रूप अधिक प्रधान मानते हैं जो बाह्य पदार्थों को ग्रहण करता है और विचार के साधन के रूप में इसके स्वरूप को गौण मानते हैं। कैसी भी स्थिति हो, यह मानना होगा कि यह स्वयं एक इन्द्रिय भी है और अन्य इन्द्रियों का सहायक भी है। अन्नम्भट्ट ने मन की जो परिभाषा दी है, वह उसके सुख दुख इत्यादि आन्तरिक भावों को उपलब्ध करने वाली इन्द्रिय के रूप में दी गई है । इसके अतिरिक्त यहां पर 'उपलब्धि' शब्द भी ध्यान देने योग्य है क्योंकि मन केवल साधन ही नहीं है, जिस प्रकार कि अन्य इन्द्रियां हैं, प्रत्युत साक्षात् आन्तरिक ज्ञान का भी कारण है । वाक्य वृत्ति में कहा गया है कि यहां सुखादि का अर्थ आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहने वाले समस्त गुण हैं। यहां यह प्रश्न आता है कि इन्द्रिय शब्द क्यों रखा गया ? यह कहा जाता है कि आत्मा और आत्मा एवं मन का संयोग भी सुखादि के ज्ञान में साधन हैं और उनमें अतिव्याप्ति न हो, इसलिये यहाँ इन्द्रिय शब्द दिया गया है। किन्तु इस अतिव्याप्ति का समाधान 'साधन' पद से भी हो सकता था, क्योंकि साधन का अर्थ करण है और आत्ममनःसंयोग व्यापार है, करण नहीं तथा आत्मा भी करण नहीं प्रत्युत प्रमाता मात्र है। संभव है कि यहां इन्द्रिय शब्द का प्रयोग उन लोगों का खंडन करने के लिये किया गया हो जो मन को इन्द्रिय नहीं मानते ।

दीपिका में मन की परिभाषा यह दी है—स्पर्शरहितत्वे सति क्रियावत्त्वम्। यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से इस परिभाषा में कोई दोष नहीं, किन्तु यह मन के स्वरूप को उतना स्पष्ट नहीं करती, जितना मूल तर्क संग्रह की परिभाषा ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन इन पांच पदार्थों में पहले चार तो सर्वव्यापक होने के कारण क्रियावान् हो नहीं सकते, केवल अन्तिम मन ही क्रियावान् है। मन अणु होने के कारण अनुमेय है। जब भी हम कोई व्यापार देखते हैं तो उसका करण मानना होता है। सिद्धान्तचन्द्रोदय में मन के अनुमान का प्रकार यह दिया है—सुखादिसाक्षात्कारः करणसाध्यः। जन्यसाक्षात्कारत्वाच्चाक्षुषसाक्षात्कारवत्। कणाद और गौतम ने मन के लिये जो प्रमाण दिये हैं, वे इस अनुमान से कहीं अधिक विश्वस्त हैं। कणाद का सूत्र है—आत्मेन्द्रियार्थसंनिकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्[1] अर्थात् कभी आत्मेन्द्रियार्थ सन्निकर्ष रहने पर भी पदार्थ का ज्ञान होता है और कभी नहीं। इस अन्वय-व्यतिरेक से मन की सत्ता सिद्ध होती है। गौतम का कहना है कि हमें बहुत से ज्ञान युगपत् नहीं हो सकते प्रत्युत क्रमशः होते हैं और यह इस बात का प्रमाण है कि मन अणु है और आणविक पदार्थ से एक साथ दो पदार्थों का सन्निकर्ष नहीं हो सकता। तुलना कीजिये—युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्।[2]

जितने मनुष्य हैं प्रत्येक का पृथक्-पृथक् मन है। 'तच्च प्रत्यात्मनियतत्वात्' इत्यादि में वाक्यवृत्ति में नियत शब्द का यह अर्थ दिया गया है कि मन उन पदार्थों का जिनका आत्मा से समवाय सम्बन्ध है और उन पदार्थों का जिनका आत्मा से समावाय सम्बन्ध नहीं है, समान रूप से बोध कराता है—अत्र समवेतकारणत्वे सत्यसमवेतभोगकारणत्वं नियतत्वशब्दार्थः। सम्भव है कि नियत शब्द का यह अर्थ हो कि एक ही मन जन्म जन्मान्तर में आत्मा के साथ रहता है। क्योंकि यदि हम इस प्रकार नहीं मानें तो यह सम्भव नहीं होगा कि एक जन्म के संस्कार दूसरे जन्म में भी जाएं। यहां यह उल्लेख कर देना उचित होगा कि कुछ लोग मनस्त्व को जाति मानते हैं, कुछ नहीं मानते।

मन का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण गुण उसका अणुत्व है। क्योंकि आत्मा और बाह्य इन्द्रियों के बीच में सम्बन्ध स्थापित करने के लिये यह आवश्यक है। मीमांसक यह मानते हैं कि मन विभु है—मनो विभु। स्पर्शात्यन्ताभाववत्त्वादाकाशवत्, अथवा मनो विभु। विशेषगुणशून्यद्रव्यत्वात् कालवत्, अथवा मनो विभु। ज्ञानासमवायिकारणसंयोगाधारत्वादात्मवत्।[3]

---

१. वैशेषिक सूत्र ७.२.१

२. न्यायसूत्र, १ १.१६

३. उपस्कारभाष्य, वैशेषिक सूत्र, पृ० १०२

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

दीपिका में यह युक्ति भी दी गई है कि यदि मन सर्वव्यापक है तो उसका सर्वव्यापक आत्मा से संयोग नहीं हो सकता और इस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति भी नहीं होगी, क्योंकि न्यायसिद्धान्त के अनुसार दो सर्वव्यापक पदार्थों का संयोग नहीं होता। यदि मीमांसक यह कहे कि वह इस सिद्धान्त को नहीं मानता तो दीपिका में इसका यह उत्तर है कि यदि सर्वव्यापक आत्मा का सर्वव्यापक मन से संयोग मान भी लिया जाय तो वह संयोग नित्य होगा और इस प्रकार निद्रा की सम्भावना नहीं रहेगी।

नैयायिकों का कहना है कि मन पुरीतत् नामक शरीर की एक नाड़ी में जब प्रविष्ट हो जाता है तो उसका आत्मा से संयोग नहीं रहता और इस लिए उस समय ज्ञान नहीं रहता। किन्तु यदि मन को सर्वव्यापक मान लें तो पुरीतत् में प्रविष्ट होने का प्रश्न नहीं आएगा क्योंकि सर्वव्यापक तो उसके अन्दर भी पहले से ही है और बाहर भी है। अतः संयोग नित्य बना ही रहेगा। किन्तु यहां नैयायिकों के सिद्धान्त में भी यह दोष आता है कि यदि मन अणुप्रमाण होने से पुरीतत् में पहले से नहीं होता, वहां बाद में प्रविष्ट होता है, तब भी आत्मा तो सर्वव्यापक होने के कारण, वहां पहले से ही होता ही है और इस प्रकार पुरीतत् में भी आत्मा और मन का संयोग बना ही रहेगा और वस्तुतः इस स्थिति में कठिनाई और भी बढ़ जाएगी क्योंकि नैयायिक यह भी नहीं कह सकता कि दो सर्वव्यापक पदार्थों का संयोग नहीं होता क्योंकि यहां तो मन सर्वव्यापक है ही नहीं। एक दूसरा कारण यह दिया जाता है कि पुरीतत् में त्वगिन्द्रिय नहीं है और मन को ज्ञान के लिये त्वग् का संयोग आवश्यक है—त्वङ्मनःसंयोगो ज्ञानसामान्ये कारणमित्यर्थः।[1] यहां यह कहा जा सकता है यदि इन्द्रियों का मन से संयोग नहीं रहता, तो आत्मा से संयोग होने पर भी उसे ज्ञान नहीं होता और निद्रा आ जाती है।

पुरीतत् हृदय के निकट एक नाड़ी मानी जाती है जिसमें निद्रा के समय मन चला जाता है। दिनकर भट्ट ने इस प्रक्रिया को इन शब्दों में कहा है—"प्रथम सुषुप्त्यनुकूलमनःक्रियया मनसाऽऽत्मनो विभागः, तत आत्ममनः-संयोग-नाशः, ततः पुरीतदात्मकोत्तरदेशेन मनसः संयोग उत्पद्यते; सैव सुषुप्तिः[2] नैयायिकों का यह पुरीतत् का सिद्धान्त बृहदारण्यक उपनिषद् में निम्न शब्दों में प्राप्त होता है—"अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न तस्य च वेद हिता नाम नाड्यो

---

१. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ० १२८
२. दिनकरीव्याख्या, पृ० १८४

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते[1] इस श्रुति में यह कहा गया है कि शरीर की ७२,००० नाड़ियों में से होकर वह उसमें प्रविष्ट होकर सोता है। यहां 'वह' का अर्थ वेदान्ती जीव लगाते हैं और नैयायिक मन। वेदान्ती और योगी पुरीतत् को सुषुम्ना नाड़ी भी कहते हैं जो ब्रह्मरन्ध्र में मस्तिष्क के ऊपरी भाग में जाकर खुलती है और जिसके माध्यम से ज्ञानी की आत्मा शरीर को छोड़ती है[2]। किन्तु नैयायिकों ने यहां जीव के स्थान पर मन को मान लिया क्योंकि उनके सिद्धान्त के यही अनुकूल पड़ता था। सम्भवतः निद्रा के समय शरीर की नाड़ियों में रक्त का प्रवाह शिथिल पड़ जाना और निद्रा के समय हृदय की गति का अपेक्षाकृत धीमा पड़ जाना इस सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में काम कर रहा होगा कि मन निद्रा के समय पुरीतत् में प्रविष्ट हो जाता है। किन्तु आधुनिक शरीर विज्ञान इसका समर्थन नहीं करता।

हमने ऊपर कहा कि मन की परिभाषा में इन्द्रिय शब्द का समावेश विचारणीय है। किन्तु इतना निश्चित है कि न्याय और वैशेषिक दोनों ही मन को इन्द्रिय मानते हैं। न्याय में तो ऐसा स्पष्ट कहा ही गया है, और वात्स्यायन ने गौतम सूत्र पर भाष्य करते हुए लिखा है कि—अप्रतिषिद्धमनुमतं भवति। अर्थात् क्योंकि कणाद स्पष्ट रूप में मन को इन्द्रिय मानने का निषेध नहीं करते, अतः वे भी इसे इन्द्रिय मानते ही हैं। आन्तरिक प्रत्यक्ष का करण होने के कारण मन इन्द्रिय है। वेदान्ती इस बात को नहीं मानते। इस सिद्धान्त का नैयायिकों की प्रत्यक्ष और अनुमान की परिभाषा और अन्य विषयों पर प्रभाव पड़ा है। नैयायिक प्रत्यक्ष की परिभाषा इस प्रकार करते हैं—इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्यं ज्ञानम्। यदि मन को इन्द्रिय न माना जाय, तो सुख और दुख का प्रत्यक्ष इस परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आएगा[3]। किन्तु यदि मन को इन्द्रिय मानें तो अनुमिति में भी अतिव्याप्ति होगी क्योंकि वहां धूम

---

१. बृहदारण्यकोपनिषद्, ४.१.१९

२. शाङ्करभाष्य, ब्रह्मसूत्र, ३.२.७

३. न्यायसूत्र, १.१.४, यहाँ इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष की उत्पत्ति मानी है। सुखादि का प्रत्यक्ष मन तथा सुखादि के सन्निकर्ष से होता है अतः मन को इन्द्रिय ही मानना चाहिये। सांख्यकारिका, २७ में भी मन को इन्द्रिय ही माना है—उभयात्मकमत्र मनः सङ्कल्पकमिन्द्रियञ्च साधर्म्यात्।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

को देखकर पर्वत में अग्नि का अनुमान मन की सहायता से ही होता है। हम आगे बतलाएंगे कि इस उभयतः पाश में से किस प्रकार नैयायिक निकलते हैं। किन्तु वेदान्तियों का मूल तर्क यह है कि श्रुति में मन को इन्द्रियों से पृथक् माना है—इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः[1]। इसमें मन को इन्द्रियों से अधिक सूक्ष्म भी माना है। जहां तक मानस प्रत्यक्ष में अव्याप्ति का प्रश्न है, वेदान्ती नैयायिकों की प्रत्यक्ष की परिभाषा ही नहीं मानते।[2] यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यद्यपि नव्य-नैयायिकों ने मन को इन्द्रिय माना है, किन्तु सूत्रों में ऐसा स्पष्टतः नहीं कहा गया है।[3] गौतम भी मन को इन्द्रियों में नहीं गिनाते, किन्तु प्रमेय में गिनाते हैं।[4] वस्तुस्थिति यह है कि मन की स्थिति पांच बाह्य इन्द्रियों से तो पृथक् माननी होगी फिर चाहे हम इसे इन्द्रिय कहें या अन्तःकरण वृत्ति कहें; इससे विशेष भेद नहीं पड़ता।

चक्षुर्मात्रग्राह्यो गुणो रूपम्। तच्च शुक्लनीलपीतरक्तहरितकपिशचित्रभेदात्सप्तविधं, पृथिवीजलतेजोवृत्ति। तत्र पृथिव्यां सप्तविधम्, अभास्वरशुक्लं जले, भास्वरशुक्लं तेजसि॥

केवल नेत्र से ग्राह्य गुण रूप है। और वह सात प्रकार का है—शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, काला, और चितकबरा (या रंग बिरंगा), तथा पृथ्वी, जल और तेज में रहता है। इनमें से पृथिवी में सातों प्रकार का, जल में विना चमक वाला शुक्ल तथा तेज में चमक वाला शुक्ल रूप होता है।

(त. दी.) रूपं लक्षयति—चक्षुरिति। संख्यादावतिव्याप्तिवारणाय 'मात्र'-पदम्। रूपत्वेऽतिव्याप्तिवारणाय 'गुण' पदम्। प्रभाभित्तिसंयोगेऽतिव्याप्तिवारणाय चक्षुर्मात्रग्राह्यजातिमत्त्वं वाच्यम्। रूपं विभजते—तच्चेति॥ नन्वव्याप्यवृत्तिनीलादिसमुदाय एव चित्ररूपमिति चेत्—न; रूपस्य व्याप्यवृत्तित्वनियमात्। ननु चित्रपटेऽवयवरूपस्य प्रतीतिरस्त्विति चेत्—न; रूपरहितत्वेन पटस्याप्रत्यक्ष-

---

१. कठोपनिषद्, ३.१०
२. वेदान्तपरिभाषा, पृ० ३०-३१
३. घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः—न्यायसूत्र १.१.१२
४. आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् —उपरिवत् १.१९

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

त्वप्रसङ्गात् । न च रूपवत्समवेतत्वं प्रत्यक्षत्वप्रयोजकं; गौरवात् । तस्मात् पटस्य प्रत्यक्षत्वानुपपत्त्या चित्ररूपसिद्धिः ॥ रूपस्याश्रयमाह—पृथिवीति । आश्रयं विभज्य दर्शयति— तत्रेति ॥

रूप

यहां 'मात्र' और 'गुण' इन दो पदों को छोड़कर रूप की परिभाषा वही दी है, जो प्रशस्तपाद में है।[1] ऐसा लगता है कि श्रीधर की टीका से ये शब्द ले लिये गये हैं।[2] 'मात्र' शब्द यहाँ संख्या में अतिव्याप्ति न हो जाये, इसलिए है, क्योंकि संख्या चक्षुग्राह्य भी है और स्पर्शग्राह्य भी। 'गुण' शब्द द्वारा यहां प्रभा में जो कि एक द्रव्य है, अतिव्याप्ति का निराकरण है और साथ ही साथ रूपत्व जाति में भी, क्योंकि रूपत्व गुण नहीं है, जाति है, यद्यपि उसका भी ग्रहण चक्षु से ही होता है। प्रभाभित्तिसंयोग गुण है, किन्तु रूप नहीं है। इसलिये यहां गुण शब्द का अर्थ विशेष गुण लिया गया है,[3] यद्यपि दीपिका ने ऐसा नहीं किया। यह कहा जा सकता है कि संख्या में भी यहां अतिव्याप्ति की निवृत्ति गुण को विशेष गुण मानकर ही हो सकती थी, फिर 'मात्र' शब्द की क्या आवश्यकता है? किन्तु इसका उत्तर सिद्धान्तचन्द्रोदय ने यह दिया है कि यहां 'मात्र' शब्द इसलिये आवश्यक था कि सांसिद्धिकद्रवत्व में अतिव्याप्ति न हो। वाक्यवृत्ति का कहना है कि क्योंकि परमाणु का रूप चक्षुग्राह्य नहीं है, अतः यह परिभाषा अपूर्ण है। वाक्यवृत्ति में परिष्कार करके यह परिभाषा दी है—त्वगग्राह्यचक्षुर्ग्राह्य-गुणविभाजकधर्मवत्त्वम्। त्वगग्राह्य का तो यहां वही प्रयोजन है जो ऊपर की परिभाषा में 'मात्र' शब्द का। गुणविभाजकधर्मत्वम् का अर्थ है गुणत्वा-वान्तरजातिमत्त्वम्; क्योंकि परमाणु रूप यद्यपि चक्षुग्राह्य नहीं है, किन्तु उसमें रूपत्व जाति अवश्य है।

यहां ग्रहण का अर्थ साधारण ग्रहण है, योगियों का अलौकिक ग्रहण नहीं। शंकरमिश्र ने रूप के ग्रहण के लिये चार शर्तें रखी हैं—१. महत्परिमाण, २. उद्भूतत्व, ३. अनभिभूतत्व, ४. रूपत्व।[4] परमाणुओं का रूप इसलिये नहीं

---

१. तत्र रूपं चक्षुर्ग्राह्यम्—प्रशस्तपादभाष्य, पृ० २५१

२. तेषां गुणानां मध्ये रूपं चक्षुषैव गृह्यते नेन्द्रियान्तरेण—न्यायकन्दली, पृ० २५१

३. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ० २४०-२४१

४. उपस्कारभाष्य, वैशेषिक सूत्र, ४.१.८ (पृ० १२०)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

देखा जा सकता क्योंकि परमाणु में महत्त्व नहीं है। चक्षुओं की धवलता इसलिये नहीं देखी जा सकती, क्योंकि वह अनद्भूत है। सामान्य अग्नि में धवलता इसलिये नहीं देखी जा सकती कि वह पार्थिव तत्त्व से अभिभूत है। रस और स्पर्श इसलिये नहीं देखे जा सकते, क्योंकि उनमें रूपत्व जाति नहीं है।

आधुनिक वैज्ञानिकों में न्यूटन का कहना है कि प्रकाश की श्वेत किरण में ही समस्त रंग रहते हैं जिन्हें प्रिज्म की सहायता से पृथक् किया जा सकता है। जो पदार्थ जिस रंग को प्रतिबिम्बित करता है वही दिखाई देने लगता है और इस प्रकार पृथ्वी और जल का अपना रूप नहीं है प्रत्युत किरण के जिस रूप को वे प्रतिबिम्बित करते हैं, वही रूप उनमें दिखाई देने लगता है।

रूप के यहां सात भेद किये हैं। प्रशस्तपाद और श्रीधर ने इन भेदों का कोई निर्देश नहीं किया। यहां जो अन्त में चित्ररूप कहा गया है, उसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वह प्रथम छः भेदों का ही मिश्रण है। यह आक्षेप हो सकता है कि यदि वह प्रथम छः रूपों का ही मिश्रण है तो उसके पृथक् मानने की क्या आवश्यकता है ? दीपिका का कहना है कि रूप व्याप्यवृत्तिधर्म है और एक ही पदार्थ में अनेक रूप तो एकसाथ रह नहीं सकते अतः इसे पृथक् रूप मानना होगा। व्याप्यवृत्तिधर्म की परिभाषा यह है—स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगी धर्मः। अर्थात् ऐसा धर्म जो अपने अत्यन्ताभाव के साथ उस ही पदार्थ में नहीं रह सकता। इसके विपरीत अव्याप्य-वृत्तिधर्म वे हैं जिनके भाव तथा अभाव अवच्छेदक भेद से एक ही पदार्थ में रह सकते हैं। इस प्रकार एक वृक्ष पर यदि कपि बैठा है तो उस वृक्ष का चोटी का हिस्सा कपिसंयोग वाला है पर उसकी जड़ में कपिसंयोग का अत्यन्ताभाव है। इसलिये कपिसंयोग अव्याप्यवृत्तिधर्म है। व्याप्यवृत्तिधर्म पदार्थ के अंश में नहीं रहता, प्रत्युत सर्वत्र रहता है। यदि चित्ररूप को पृथक् रूप में नहीं माना गया तो अंशों में रहने वाले भिन्न-भिन्न रूप तो होंगे, किन्तु समस्त पदार्थ में रहने वाला कोई एक रूप नहीं होगा। इस पर यह आक्षेप उठाया जाता है कि इसमें क्या हानि है ? इस प्रकार हम वस्त्र को उसके अंश में रहने वाले भिन्न-भिन्न रूपों के माध्यम से देख लेंगे। किन्तु इसका यह उत्तर है कि इस प्रकार समस्त वस्त्र का ज्ञान कभी भी नहीं होगा,

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

क्योंकि समस्त पदार्थ को बिना रूप के नहीं देखा जा सकता। वस्त्र के भिन्न-भिन्न भागों में रहने वाले रूप वस्त्र को दृश्य नहीं बनाते, किन्तु एक पृथक् ही रूप उसे दृश्य बनाएगा। नैयायिकों का यह सिद्धान्त है कि अपने अंशों से पृथक् समुदाय की कोई सत्ता नहीं होती। यदि हम इसकी पृथक् सत्ता मानें तो इसे इसके अंशों से पृथक् एक कार्य मानना होगा और तब यह कहां रहेगा ? न तो यह एक-एक भाग में रह सकता है, न मिलाकर उन सब भागों में, क्योंकि यह उन सब से पृथक् है। इस प्रकार समुदाय एक पर्याप्त धर्म है अर्थात् अनेक धर्मों का समूह है किन्तु एक पृथक् पदार्थ नहीं है। इस प्रकार अनेक रूपों का समुदाय स्वयं एक गुण नहीं बन सकता और इसलिए यहां एक पृथक् चित्र रूप मानना होगा। यह कहा जा सकता है कि किसी पदार्थ के दृश्य होने के लिये रूपवत्त्व नहीं, प्रत्युत रूपवत्समवेतत्व आवश्यक है। अतः वस्त्र में चाहे अपना रूप न हो, किन्तु यह उन अंशों से समवेत अवश्य है, जो रूपवान् हैं। किन्तु यह कहा जाता है कि रूपवत्समवेतत्व में अनावश्यक गौरव है अर्थात् ऐसा मानना प्रक्रिया को व्यर्थ ही लम्बा बना देता है। अतः चित्र रूप को पृथक् ही मान लेना चाहिए।

रूप की जो परिभाषा यहां दी है, उससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि यहां आकार को अर्थात् गोलाई, लम्बाई इत्यादि को रूप नहीं माना है; क्योंकि आकार न तो सात रूपों में से एक है, और न चक्षुमात्रग्राह्य क्योंकि इसे स्पर्श से भी जाना जा सकता है। नैयायिक आकार को अवयवसंस्थानविशेष कहते हैं और इस प्रकार इसका संयोग में समावेश करते हैं। वेदान्तियों का कहना है कि आकार पदार्थ से भिन्न नहीं है, क्योंकि अवयव संस्थान के भिन्न होने पर भी हम खड़े हुए देवदत्त को देख लेने के बाद बैठे हुए देवदत्त को भी पहचान लेते हैं।

पृथ्वी में सभी रूप हैं किन्तु जल और प्रकाश में केवल शुक्ल है। किन्तु प्रकाश की शुक्लता जल की शुक्लता से भिन्न है। इस प्रकार यहां शुक्ल के भास्वर और अभास्वर दो भेद कर दिये हैं। भास्वर शुक्ल तेज का है और अभास्वर शुक्ल जल का। इस सम्बन्ध में हम आधुनिक विज्ञान का सिद्धान्त पहले ही बता चुके हैं कि विज्ञान केवल प्रकाश में ही रूप मानता है; जल और पृथ्वी का कोई अपना स्वतन्त्र रूप नहीं मानता है।

रसनग्राह्यो गुणो रसः। स च मधुराम्ललवणकटुकषायतिक्तभेदात् षड्विधः। पृथिवीजलवृत्तिः, पृथिव्यां षड्विधः, जले मधुर एव॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रसनेन्द्रिय से ग्राह्य गुण रस है। और वह छह प्रकार का है—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय तथा तिक्त। वह पृथ्वी तथा जल में रहता है; पृथ्वी में छहों प्रकार का तथा जल में केवल मधुर ही होता है।

(त. दी.) रसं लक्षयति—रसनेति। रसत्वेऽतिव्याप्तिपरिहाराय 'गुण' पदम्। रसस्याश्रयमाह—पृथिवीति॥ आश्रयं विभज्य दर्शयति—पृथिव्यामिति॥

घ्राणग्राह्यो गुणो गन्धः। स च द्विविधः-सुरभिरसुरभिश्च पृथिवीमात्रवृत्तिः॥

घ्राणेन्द्रिय ग्राह्य गुण गन्ध है और वह दो प्रकार का है—सुरभि और असुरभि। यह पृथ्वी में ही रहता है।

(त. दी.) गन्धं लक्षयति—घ्राणेति। गन्धत्वेऽतिव्याप्तिवारणाय गुण-पदम्॥

त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्यो गुणः स्पर्शः। स च त्रिविधः-शीतोष्णानुष्णाशीतभेदात्, पृथिव्यप्तेजोवायुवृत्तिः। तत्र शीतो जले, उष्णस्तेजसि, अनुष्णाशीतः पृथिवीवाय्वोः॥

केवल त्वगिन्द्रिय से ग्राह्य गुण स्पर्श है और वह तीन प्रकार का है-शीत, उष्ण तथा अनुष्ण-अशीत, तथा पृथ्वी, जल, तेज और वायु में रहता है। उनमें शीत जल में, उष्ण तेज में तथा अनुष्ण-अशीत पृथ्वी तथा वायु में होता है।

(त. दी.) स्पर्शं लक्षयति—त्वगिति। स्पर्शत्वेऽतिव्याप्तिवारणाय 'गुण'-पदम्। संयोगादावतिव्याप्तिवारणाय 'मात्र' पदम्॥

रस, गन्ध और स्पर्श

रस, गन्ध और स्पर्श तीनों का वर्णन एक ही प्रकार से है। इसमें कटु का अर्थ तीखा और तिक्त का अर्थ कड़वा है। पृथ्वी में सभी प्रकार के रस हैं जबकि जल में केवल मधुर रस ही है। जल में जो कभी-कभी नमकीनपन इत्यादि आ जाता है, वह पार्थिव तत्त्व के मिल जाने से है।

गन्ध घ्राणेन्द्रिय से ग्रहण होती है। यह दो प्रकार की है—सुगन्ध और

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

दुर्गन्ध। यह केवल पृथ्वी में रहती है। चित्ररस नाम का कोई रस नहीं माना गया क्योंकि हम कभी इसका अनुभव नहीं करते और जब हमें बहुत से रस एक साथ अनुभव होते हुए प्रतीत होते हैं तो वस्तुतः एक रस के अनन्तर दूसरा रस आता है। चित्रगन्ध और चित्रस्पर्श हो ही नहीं सकते क्योंकि गन्ध और दुर्गन्ध एक दूसरे के विपरीत हैं और दोनों एक में नहीं रह सकते और इसी प्रकार शीत, उष्ण और अनुष्ण स्पर्श भी एक दूसरे के विपरीत होने से एक साथ नहीं रह सकते। रस और गन्ध को परिभाषा में 'मात्र' शब्द इसलिये नहीं दिया गया कि रसना और घ्राण अपने ही गुणों को ग्रहण करते हैं और किसी को नहीं, किन्तु स्पर्श की परिभाषा में 'मात्र' शब्द इसलिये दिया गया कि त्वगिन्द्रिय स्पर्श के अतिरिक्त संख्या, संयोग इत्यादि को भी ग्रहण करती है। तीनों परिभाषाओं में 'गुण' शब्द इसलिये दिया गया है ताकि उनकी जाति, रसत्व, गन्धत्व, और स्पर्शत्व में, अतिव्याप्ति न हो। इन तीनों ही परिभाषाओं में रसादि शब्द रसत्वादि जातिविशिष्ट का उपलक्षक है। अतः परमाणु रस, गन्ध और, स्पर्श, में अव्याप्ति नहीं होती।

अन्नम्भट्ट स्पर्श को उष्ण, शीतल और अनुष्ण मानता है। किन्तु कुछ लेखक चित्रस्पर्श को स्वीकार करते हैं। किन्तु चित्रस्पर्श को स्वीकार करने वाले १२ प्रकार के स्पर्शों को मानते हैं—तीन प्रकार के नहीं।

कठिनश्चिक्कणः श्लक्ष्णः पिच्छलो मृदुदारुणः।
उष्णः शीतः सुखो दुःखः स्निग्धो विशद एव च।
एवं द्वादशविस्तारो वायव्यो गुण उच्यते॥[1]

यहां यह विचार प्रमुख नजर आता है कि चक्षु और स्पर्शेन्द्रिय रूप और स्पर्श के अतिरिक्त रूपवत् और स्पर्शवत् द्रव्यादि के भी ग्राहक होने के कारण विशिष्ट है किन्तु रसना और घ्राण केवल गुणों का ही ग्रहण करती है गुणी का नहीं। इसलिए चित्ररूप और चित्रस्पर्श को मानना आवश्यक है। किन्तु रस या गन्ध के सम्बन्ध में ऐसा स्वीकार करना आवश्यक नहीं क्योंकि यदि उनका प्रत्यक्ष न भी हो, तो भी वे अपने गुणों से अनुमेय हैं। स्पर्श की भी उन लोगों के अनुसार यही स्थिति होगी जो स्पर्श का प्रत्यक्ष नहीं मानते। अतः शंकरमिश्र ने कहा

---

१. महाभारत, ७.१७७.३४

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है—न च हरीतक्यां रसोऽपि चित्र इति वाच्यम्। हरीतक्या नीरसत्वे दोषाभावात्।[1]

रूपादिचतुष्टयं पृथिव्यां पाकजमनित्यञ्च। अन्यत्रापाकजं नित्यमनित्यञ्च। नित्यगतं नित्यम्, अनित्यगतमनित्यम्॥

रूपादि (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श) चारों पृथ्वी में पाकज (तेज के संयोग से होने वाले) हैं तथा अनित्य हैं। अन्यत्र (जल, तेज तथा वायु में) अपाकज तथा नित्य एवं अनित्य (दोनों प्रकार के) हैं–नित्य (परमाणु)—गत नित्य, अनित्य (द्व्यणुकादि)—गत अनित्य।

(त. दी.) **पाकजमिति**। पाकस्तेजःसंयोगः। तेन पूर्वरूपं नश्यति, रूपान्तरमुत्पद्यत इत्यर्थः। अत्र परमाणुष्वेव पाकः, न द्व्यणुकादौ। आमपाकनिक्षिप्ते घटे परमाणुषु रूपान्तरोत्पत्तौ श्यामघटनाशे पुनर्द्व्यणुकादिक्रमेण रक्तघटोत्पत्तिः। तत्र परमाणवः समवायिकारणम्। तेजःसंयोगोऽसमवायिकारणम्। अदृष्टादिकं निमित्तकारणम्। द्व्यणुकादिरूपे कारणरूपसमवायिकारणम्, इति पीलुपाकवादिनो वैशेषिकाः। पूर्वघटस्य नाशं विनैवावयविन्यवयवेषु परमाणुपर्यन्तेषु च युगपद्रूपान्तरोत्पत्तिरिति पिठरपाकवादिनो नैयायिकाः अत एव पार्थिवपरमाणुषु रूपादिकमनित्यमित्यर्थः॥ **अन्यत्रेति**। जलादावित्यर्थः। **नित्यगतमिति**। परमाणुगतमित्यर्थः॥ **अनित्यगतमिति**। द्व्यणुकादिनिष्ठमित्यर्थः। रूपादिचतुष्टयमुद्भूतं प्रत्यक्षममनुद्भूतप्रत्यक्षम्। उद्भूतत्वं प्रत्यक्षप्रयोजको धर्मः। तदभावोऽनुद्भूतत्वम्॥

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श दो प्रकार के हैं—पाकज और अपाकज, जो नित्य भी हैं और अनित्य भी। पाकज रूप, रसादि सभी अनित्य हैं। अपाकज नित्य और अनित्य दोनों प्रकार के हैं। नित्य परमाणुगत ये नित्य होते हैं तथा अनित्य कार्यगत ये अनित्य होते हैं। कभी ये उष्णता के द्वारा उत्पन्न होते हैं और कभी सहज या स्वाभाविक होते हैं। पृथ्वी में यह उष्णता से उत्पन्न होते हैं अतः अनित्य हैं जबकि शेष तीनों द्रव्यों में वे स्वाभाविक हैं, और नित्य और अनित्य दोनों हैं; उनका नित्य रूप परमाणुओं में है और अनित्य रूप कार्य

१. उपस्कारभाष्य, वैशेषिक सूत्र, ७.१.६ (पृ० १६०)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रूप में। इस सम्बन्ध में अन्नम्भट्ट कुछ नहीं कहता कि पृथ्वी के परमाणुओं में स्वाभाविक नित्य गन्ध है या नहीं है,। यदि गन्ध मानी जाय, तो 'पाकजम-नित्यं च' के बाद 'अपाकजं- नित्यं' पाठ भी होना चाहिए। पाकज और अपाकज का मूल भेद यह लगता है कि पृथ्वी उष्णता पहुँचाये जाने पर अपने गुणों को बदल देती है किन्तु जल, प्रकाश और वायु नहीं बदलते। यद्यपि वायु और जल उष्णता के संयोग से गर्म हो जाते हैं किन्तु वस्तुतः वह उष्णता जल या वायु की नहीं होती, किन्तु उनके साथ मिल जाने वाले तेज की होती है।

दीपिका में यहां दो मतों का उल्लेख है—वैशेषिक और नैयायिक। वैशेषिकों को पीलुपाकवादी और नैयायिकों को पिठरपाकवादी कहा जाता है। पीलुपाकवादी परमाणु में पाक मानते हैं और पिठरपाकवादी अवयवी में ही पाक के द्वारा रूपादि की परावृत्ति मानते हैं। पाक का यहां अर्थ है—पूर्वरूपरसादिपरावृत्तिजनको विजातीयतेजःसंयोगः।[1] विभिन्न प्रभावों के अनुसार यह अनेक प्रकार का है। एक केवल रूप को बदलता है, जैसेकि आग में तपाया घट, दूसरा रूप, गन्ध और स्वाद तीनों को बदल देता है, जिस प्रकार पाल में पकाया आम। ऊपर पाक की परिभाषा में 'विजातीय' शब्द इसलिये रखा है कि धातुओं में उष्णता द्वारा होने वाले परिवर्तन में पाक की अतिव्याप्ति न हो जाये क्योंकि धातु भी तेजस् है, और उष्णता भी तेजस् है, अतः वे दोनों सजातीय हैं। जब घड़े को तपाया जाता है, तो वैशेषिकों के अनुसार पुराना काला घट और उसके द्व्यणुक इत्यादि भाग भी नष्ट हो जाते हैं। अग्नि उसके पृथक्-पृथक् परमाणुओं में लाल रंग उत्पन्न करती है और तब वे उसी प्रक्रिया से उसी प्रकार जुड़ कर एक नये लाल घट को उत्पन्न कर देता है। घट का नष्ट होना और फिर से जुड़ना इसलिये आवश्यक है ताकि सब पमराणु पक सकें क्योंकि यदि घट नष्ट नही होगा तो अग्नि अन्दर के परमाणुओं को नहीं पका सकेगी। इस ध्वस्त होने और पुनः जुड़ जाने की प्रक्रिया को हम इसलिये नहीं देख सकते क्योंकि यह बहुत शीघ्रता से होती है।[2] कुछ लोग इसमें ९ पल, कुछ १० कुछ११ और कुछ केवल ५ पल का समय आवश्यक मानते हैं। विश्वनाथ

---

१. तर्ककिरणावली, पृ० ५८-५९
२. प्रशस्तपादभाष्य, पृ० २५७-२६२

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ने ९ पलों का विवरण इस प्रकार दिया है।[1] तथाहि (१) वह्निसंयोगात्कर्म। ततः परमाण्वन्तरेण विभागः। तत आरम्भकसंयोगनाशः। ततो द्व्यणुकनाशः। (२) ततः परमाणौ श्यामादिनाशः। (३) ततो रक्ताद्युत्पत्तिः। (४) ततो द्रव्यारम्भानुगुणक्रिया। (५) ततो विभागः। (६) ततः पूर्वसंयोगनाशः। (७) तत आरम्भकसंयोगः॥ (८) ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः। (९) ततो रक्ताद्युत्पत्तिः इनमें से प्रथम चार प्रथम पल के अन्तर्गत हैं और शेष आठ, आठ पलों में। इस प्रकार यह समस्त प्रक्रिया नौ पलों में होती है। जो लोग विभागज-विभाग को मानते हैं, वे तीसरे प्रक्रिया के अनन्तर एक प्रक्रिया-वह्निनोदन-जन्यपरमाणुकर्मणो नाशः—और जोड़ देते हैं। इस प्रकार ११ पल के समर्थक प्रथम प्रक्रिया के अनन्तर एक विभाग और मानते हैं। पांच पल के समर्थक प्रथम पल में प्रथम, द्वितीय पल में द्वितीय, तृतीय पल में उसके बाद आने वाले दो, चतुर्थ पल में उसके बाद वाली चार, और पांचवें पल में अन्तिम प्रक्रिया को मानते हैं। नैयायिक जो पिठरपाकवाद के समर्थक हैं, वैशेषिकों के इस पीलुपाक सिद्धान्त को नहीं मानते। उनका कहना है कि यदि प्रथम घट नष्ट हो जाता है तो जो नया घट बनता है, हम उसे उसी घट के रूप में नहीं पहचान सकते किन्तु वही घट सारी पाकक्रिया के अन्तर्गत उसी रूप में पहचाना जाता है। इसके अतिरिक्त यदि वह घट कभी भी किसी भी क्षण विघटित होता तो उसके ऊपर रखे रहने वाले पात्र गिर जाने चाहिए थे, किन्तु ऐसा नहीं होता। घट की संख्या, आकार और घट पर बनी हुई रेखाएं भी ज्यों की त्यों रहती हैं। इसके उत्तर में वैशेषिकों का कहना है कि यदि एक घट में से सूई द्वारा कुछ परमाणु निकाल भी लिये जाएं, तब भी वह घट वही है, यह पहचान हो जाती है।[2] किन्तु नैयायिक यह मानते हैं कि घट के बिना विघटित और पुनर्निर्मित हुए ही उसका रूप बदल जाता है। यह आक्षेप कि घट के आन्तरिक भाग के परमाणु बिना अग्नि के स्पर्श के कैसे रूप बदल सकते हैं, यह कहकर निरुत्तर कर दिया जाता है कि पात्र में रखे जल को भी अग्नि बिना स्पर्श के ही उष्ण कर देती है[3] इस प्रकार पीलुपाक अर्थात् परमाणुओं

---

१. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ० २४६

२. उपस्कारभाष्य, वैशेषिक सूत्र, ७.१.६ (पृ० १६४)

३. उपरिदत्, ७.१.६ (पृ० १६२)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

के पाक को मानने वाले और पिठरपाक अर्थात् घट के विघटित हुए बिना ही उसका पाक मानने वाले वैशेषिकों और नैयायिकों में जो विवाद चलता है उसकी सूक्ष्मता को लेकर यह कारिका बन गयी है।

द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे ।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः ॥[1]

कोई भी सिद्धान्त क्यों न मानें, यह मानना होगा कि पृथ्वी में पाकज गुण अनित्य हैं। पीलुपाक के अनुसार पृथ्वी के परमाणुओं में गन्ध भी अनित्य है किन्तु पिठरपाक के अनुसार इस विषय में कुछ निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता।

एकत्वादिव्यवहारहेतुः संख्या। नवद्रव्यवृत्तिरेकत्वादिपरार्धपर्यन्ता। एकत्वं नित्यमनित्यं च नित्यगतं नित्यमनित्यगतमनित्यम्। द्वित्वादिकं तु सर्वत्रानित्यमेव ॥

एकत्व आदि व्यवहार का (विशेष तथा निमित्त) कारण संख्या है। यह नवों द्रव्यों में होती है तथा एक से लेकर परार्ध पर्यन्त है। एकत्व नित्य तथा दो प्रकार का है—नित्यगत नित्य, अनित्यगत अनित्य। द्वित्वादि तो सर्वत्र अनित्य ही है।

(त. दी.) संख्यां लक्षयति—**एकत्वेति ॥**

संख्या

यहां संख्या की[2] और परिमाण[3] की परिभाषा प्रशस्तपाद के अनुसार दी गई है। यहां भी हेतु का अर्थ असाधारण निमित्त कारण है। 'असाधारण' काल और दिक् में अतिव्याप्ति के वारण के लिए है और 'निमित्त' व्यवहार के उपादान कारण आकाश में अतिव्याप्ति के वारण के लिए है। दस सामान्य गुणों में संख्या प्रथम है। वे सामान्य गुण ये हैं—

---

१. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० २२०
२. एकत्वादिव्यवहारहेतुः संख्या—प्रशस्तपादभाष्य, पृ० २६७
३. परिमाणं मानव्यवहारकारणम्—उपरिवत्, पृ० ३१४

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

संख्यादिरपरत्वान्तो द्रवः सांसिद्धिकस्तथा ।
गुरुत्ववेगौ सामान्यगुणा एते प्रकीर्तिताः ॥[1]

ये सभी गुण द्रव्यों में सामान्य रूप से रहते हैं। किसी विशेष प्रकार के द्रव्य में नहीं। अतः यह एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से पृथक् करने वाले गुण नहीं बन सकते। ये गुण, आज की शब्दावली में कहें तो, वस्तुनिष्ठ नहीं हैं, प्रत्युत व्यक्तिनिष्ठ हैं। ये वस्तु के किसी एक पक्ष को या उसकी व्यवस्था को या उसके भावों को बतलाते हैं। वेदान्त की शब्दावली में ये अध्यस्त या आरोपित हैं। हम इन्हें अनुभव अवश्य करते हैं किन्तु वस्तु में इनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं होती। हम इनकी कल्पना करते हैं, इन्हें वस्तुतः देखते नहीं हैं। विशेष गुण वस्तुनिष्ठ होते हैं। संख्या सामान्य गुण है और अपेक्षा-बुद्धिजन्य है।

संख्या एक से लेकर परार्ध (एक लाख×एक लाख×एक करोड़) तक होती है। एकत्व अणुओं में रहता है और शेष संख्या कार्य पदार्थ में। एक लकड़ी का टुकड़ा जब तक तोड़ नहीं दिया जाता, एक ही रहता है, किन्तु तोड़ने पर अनेक बन जाता है। इसलिए उसका एकत्व अनित्य है। द्वित्व से लेकर समस्त संख्या अनित्य ही हैं। शंकर मिश्र ने द्वित्व इत्यादि के अतिरिक्त बहुत्व को भी माना है।[2] किन्तु अन्य आचार्यों को यह स्वीकार नहीं है।[3]

हमने पाकज-अपाकज पर विचार करते समय यह कहा था कि द्वित्व के सम्बन्ध में न्याय और वैशेषिक में मतभेद है। वैशेषिकों और अन्नंभट्ट के अनुसार द्वित्व केवल अपेक्षा बुद्धि द्वारा ज्ञाप्य ही नहीं है, जन्य भी है। अपेक्षा बुद्धि की यह परिभाषा है—अनेकैकत्वबुद्धिर्या साऽपेक्षाबुद्धिरुच्यते।[4] दो पदार्थों

---

१. भाषापरिच्छेद, ९१-९२
२. उपस्कारभाष्य, वैशेषिकसूत्र, ७.२.८ (पृ० १७९-१८१)
३. इदन्तु बोध्यं—यत्रानियतैकत्वज्ञानं तत्र त्रित्वादिभिन्ना बहुत्वसंख्या उत्पद्यते यथा सेनावनादाविति कन्दलीकारः। आचार्यास्तु त्रित्वादिकमेव बहुत्वं मन्यते, तथा च. त्रित्वादिव्यापिका बहुत्वजातिर्नातिरिच्यते। न्याय-सिद्धान्तमुक्तावली, पृ० २५२
४. भाषापरिच्छेद, १०९

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

के सामने आने पर हम उन्हें पृथक्-पृथक् ही जानते हैं और यह पृथक्-पृथक् दो इकाइयों का ज्ञान हमें एक इकाई का ज्ञान करवाता है, तब हमें द्वित्व का ज्ञान होता है। भाषापरिच्छेद में यह प्रक्रिया इस प्रकार दी गई है—

"तत्र प्रथममिन्द्रियार्थसन्निकर्षः। तस्मादेकत्वसामान्यज्ञानम्। ततोऽपेक्षाबुद्धिः। ततो द्वित्वोत्पत्तिः। ततो द्वित्वसामान्यज्ञानम्। तस्माद् द्वित्वगुणज्ञानम्। ततः संस्कारः।[1]

प्रथम हमारी इन्द्रियों का पदार्थ के साथ सन्निकर्ष होता है। तदनन्तर एक का ज्ञान होता है फिर अपेक्षा बुद्धि तदनन्तर द्वित्व की उत्पत्ति, तदनन्तर दित्व का सामान्य ज्ञान, तदनन्तर द्वित्व गण का ज्ञान, तदनन्तर द्वित्व का संस्कार। अपेक्षा बुद्धि द्वित्व का ज्ञापक हेतु नहीं है। आकाश में सुप्त शब्द को अभिव्यक्त कर देने वाला दण्डप्रहार ज्ञापक हेतु है। किन्तु अपेक्षा बुद्धि द्वित्व के साथ सदा रहती है अतः यह कारक हेतु है क्योंकि ज्ञापक हेतु के साथ ऐसा नहीं होता। तुलना कीजिए—अपेक्षाबुद्धिर्द्वित्वादेरुत्पादिका भवितुमर्हति। व्यंजकत्वानुपपत्तौ तेनानुविधीयमानत्वात्। शब्दं प्रति संयोगवदिति[2]। मध्वाचार्य का कहना है कि अपेक्षाबुद्धि क्योंकि प्रत्येक पदार्थ में पृथक्-पृथक् रहती है, जबकि द्वित्व पृथक्त्व की भांति कुछ पदार्थों में एकसाथ रहता है; अतः यह अपेक्षाबुद्धि द्वित्व का जनक हेतु ही हो सकती है।[1] जो अपेक्षाबुद्धि को जनक मानते हैं, उनके अनुसार द्वित्व की एक स्वतन्त्र सत्ता है और यह, उन इकाइयों से जिनको मिलाकर यह बनता है, पृथक् है। किन्तु जो अपेक्षाबुद्धि को ज्ञापक मानते हैं, उनके अनुसार यह उन इकाइयों में ही रहता है, अपेक्षाबुद्धि केवल इसे अभिव्यक्त कर देती है। द्वित्व और उसका जनकहेतु, अपेक्षाबुद्धि, पदार्थों को दो के रूप में जान लेने के बाद समाप्त हो जाते हैं। द्वित्व-गुण-बुद्धि, अपेक्षाबुद्धि द्वारा फलित होती है और उसके द्वित्व-गुण-बुद्धि के फलित हो जाने पर अपेक्षाबुद्धि भी समाप्त हो जाती है और दो द्रव्यों के जान लिये जाने पर अपेक्षाबुद्धि भी समाप्त हो जाती है। इस प्रकार अपेक्षाबुद्धि और द्वित्वगुणबुद्धि तीन-तीन क्षण के लिये रहती हैं। इनका क्रम इस प्रकार है—एकत्वज्ञान, अपेक्षाबुद्धि, द्वित्वोत्पत्ति तथा एकत्वज्ञाननाश। द्वित्वज्ञान, द्वित्वगुणबुद्धि तथा अपेक्षाबुद्धिनाश तथा द्वित्वनाश तथा द्रव्यबुद्धि। वैशेषिकों

---

१. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० २२१
२. उपरिवत्, पृ० २२१-२२२
३. उपरिवत्, पृ० २२२

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

का मत है कि समस्त ज्ञान सर्वव्यापक आत्मा के गुण होने के नाते अपने-अपने कार्य को उत्पन्न करने के अनन्तर नष्ट हो जाते हैं। अन्नम्भट्ट ने जो द्वित्व आदि को सर्वत्र अनित्य बतलाया है, उसका यही भाव है।

मानव्यवहारकारणं परिमाणं नवद्रव्यवृत्ति। तच्चतुर्विधम्-अणु महद्दीर्घं ह्रस्वञ्चेति ॥

मान (=नाप तोल) के व्यवहार का (विशेष तथा निमित्त) कारण परिमाण है। यह नवों द्रव्यों में रहता है। यह चार प्रकार का है—अणु, महत्; दीर्घ और ह्रस्व।

(त. दी.) परिमाणं लक्षयति—मानेति। परिमाणं विभजते—तदिति। भावप्रधानो निर्देशः। अणुत्वं महत्त्वं दीर्घत्वं ह्रस्वत्वं चेत्यर्थः ॥

परिमाण

यहाँ जो चार प्रकार के परिमाण दिए हैं, वे भी प्रत्येक दो प्रकार के हैं—मध्यम और परम। परमाणु जो सबसे अधिक सूक्ष्म है, उसकी सूक्ष्मता पारिमाण्डल्य कहलाती है, वह परम सूक्ष्मता का उदाहरण है। द्व्यणु मध्यमाणुत्व का उदाहरण है। आकाश परम महत्त्व या विभुत्व का उदाहरण है और समस्त दृश्य पदार्थ मध्यम महत्त्व का उदाहरण है। अणु और महत्त्व घनफल अर्थात् ३ आयाम के छोटेपन और बड़ेपन को बतलाते हैं। जबकि दीर्घ और ह्रस्व केवल एक आयाम में, जैसे कि रेखा में, दीर्घ या ह्रस्व को बतलाते हैं। कुछ लोग ह्रस्वत्व और दीर्घत्व को अणुत्व और महत्त्व के अन्तर्गत ही मान लेते हैं। वस्तुतः यह सब सापेक्ष शब्द हैं और कितने अवयवी अंशों को लेकर एक पदार्थ बना है इसे ही बतलाते हैं। परिमाण भी नित्य और अनित्य दोनों प्रकार का है। पारिमाण्डल्य और विभुत्व नित्य हैं शेष सब अनित्य। अनित्य परिमाण तीन प्रकार का है—संख्याजन्य, जैसे द्व्यणुकादि के परिमाण, परिमाण-जन्य जैसे घटादि और प्रचयजन्य जैसे रुई आदि। इसका विवेचन हम पहले ही कर चुके हैं।

पृथग्व्यवहारकारणं पृथक्त्वम्। सर्वद्रव्यवृत्ति ॥

पृथग्भाव के व्यवहार का (विशेष तथा निमित्त) कारण पृथक्त्व है। वह सभी द्रव्यों में रहता है।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(त. दी.) पृथक्त्वं लक्षयति—पृथगिति । 'इदमस्मात् पृथक्' इति व्यवहारकारणमित्यर्थः ॥

पृथक्त्व

यहाँ जो पृथक्त्व की परिभाषा दी है, उसकी अपेक्षा यह परिभाषा अधिक उपयुक्त है—अपोद्धारव्यवहारकारणम् ।[1] अपोद्धार का अर्थ है—अपकृत्यावधिमपेक्ष्य य उद्धारो निर्धारणं सः । अर्थात् एक पदार्थ को शेष सब पदार्थों से पृथक् रूप में जानकर पहचानना । पृथक्त्व अन्योन्याभाव से पृथक् है । अन्योन्याभाव केवल यह बतलाता है कि घट पट नहीं है । किन्तु पृथक्त्व 'पटाद्घटः पृथक्' इस रूप में घट की एक पट से पृथक् विशेष सत्ता बतलाता है ।[2] उदाहरणतः हम यह कह सकते हैं कि घट अपने में रहने वाला पृथक्त्व गुण नहीं है किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि वह उससे पृथक् है । इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि बिना पका कच्चा घड़ा पक्का घड़ा नहीं है किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि यह उससे पृथक् है । इसी प्रकार दण्डी देवदत्त अदण्डी देवदत्त नहीं है, किन्तु यह उससे पृथक् नहीं है । इस प्रकार पृथक्त्व दो पदार्थों की वस्तुनिष्ठ पृथक्ता को बतलाता है जबकि अन्योन्याभाव उनके एक ही स्वभाव न होने को बतलाता है । इसी प्रकार पृथक्त्व वैधर्म्य या वैशिष्ट्य से भिन्न है ।[3]

संयुक्तव्यवहारहेतुः संयोगः । सर्वद्रव्यवृत्तिः ॥

'ये जुड़े हैं'—इस व्यवहार का (विशेष तथा निमित्त) कारण संयोग है। वह सभी द्रव्यों में रहता है ।

(त. दी.) संयोगं लक्षयति—संयुक्तेति । 'इमौ संयुक्तौ' इति व्यवहार-हेतुरित्यर्थः । संख्यादिलक्षणेषु सर्वत्र दिक्कालादावतिव्याप्तिवारणायासाधारणेति पदं देयम् ॥ संयोगो द्विविधः—कर्मजः संयोगजश्च । आद्यो हस्तक्रियया हस्तपुस्तकसंयोगः । द्वितीयो हस्त-पुस्तकसंयोगात् काय-पुस्तकसंयोगः । अव्याप्य-वृत्तिः संयोगः । स्वात्यन्ताभावसमानाधिकरणत्वमव्याप्यवृत्तित्वम् ॥

---

१. प्रशस्तपादभाष्य, पृ० ३३२
२. कणादरहस्य, पृ० ७५-७६
३. उपरिवत्, पृ० ८०

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

संयोग

संयोग की परिभाषा यह है—अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैव संयोग ईरितः[1] अर्थात् वे दो पदार्थ जो कभी अलग-अलग थे, उनका साथ-साथ मिल जाना संयोगज है। इस प्रकार दो सर्वव्यापक पदार्थों का कभी संयोग नहीं हो सकता। क्योंकि वे कभी एक दूसरे से पृथक् नहीं होते। संयोग हमेशा कृत्रिम और अनित्य होता है, दीपिका में संयोग को दो प्रकार का माना है—कर्मज और संयोगज। हाथ का पुस्तक से संयोग कर्मज है क्योंकि यह हाथ के गति-कर्म से होता है और हाथ का पुस्तक से संयोग होने पर इस संयोग से जो शरीर का पुस्तक से संयोग होता है, वह संयोगज संयोग है। कर्मज संयोग भी दो प्रकार का है—अन्यतर कर्मज और उभयकर्मज। पक्षी का पर्वत से संयोग अन्यतर कर्मज है क्योंकि इसमें केवल पक्षी ही गति करता है, पर्वत नहीं। किन्तु दो पक्षियों का या दो बादलों का सयोग उभयकर्मज है क्योंकि उसमें दोनों संयुक्त होने वाली इकाइयां गति करती हैं। संयोगज भी संयोग दो प्रकार का है—एक तो ऐसा संयोगज संयोग जो अभी उत्पन्न हुए पदार्थ से होता है जैसे—कार्य का अपने उपादान में रहने वाले पदार्थ से सम्बन्ध और दूसरा पहले से ही रहने वाले पदार्थ का सयोग जैसे कि हाथ का पेड़ को छूने पर पेड़ का संयोग। सभी संयोग अव्याप्यवृत्ति होते हैं अर्थात् पदार्थ के केवल एक अंशमात्र को व्याप्त करते हैं और विभाग या आश्रय के नष्ट होने पर नष्ट हो जाते हैं।

तर्कसंग्रह में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व और संयोग की परिभाषा देते समय कुछ हस्तलिखित प्रतियों में व्यवहार के बाद 'असाधारण' शब्द दिया है और कुछ ने नहीं दिया। यह आवश्यक नहीं है कि 'असाधारण' शब्द दिया जाय, क्योंकि काल और दिक् की परिभाषा की भांति सभी जगह असाधारण शब्द स्वयं मान लिया जाता है। सिद्धान्तचन्द्रोदय में इस सम्बन्ध में कहा गया है—"उपदर्शितलक्षणचतुष्टयं साधारणपदं देयम्। क्वचित् पुस्तके परिमाणपृथक्त्वलक्षणे साधारणपदं दृश्यते तच्चाधुनिकैर्न्यस्तमिति बोध्यम्।"

वाक्यवृत्ति में साधारण कारण की यह परिभाषा दी है—कार्यत्वावच्छिन्न-कार्यतानिरूपितकारणम्। अर्थात् साधारण कारण सभी कार्यों का कारण है किसी विशेष कार्य का नहीं। उदाहरणतः दण्ड घट का ही कारण है, किसी और कार्य का नहीं, जबकि काल और दिशा घट का भी उसी प्रकार निमित्त

---

१. भाषापरिच्छेद, ११५

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कारण हैं, जिस प्रकार किसी, अन्य कार्य के। ऐसे साधारण कारण ८ हैं--ईश्वर उसका ज्ञान, उसकी इच्छा, उसका प्रयत्न, प्रागभाव, काल, दिक् तथा अदृष्ट जिसमें पाप और पुण्य दोनों आ जाते हैं। कुछ लोग प्रतिवन्धकाभाव को नवां साधारण कारण मानते हैं। ये साधारण कारण तो सभी कार्यों में रहते हैं, अतः जहां कहीं हम कारण की चर्चा करें, वहां ये कारण नहीं लेने चाहिएं।

संयोगनाशको गुणो विभागः। सर्वद्रव्यवृत्तिः॥

संयोग का नाशक गुण विभाग है। वह सभी द्रव्यों में रहता है।

(त. दी.) विभागं लक्षयति—**संयोगेति**। कालादावतिव्याप्तिवारणाय **गुण** इति। रूपादावतिव्याप्तिवारणाय **संयोगनाशक इति**। विभागोऽपि द्विविधः—कर्मजो विभागजश्च। आद्यो हस्तक्रियया हस्त-पुस्तकविभागः; द्वितीयो हस्त-पुस्तकविभागात्काय-पुस्तकविभागः॥

विभाग

विभाग केवल संयोग का अभाव ही नहीं है, अन्यथा इसे पृथक् नहीं गिनवाया जाता, प्रत्युत यह एक वास्तविक सत्ता है, जो संयोग को समाप्त कर देती है। इसके अतिरिक्त विभाग विभाजन की क्रिया नहीं है, क्योंकि यह गुण है, जोकि उस क्रिया से तुरन्त फलित होता है। अतः अन्नम्भट्ट विभाग की दूसरी परिभाषा देते हैं--संयोगनाशको गुणो विभागः, विश्वनाथ की भांति, 'विभक्तव्यवहारकारणम्' परिभाषा नहीं देते। क्योंकि विश्वनाथ की परिभाषा से विभाजन की क्रिया भी विभाग ही मान ली जाएगी। अतः प्रथम विभाजनक्रिया तदनन्तर विभाग तदनन्तर पूर्वदेशसंयोगनाश और अन्त में अपरदेश-संयोग होता है। एक घट को एक स्थान से हटाते समय प्रथम हटाने का कर्म होता है। भूमि से उसका पृथक् हो जाना, यह विभाग है। भूमि से संयोग समाप्त हो जाता है। यह पूर्वदेशसंयोगनाश है और उसे हम दूसरे स्थान पर रख देते हैं। यह अपरदेशसंयोग है। अतः विभाग संयोगनाश का कारण है, स्वयं संयोगनाश नहीं। नदी के किनारे पर लगे हुए दोनों ओर के वृक्ष सदा से ही पृथक् हैं। किन्तु उनका कभी वास्तव में विभाजन नहीं हुआ। विभाग के भी वही भेद हैं, जो संयोग के किन्तु नैयायिक विभागज विभाग को नहीं मानते जबकि वैशेषिक मानते हैं। विभागज विभाग का उदाहरण है हाथ के वृक्ष से विभक्त हो जाने पर शरीर का वृक्ष से विभाग।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यहाँ शरीर का विभाग हस्तक्रिया से सम्पन्न नहीं होता। क्योंकि शरीर का विभाग शरीरस्थ है और हस्तक्रिया हस्तस्थ। और शरीर में कोई ऐसी क्रिया नहीं होती, जो उसे विभक्त कर दे। एक भाग की क्रिया समस्त अवयवी की क्रिया नहीं हो सकती। अतः यहां विभाग विभाग से ही उत्पन्न होता है। विभागज विभाग भी दो प्रकार का माना जाता है—कारणमात्रविभागज और कारणाकारणविभागज।

परापरव्यवहारासाधारणकारणे परत्वापरत्वे। पृथिव्यादिचतुष्टय-मनोवृत्तिनी। ते द्विविधे—दिक्कृते कालकृते च। दूरस्थे दिक्कृतं परत्वम्। समीपस्थे दिक्कृतमपरत्वम्। ज्येष्ठे कालकृतं परत्वम्। कनिष्ठे कालकृतमपरत्वम्॥

दूरी तथा निकटता के व्यवहार के असाधारण (निमित्त) कारण परत्व तथा अपरत्व हैं। ये पृथ्वी आदि चार तथा मन में रहते हैं। ये दो प्रकार के हैं—दिशाकृत तथा कालकृत। दूरस्थ में दिशाकृत परत्व, समीपस्थ में दिशाकृत अपरत्व, ज्येष्ठ में कालकृत परत्व तथा कनिष्ठ में कालकृत अपरत्व होता है।

(त. दी.) परत्वापरत्वयोर्लक्षणमाह—**परेति**। परव्यवहारासाधारणकारणं परत्वम्। अपरव्यवहारासाधारणकारणमपरत्वमित्यर्थः। परापरत्वे विभजते—**ते द्विविध इति**। दिक्कृतयोरुदाहरणमाह—**दूरस्थ इति**॥ कालकृते उदाहरति—**ज्येष्ठ इति**॥

परत्वापरत्व

परत्वापरत्व को दूरी और निकटता भी कह सकते हैं। ये प्रथम चार मूर्त अनित्य और मध्यम परिमाण वाले पदार्थों में रहते हैं। मन क्योंकि मूर्त है, इसलिए उसमें दिक्कृत, परत्व, अपरत्व रहता है किन्तु क्योंकि यह नित्य है, अतः उसमें कालकृत, परत्व, अपरत्व नहीं होता। अन्तिम चार पदार्थ नित्य भी हैं और अमूर्त भी हैं। अतः उनमें किसी प्रकार का परत्व, अपरत्व नहीं होता। वस्तुतः परत्व, अपरत्व दो मूर्त पदार्थों के दिक्कृत और कालकृत सम्बन्ध हैं जो उनके गुणों के रूप में कह दिये जाते हैं।

आद्यपतनासमवायिकारणं गुरुत्वम्। पृथिवीजलवृत्ति॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आद्य पतन (प्रथम गिरने) का असमवायिकारण गुरुत्व है । यह पृथ्वी और जल में रहता है ।

(त. दी.) गुरुत्वं लक्षयति—आद्येति । द्वितीयादिपतनस्य वेगासमवायिकारणत्वाद्वेगेऽतिव्याप्तिवारणाय—आद्येति ॥

आद्यस्यन्दनासमवायिकारणं द्रवत्वम् । पृथिव्यप्तेजोवृत्ति । तद्द्विविधम्—सांसिद्धिकं नैमित्तिकं च । सांसिद्धिकं जले, नैमित्तिकं पृथिवीतेजसोः । पृथिव्यां घृतादावग्निसंयोगजन्यं द्रवत्वम् । तेजसि सुवर्णादौ ॥

आद्य स्यन्दन (प्रथम बहने) का असमवायिकारण द्रवत्व है । यह पृथ्वी, जल और तेज में रहता है । यह दो प्रकार का है । सांसिद्धिक (स्वाभाविक) और नैमित्तिक (अग्नि आदि के तेज के संयोग से होने वाला) सांसिद्धिक द्रवत्व जल में और नैमित्तिक पृथ्वी तथा तेजस् में होता है । पार्थिव घृतादि में अग्नि के संयोग से नैमित्तिक द्रवत्व और तैजस सुवर्ण आदि में भी अग्नि के संयोग से द्रवत्व होता है ।

(त. दी.) द्रवत्वं लक्षयति—आद्यस्यन्दनेति । स्यन्दनं-स्रवणम् । तेजःसंयोगजन्यं नैमित्तिकद्रवत्वम् । तद्भिन्नं सांसिद्धिकद्रवत्वम् । पृथिव्यां नैमित्तिकद्रवत्वमुदाहरति—घृतादाविति । तेजसि तदाह—सुवर्णादाविति ॥

गुरुत्व, द्रवत्व

गुरुत्व और द्रवत्व की परिभाषाएं एक दूसरे से सम्बद्ध हैं । एक पतन का असमवायिकारण है दूसरा प्रथम स्यन्दन का असमवायिकारण है । यहाँ दोनों परिभाषाओं में पतन और स्यन्दन के समस्त द्वितीय और परवर्ती क्रियाओं में असमवायिकारण के रूप में रहने वाले वेग में अतिव्याप्ति के निवारण के लिये 'आद्य' शब्द दिया है । वस्तुतः पतन और स्यन्दन दोनों एक ही हैं । पतन ठोस पदार्थों का है, स्यन्दन द्रव्य पदार्थों का । नैयायिकों ने सम्भवतः यह एकता नहीं समझी । उन्होंने गुरुत्व को प्रथम पतन का कारण माना जबकि वस्तुतः यह प्रत्येक पतन क्रिया का कारण है । गुरुत्व के दो अर्थ—भार और भारीपन इसके सम्बन्ध में हम पहले ही कह चुके हैं ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कुछ द्रव्यों में द्रवत्व स्वाभाविक है जैसे पानी में और कुछ में कृत्रिम जैसे घृत में। यह सांसिद्धिक और नैमित्तिक द्रवत्व यद्यपि पदार्थ के गुण माने जाते हैं किन्तु इनका इतना अभिप्राय है कि कुछ द्रव्य सामान्य तापमान पर द्रवित रहते हैं और कुछ नहीं। बरफ या ओले के रूप में पानी का ठोस हो जाना अपवादात्मक माना जाता है।

द्रवत्व की कल्पना तेजस्, जैसे पिघले हुए सोने या दूसरी धातुओं, में भी की जाती है और यह माना जाता है कि उन धातुओं का ठोसपन उनमें मिले हुए पार्थिव पदार्थों के कारण है। यह भी कहा जा सकता है कि धातुओं का द्रवत्व उनमें मिले हुए जलीय भाग के कारण है। किन्तु वैशेषिकों का कहना है कि यदि ऐसा होता तो यह सांसिद्धिक होता। किन्तु वस्तुतः यह नैमित्तिक है। प्रश्न होता है कि धातुओं में गुरुत्व का कारण जो पार्थिव तत्त्व हैं, वही उसके नैमित्तिक द्रवत्व का कारण भी क्यों नहीं होते? इसका यह उत्तर है कि धातुओं का द्रवत्व अनुच्छिद्यमान है। क्योंकि वह अत्यधिक ताप पहुंचाने पर भी नष्ट नहीं होता जबकि पार्थिव पदार्थों का द्रवत्व उच्छिद्यमान है। धातुओं के रूप में तेजस् का द्रवत्व उसकी एक अपनी विशेषता है।

चूर्णादिपिण्डीभावहेतुर्गुणः स्नेहः। जलमात्रवृत्तिः॥

चूर्णादि को मिला देने वाला गुण स्नेह है। यह केवल जल में रहता है।

(त. दी.) स्नेहं लक्षयति—चूर्णेति। कालादावतिव्याप्तिवारणाय गुण इति रूपादावतिव्याप्तिवारणाय चूर्णादीति।

स्नेह

तेल, दूध और दूसरे पार्थिव पदार्थों में जो स्निग्धता है, वह जलीय तत्त्व के कारण है। किन्तु इस पर यह आक्षेप हो सकता है कि वह जलीय तत्त्व अग्नि को बुझाने के स्थान पर भड़काता क्यों है? इसका उत्तर वैशेषिक यह देते हैं कि शुद्ध जल की अपेक्षा इसमें अधिक स्निग्धता होती है—तैलान्तरे तत्प्रकर्षाद्दहनस्यानुकूलता[1] किन्तु यह नहीं बतलाया जाता कि यह स्निग्धता की सघनता यदि जल के कारण ही है तो फिर तेल में अधिक क्यों है? पिण्डीभाव का अर्थ है सघनत्व। इस पिण्डीभाव के लिए स्नेह का मानना

१. भाषापरिच्छेद, १५७

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आवश्यक है—केवल द्रवत्व इसके लिए पर्याप्त नहीं है। क्योंकि पिघला हुआ सोना जिसमें द्रवत्व होता है, चूर्ण का पिण्डीभाव नहीं कर सकता। न्याय-बोधिनी का कहना है कि केवल तरल जल ही पिण्डीभाव कर सकता है बरफ इत्यादि के रूप में ठोस जल नहीं।

ऐसा लगता है कि आधुनिक विज्ञान के पारिमाणिक आकर्षण का सिद्धान्त जो ठोस द्रव्य और वायवी पदार्थों का कारण है, प्राचीन भारतीयों को ज्ञात नहीं था।

सभी टीकाकारों ने प्रायः यह कहा है कि इस परिभाषा में 'गुण' शब्द काल इत्यादि में अतिव्याप्तिनिवारण के लिए है। किन्तु यह ठीक नहीं लगता क्योंकि हेतु शब्द का अर्थ हम पहले ही असाधारण हेतु लेते आये हैं। वाक्यवृत्ति में कहा है कि यहाँ चूर्ण में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए 'गुण' शब्द दिया है। किन्तु यदि 'हेतु' शब्द का हम निमित्त कारण अर्थ लेते हैं तो चूर्ण में अतिव्याप्ति का निवारण तो स्वयं ही हो जाता है। ऐसा लगता है कि पिण्डीकरण की क्रिया में, जोकि पिण्डीभाव का असाधारण निमित्त कारण है, अतिव्याप्ति निवारण के लिये यहां 'गुण' शब्द दिया है। अतः यहाँ दीपिका में जो व्याख्या की गई है, वह सुसंगत नहीं है। प्रशस्तपाद भाष्य में भी स्नेह की यही परिभाषा आती है और संभवतः अन्नम्भट्ट ने यह परिभाषा वहीं से ली है।[1]

श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दः। आकाशमात्रवृत्तिः। स द्विविधः—ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्चेति। ध्वन्यात्मको भेर्यादौ। वर्णात्मकः संस्कृतभाषादिरूपः॥

श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य गुण शब्द है। यह केवल आकाश में रहता है। यह दो प्रकार का है—ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक, इनमें ध्वन्यात्मक भेरी आदि में होता है और वर्णात्मक संस्कृत भाषादिरूप है।

(त. दी) शब्दं लक्षयति—**श्रोत्रेति**। शब्दत्वेऽतिव्याप्तिवारणाय **गुण इति**। रूपादावतिव्याप्तिवारणाय **श्रोत्रेति**॥ शब्दस्त्रिविधः—संयोगजो विभागजः शब्दजश्चेति। तत्राद्यो भेरीदण्डसंयोगजन्यः। द्वितीयो वंश उत्पाट्यमाने

---

१. प्रशस्तपादभाष्य पृ० २६७ (स्नेहोऽपां विशेषगुणः। संग्रहमृजादिहेतुः।)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

दलद्वयविभागजन्यश्चटचटाशब्दः । भेर्यादिदेशमारभ्य श्रोत्रपर्यन्तं द्वितीयादि-शब्दाः शब्दजाः ॥

शब्द

ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक भेदों के अतिरिक्त दीपिका में शब्द के संयोगज विभागज और शब्दज—यह तीन भेद और किये हैं। ढोल के पीटे जाने से जो शब्द होता है, वह ढोल और हाथ के संयोग से उत्पन्न होने के कारण संयोगज है। बांस की छड़ी इत्यादि को बीच में से तोड़ने पर जो शब्द होता है, वह विभागज है और जो शब्द प्रथम उत्पन्न हुए शब्द से उत्पन्न होता है, वह शब्दज है।

क्योंकि हम किसी भी शब्द को दूर से सुन लेते हैं अतः शब्दज शब्द मानना पड़ता है। चक्षु और श्रोत्र अपने-अपने पदार्थों को दूरी से भी जान लेते हैं। इनमें चक्षु तो यह माना जाता है कि पदार्थ तक जाता है। किन्तु श्रोत्र सर्वव्यापक आकाश से सम्बद्ध है और वह पदार्थ तक नहीं जा सकता क्योंकि श्रोत्र और कुछ नहीं है, हमारे कान की सीमा में बंधा हुआ आकाश ही है—कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाश है। अतः उसके अपने स्थान को छोड़कर जाने का प्रश्न नहीं होता। अब यदि श्रोत्र इन्द्रिय बाहर जाकर पदार्थ से सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकती, तो पदार्थ को सन्निकर्ष के लिए इन्द्रिय के पास आना चाहिए। किन्तु वह शब्द आकाश का गुण होने के कारण आकाश में एक स्थल विशेष पर उत्पन्न होता है और नैयायिकों के अनुसार वह अनित्य भी है। अतः यह माना जाता है कि प्रथम उत्पन्न शब्द, द्वितीय उत्पन्न शब्द को जन्म देता है, और द्वितीय तृतीय को। और इस प्रकार वे कान तक पहुंच जाते हैं। नैयायिक इतने अंश तक वैशेषिकों के साथ सहमत हैं

किन्तु नैयायिकों में इस सम्बन्ध में कुछ मतभेद है कि शब्द किस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय तक यात्रा करता है। कुछ लोगों का कहना है कि शब्द केवल एक ही दिशा में एक सीधी रेखा में यात्रा करता है। यह वींचितरंगन्याय कहलाता है। दूसरे लोग कदंबगोलकन्याय को मानते हैं जिसके अनुसार जिस प्रकार कदंब के फूल की पंखुड़ियां चारों ओर होती हैं, उसी प्रकार शब्द भी चारों दिशाओं में यात्रा करता है।[1] इतना तो स्पष्ट है कि ढोल का शब्द चारों

---

१. कणादरहस्य, पृ० १४६.

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

दिशाओं में सुनाई पड़ता है, अतः दूसरा सिद्धान्त ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । किन्तु साथ ही यह भी कहना होगा कि व्यक्ति जिस ओर मुंह कर के बोलता है, आवाज उस ही ओर अधिक स्पष्ट सुनाई पड़ती है, अतः प्रथम सिद्धान्त भी सर्वथा निराधार नहीं है ।

वस्तुस्थिति यह है कि नैयायिक यह नहीं जानते थे कि श्रोत्रेन्द्रिय कान का पर्दा है, श्रोत्राकाश नहीं। वे यह भी नहीं जानते थे कि शब्द वायु के माध्यम से वायवी अवयवों में पैदा होने वाली लहरों के माध्यम से पहुंचता है। उन्होंने शब्द के स्वभाव को ठीक-ठीक जानने में अपनी शक्ति लगाने के बजाय इस विषय में अपनी शक्ति अधिक लगाई कि शब्द नित्य है, या अनित्य ।

सर्वव्यवहारहेतुर्बुद्धिर्ज्ञानम् । सा द्विविधा—स्मृतिरनुभवश्च । संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः । तद्भिन्नं ज्ञानमनुभवः ।

सब व्यवहार का हेतु गुण बुद्धि है (और वही) ज्ञान है । यह दो प्रकार की है—स्मरण और अनुभव । जो संस्कार मात्र से उत्पन्न हो वह स्मरण है उसके अतिरिक्त ज्ञान अनुभव है ।

(त. दी) **बुद्धेर्लक्षणमाह—सर्वेति**। 'जानामि' इत्यनुव्यवसायगम्यज्ञानत्वमेव लक्षणमित्यर्थः। **बुद्धिं विभजते—सेति** ॥ **स्मृतेर्लक्षणमाह—संस्कारेति** । भावनाख्यः संस्कारः। **संस्कारध्वंसेऽतिव्याप्तिवारणाय-ज्ञानमिति** । घटादिप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिवारणाय-**संस्कारजन्यमिति** । प्रत्यभिज्ञायामतिव्याप्तिवारणाय **मात्रेति** ॥ अनुभवं लक्षयति—**तद्भिन्नमिति** । स्मृतिभिन्नं ज्ञानमनुभव इत्यर्थः ॥

बुद्धि

बुद्धि शब्द के तीन अर्थ हो सकते हैं—ज्ञान, ज्ञान का साधन और जानने की क्रिया । न्यायवैशेषिक दर्शन में बुद्धि शब्द का प्रयोग ज्ञान के अर्थ में हुआ है। बुद्धि को यहां आत्मा का गुण कहा है। ज्ञान गुण है जबकि ज्ञान की क्रिया, क्रिया है और ज्ञान का साधन द्रव्य है। यह ज्ञान का साधन नैयायिकों ने मनसः शब्द से कहा है। सांख्य और वेदान्ती बुद्धि को महत्तत्त्व के अन्तर्गत एक पदार्थ मानते हैं और इसकी क्रियाओं को अनेक भागों में बांट देते हैं जैसेकि अहंकार, अन्तःकरण इत्यादि। अतः वे बुद्धि को ज्ञान का साधन मानते हैं। किन्तु नैयायिक बुद्धि को ज्ञान मानते हैं। और ज्ञान का साधन मन को मानते हैं, जोकि अणु परिमाण है और प्रत्यक्षगम्य

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नहीं। अतः यहाँ बुद्धि को ज्ञान ही माना है, ज्ञान का साधन नहीं। सिद्धान्त-चन्द्रोदय में व्यवहार को आहार-विहार आदि कहा है। किन्तु वाक्यवृत्ति में व्यवहार को बुबोधयिषापूर्वकवाक्यप्रयोगः अर्थात् अपने विचारों को दूसरों तक पहुंचाने के लिए किया गया वाक्यप्रयोग कहा गया है। सिद्धान्तचन्द्रोदय की परिभाषा में हमें उन क्रियाओं को जोकि ज्ञान से प्रेरित नहीं होतीं, व्यवहार मानना पड़ेगा, जैसे कि सोते-सोते चलना। संक्षेप में बुद्धि आत्मा का वह गुण है, जो हमें स्पष्ट वाणी में प्रेरित करता है। किन्तु बुद्धि की इस परिभाषा में निर्विकल्प ज्ञान नहीं आता, क्योंकि हम उसे वाणी से प्रकट नहीं कर सकते, इसलिए वाक्यवृत्ति में व्यवहार का जो कारण जाति है, उससे अवच्छिन्न गुण को बुद्धि मान लिया है—तावृशव्यवहारजनकतावच्छेदकजातिमत्त्वम्। अतः निर्विकल्प ज्ञान यद्यपि व्यवहार हेतु नहीं है, किन्तु इसमें बुद्धित्व जाति है।

बुद्धि की जो परिभाषा यहां दी है, वह व्यवहार के लिए उपयोगी होने पर भी शास्त्रीय दृष्टि से उतनी ठीक नहीं है, अतः दीपिका में एक दूसरी परिष्कृत परिभाषा दी है—जानामीत्यनुव्यवसायगम्यज्ञानत्वम्। अर्थात् बुद्धि वह ज्ञान है, जो अनुव्यवसाय (मैं जानता हूं इस प्रकार के ज्ञान का) विषय बनता है। नैयायिकों के अनुसार ज्ञान के तीन प्रकार हैं—इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष, ज्ञान तथा अनुव्यवसाय। घट के देखने पर चक्षु इन्द्रिय से उसका सन्निकर्ष इन्द्रिय सन्निकर्ष है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह सन्निकर्ष है, अयं घटः इस बुद्धि में परिणत हो जाता है और यह बुद्धि घटज्ञानवान् आत्मा का ज्ञान करवाती है, जोकि अहं के साथ मिलकर घटज्ञानवानहमस्मि या घटमहं जानामि के रूप में परिणत हो जाती है। यह अन्तिम स्थिति अनुव्यवसाय है। अतः 'अयं घट' घटमहं जानामि का विषय माना गया है। सांख्य और वेदान्ती अयं घटः को अनुव्यवसाय का गम्य ज्ञान नहीं मानते किन्तु अनुव्यवसाय को ही स्वयं एक ज्ञान मानते हैं।

सप्तपदार्थी में बुद्धि की यह परिभाषा दी है—आत्माश्रयः प्रकाशः, जिनवर्द्धन ने इसकी यह व्याख्या की है—अज्ञानान्धकारतिरस्कारकारकसकलपदार्थस्यार्थप्रकाशः प्रदीप इव देदीप्यमानो यः प्रकाशः सा बुद्धिः। अर्थात् ज्ञान एक ऐसा प्रकाश है जो अज्ञान के अन्धकार को दूर करके मन के समक्ष समस्त पदार्थों को अभिव्यक्त कर देता है। ऊपर बुद्धि को आत्माश्रय बताया गया है और अन्नम्भट्ट भी आत्मा को ज्ञानाधिकरण मानते हैं और बुद्धि और ज्ञान, दोनों को एक ही मानते हैं।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ज्ञान दो प्रकार का है—स्मृति और अनुभव। स्मृति संस्कार-मात्र-जन्य ज्ञान है, संस्कार भावना है जो अनुभव से पैदा होती है और स्मृति का कारण है। अर्थात् अनुभव और स्मृति के बीच में रहने वाला व्यापार भावनासंस्कार है। व्यापार का लक्षण है—तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकः। अर्थात् हेतु से उत्पन्न होकर अपने कार्य को उत्पन्न कर देने वाला। भावनासस्कार अपने हेतु अनुभव से उत्पन्न होकर अपने कार्य, स्मृति, को उत्पन्न करता है, अतः वह एक 'व्यापार' है।

स्मृति की परिभाषा में मात्र शब्द का प्रयोग बहुत विवादास्पद है। कहा जाता है कि संस्कार से उत्पन्न होने वाली प्रत्यभिज्ञा में अतिव्याप्ति रोकने के लिये 'मात्र' शब्द का प्रयोग किया गया है। किन्तु प्रत्यभिज्ञा केवल संस्कार से ही उत्पन्न नहीं होती, उसके लिये पदार्थ का प्रत्यक्ष भी होना चाहिए। प्रत्यभिज्ञा और स्मृति में यही भेद है कि प्रत्यभिज्ञा के लिए पदार्थ का उपस्थित होना जरूरी है, स्मृति में पदार्थ अनुपस्थित ही रहता है। महावत और हाथी दोनों को एक साथ देखने पर उन दोनों में से एक को देखने पर दूसरे की स्मृति होती है और जिसकी स्मृति होती है वह हमारे सामने नहीं होता, हमारे सामने जो होता है वह उद्बोधक कहलाता है। प्रत्यभिज्ञा में वह पदार्थ जिसकी प्रत्यभिज्ञा होती है, हमारे सम्मुख होता है और हम केवल इस उसे रूप में जानते हैं कि यह वही है। अतः प्रत्यभिज्ञा केवल संस्कार मात्र जन्य नहीं है बल्कि प्रत्यक्षसहकृतसंस्कारजन्य है। तर्कसंग्रह की कुछ प्रतियों में 'मात्र' शब्द नहीं है और दीपिका में इस सम्बन्ध में जो व्याख्या दी है, वह भी नहीं है। सिद्धान्तचन्द्रोदय के सामने ये दोनों पाठ थे, और उन्होंने 'मात्र' पाठ को उपयुक्त माना है। जो लोग 'मात्र' शब्द को परिभाषा में नहीं रखते हैं, उनका कहना है कि प्रत्यभिज्ञा संस्कार से उत्पन्न ही नहीं होती किन्तु संस्कार से उत्पन्न होने वाली 'तत्ता' अर्थात् 'यह वही है' इस ज्ञान से उत्पन्न होती है। अतः यहाँ यदि 'मात्र' शब्द न भी रखें तो कोई हानि नहीं। नीलकण्ठ इसके उत्तर में कहते हैं कि प्रत्यभिज्ञा का कारण

---

१. अत्र प्राञ्चो नैयायिकाः स्मृतिलक्षणे न मात्रपदमावश्यकम्। न च सोऽयं देवदत्त इति प्रत्यभिज्ञायामतिव्याप्तिरिति वाच्यम्। तत्र संस्कारजनिततत्ता-स्मृतिरेव हेतुः। न तु संस्कारोऽपि इत्यतिव्याप्तिविरहादित्याहुः—तर्क-कौमुदी, पृ. ६.

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

9789957041

तादात्मय का संस्कार है, मध्यवर्ती स्मृति नहीं। एक दूसरी आपत्ति यह उठाई जाती है कि स्मृति संस्कारमात्रजन्य नहीं, प्रत्युत अनुभवजन्य भी है। किन्तु यहां जन्य का अर्थ या तो साक्षात जन्य मानना चाहिए और या जैसा नीलकण्ठ ने किया है, इसका अर्थ 'चक्षुराद्यजन्यत्वे सति (संस्कारजन्यत्वे सति नहीं) संस्कारजन्यत्वम्', लेना चाहिए। यहां 'ज्ञान' पद के आने से संस्कारध्वस में अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि वह संस्कारमात्र जन्य तो है, किन्तु ज्ञान नहीं है।

स्मृति के अतिरिक्त सभी ज्ञान अनुभव माने जाते हैं, अर्थात् वे ज्ञान जो नये हैं और पुराने ज्ञान की आवृत्ति मात्र नहीं हैं अनुभव है। अनुभव की यह निषेधात्मक परिभाषा इसलिए दी गई है कि अनुभव सभी मानसिक प्रक्रियाओं का अन्तिम मूल है और सारी मानसिक प्रक्रियाएं अनुभव से ही बनती हैं। स्मृति और बुद्धि को निकाल देने पर जो प्रक्रिया रहती है, वह अनुभव ही है बुद्धि का यह विभाजन गौतम के अनुसार है।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार प्रशस्तपाद ने बुद्धि को दो भागों में बांटा हैं—विद्या और अविद्या। अविद्या चार प्रकार की है—संशय, विपर्यय, स्वप्न, अनध्यवसाय। विद्या भी चार प्रकार की है—इन्द्रियज, अनिन्द्रियज, स्मृति तथा आर्ष। इन्द्रियज दो प्रकार की है—सर्वज्ञीय और असर्वज्ञीय। असर्वज्ञीय भी दो प्रकार की है—सविकल्प और निर्विकल्प। इनमें से अनिन्द्रियज विद्या अनुमान है और आर्ष विद्या योगियों का प्रत्यक्ष है।[1]

इस सम्बन्ध में यह जानने योग्य है कि पशुओं को जो ज्ञान होता है, वह बुद्धि के अन्तर्गत नहीं आता। क्योंकि पशु किसी पदार्थ का मानसिक विम्ब नहीं बना सकते।

स द्विविधः—यथार्थोऽयथार्थश्च। तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थः। यथा रजते 'इदं रजतम्' इति ज्ञानम्। स एव प्रमेत्युच्यते। तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः। यथा शुक्तौ 'इदं रजतम्' इति ज्ञानम्॥

यह अनुभव दो प्रकार का है यथार्थ और अयथार्थ। जो पदार्थ जैसा हो

---

१. प्रशस्तपादभाष्य, पृ० ४११ तथा परवर्ती पृष्ठ, एवम् कणादरहस्य, पृ० ८९ तथा ११५

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उसमें उसी प्रकार का अनुभव यथार्थ है। यही प्रमा भी कहलाता है। जो पदार्थ जैसा न हो उसमें वैसा ज्ञान होना अयथार्थ है। यही अप्रमा भी कहलाता है, जैसे सीप में 'यह चाँदी है' ऐसा ज्ञान।

(त. बी.) अनुभवं विभजते—स द्विविधि इति। यथार्थानुभवस्य लक्षणमाह —तद्वतीति। ननु घटे घटत्वमिति प्रमायामव्याप्तिः; घटत्वे घटाभावादिति चेत्,-न; यत्र यत्संबंधोऽस्ति तत्र तत्संबंधानुभव इत्यर्थाद्घटत्वेऽपि घटसंबन्धो ऽस्तीति नाव्याप्तिः। स इति। यथार्थानुभव एव शास्त्रे प्रमेत्युच्यत इत्यर्थः। अयथार्थं लक्षयति—तदभाववतीति। ननु 'इदं संयोगि' इति प्रमायामति-व्याप्तिरिति चेत्,—न; यदवच्छेदेन यत्संबन्धाभावस्तदवच्छेदेन तत्संबन्धज्ञानस्य विवक्षितत्वात् संयोगभावावच्छेदेन संयोगज्ञानस्य भ्रमत्वात्, संयोगावच्छेदेन संयोगसंबंधस्य सत्त्वात् नातिव्याप्तिः॥

अनुभव

अनुभव दो प्रकार का है—यथार्थ और अयथार्थ। यथार्थ अनुभव प्रमा है और अयथार्थ अप्रमा। जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही जानना यथार्थ अनुभव है। इसका शास्त्रीय रूप इस प्रकार होगा—तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवः प्रमा।

यहां विशेष्य और प्रकार शब्दों को समझ लेना चाहिए। जब हमें कोई विशिष्ट ज्ञान होता है तो विशेष्य और प्रकार दोनों को ले कर ही होता है। जैसे अयं घटः यहाँ घट विशेष्य है और घटत्व जो घट को पटादि से भिन्न करता है, उसका प्रकार है। विशेषणतया प्रतीयमान को प्रकार करते हैं, आश्रयतया प्रतीयमान विशेष्य होता है। अतः अयंघट का अर्थ है—घटविशेष्यक-घटत्वप्रकारक, अर्थात् जो घट विशेष्यवान् है और घटत्व प्रकार वाला है, वह घट ज्ञान है। इस प्रकार विशेष्य और प्रकार दोनों ज्ञान के स्वरूप को बताते हैं।

अतः तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवः का अर्थ होगा घटविशेष्यक-घटत्वप्रकारोऽ नुभवः। अर्थात् वही धर्म जो पदार्थ में हैं, उस पदार्थ के ज्ञान को भी पृथक् करने वाले होने चाहिए, अतः वाक्यवृत्ति में कहा है—सप्तम्यर्थो विशेष्यत्वम्। अर्थात् तद्वति का यह अभिप्राय है कि घट में तत्ता अर्थात् घटत्व है और वह ज्ञान अयं घटः इस प्रकारतया भासमान है। संक्षेप में जो पदार्थ जैसा है, उसका उसी रूप में ज्ञान प्रमा है। इसका विपरीत अप्रमा है, जिसका अर्थ है, कि जो पदार्थ जिस रूप में नहीं है, उस रूप मे उसका ज्ञान होना, जैसा रजत का शुक्ता में।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इस परिभाषा पर एक आक्षेप दीपिका में उठाया है। यहाँ अप्रमा की व्याख्या भी अतिव्याप्त है, क्योंकि 'ये दो पदार्थ परस्पर मिले हुए हैं' इस प्रकार के ज्ञान को भी यहाँ अप्रमा मान लिया जाएगा क्योंकि मिलने का अर्थ है संयोग और संयोग सर्वावयव में रहता नहीं है और संयोगवत् पदार्थ संयोगाभाववत्, भी होते हैं। इस प्रकार 'इदं संयोगि' यह ज्ञान प्रमा अप्रमा दोनों होगा। किन्तु यह आक्षेप निराधार है। अप्रमा में पदार्थ के जिस भाग में संयोग है, वहाँ संयोग का ज्ञान नहीं होता और प्रमा में जिस भाग में संयोग है, वहीं संयोग का ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त एक पदार्थ दूसरे पदार्थ में संयोग सम्बन्ध से रहता है, समवाय सम्बन्ध से नहीं, अतः समवाय सम्बन्ध का निषेध इस अप्रमा को नहीं होने देता।

सांख्य और वेदान्तदर्शन के अनुयायी प्रमा की यह परिभाषा कहते हैं—अनधिगताबाधितार्थविषयत्वम्। अर्थात् ऐसे पदार्थ का ज्ञान जो पहले अनधिगत था और जो कभी बाधित नहीं होता। यहां अनधिगत शब्द कहने से स्मृति में प्रमा की अतिव्याप्ति का निवारण होता है। अन्नम्भट्ट के अनुसार स्मृति भी दो की है—यथार्थ और अयथार्थ, यद्यपि स्मृति की प्रामाणिकता के आधार भिन्न हैं। कुछ नैयायिक स्मृति को एक ही प्रकार की मानते हैं। अयथार्थ अनुभव का विवेचन हम आगे करेंगे। प्रमा के जो चार विभाग किये हैं, वे अयथार्थ अनुभव पर भी लागू होते हैं। इन्द्रियों के या दूसरे कारणों में किसी विकार या त्रुटि के कारण अप्रमा हो सकती है या तर्क के गलत होने से अप्रमा हो सकती है या एक गलत उपमा द्वारा या शब्दों को गलत समझने से हमारा ज्ञान मिथ्या हो सकता है। ये सभी प्रकार के ज्ञान विपर्यय माने जाएंगे जब तक कि उनमें संशय और तर्क के लिये जो शर्तें अनिवार्य हैं, वे भी न पायी जाएं।

यथार्थानुभवश्चतुर्विधः—प्रत्यक्षानुमित्युपमितिशाब्दभेदात्। तत्करणमपि चतुर्विधम्—प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दभेदात्॥

यथार्थ अनुभव चार प्रकार का है—प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्द। उनके करण (असाधारण कारण) भी चार प्रकार के हैं प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।

(त. दी.) यथार्थानुभवं विभजते—यथार्थेति। प्रसङ्गात्प्रमाकरणं विभजते—तत्करणमिति। प्रमाकरणमित्यर्थः। 'प्रमायाः करणं प्रमाणम्' इति प्रमाणसामान्यलक्षणम्॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अनुभव के भेद

प्रमा के जो चार भेद यहाँ बतलाये गये हैं उनकी हम बाद में चर्चा करेंगे। किन्तु यह प्रमाण के सम्बन्ध में कुछ जान लेना आवश्यक है। नियम है कि 'मानाधीना मेयसिद्धिः' अर्थात् पदार्थ मात्र की सिद्धि प्रमाण पर निर्भर करती है। यदि हम एक बार ज्ञान को प्राप्त करने वाले साधनों की प्रामाणिकता निश्चित कर लें तो उनके द्वारा सत्य ज्ञान की प्राप्ति कठिन नहीं रह जाती। इसलिये न्याय दर्शन के ग्रन्थों में प्रमाण की विस्तृत चर्चा है। अन्नम्भट्ट ने गौतम का अनुसरण करते हुए चार प्रमाण माने है।[1] प्रमाण की परिभाषा दीपिका में दी है—प्रमाकरणम् अर्थात् यथार्थ ज्ञान का साधन। किन्तु जहाँ पर वे साधन प्रमाणिक होते हुए भी किन्हीं वाह्य कारणों से अयथार्थ ज्ञान करवाते हैं, वहां यह परिभाषा लागू नहीं होती जैसे कामलादिदोषजन्यः पीतः शङ्खः इत्यादि।

प्रमाण की जो परिभाषा यहां दी है, उसमें प्रमाजनकत्व तो आया पर प्रमात्वज्ञापकत्व का निर्देश नहीं है अर्थात् प्रमाण प्रमा का जनक है यह तो वहाँ कहा गया किन्तु यह नहीं कहा गया कि प्रमाण प्रमा के प्रमात्व का भी ज्ञापक है। सर्वदर्शनसंग्रह में प्रमाण की परिभाषा दी है—साधनाश्रयाव्यतिरिक्तत्वे सति प्रमाव्याप्तम्[2] अर्थात् जिसके अनन्तर यथार्थ ज्ञान हो, और जो ज्ञान के अधिकरण आत्मा और इन्द्रियों के साथ सम्बद्ध हो, वह प्रमाण है। इस प्रकार प्रमाण प्रमा की अनिवार्य शर्त भी है, केवल प्रमा का कारण ही नहीं है। प्रमाण केवल सत्य को जानता ही नहीं है प्रत्युत सत्य की परीक्षा भी करता है। अतः यह प्रमा करण ही नहीं है, प्रमात्व ज्ञापक भी है। नैयायिक परतः प्रमाणवादी हैं। अर्थात् वे यह मानते हैं कि ज्ञान की प्रामाणिकता के लिये कोई अन्य साधन चाहिये। अतः वे इस ओर विशेष ध्यान नहीं देते। प्रमाण न आत्मा है, न मन और न इन्द्रिय, अन्यथा इसके पृथक् परिगणन की आवश्यकता ही नहीं थी।

मीमांसक प्रमाण की परिभाषा 'अनधिगतार्थगन्तृ' देते हैं किन्तु सिद्धान्तचन्द्रोदय का कहना है कि एक ही पदार्थ के क्रमशः बार बार प्रतीत होने पर धारावाहिक ज्ञान में प्रथम ही अनुभव प्रमा होगा शेष अधिगतार्थ होने के कारण

---

१. न्यायसूत्र, १. १. ३.

२ सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० २३५

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रमा नहीं होंगे। मीमांसकों का कहना है कि ऐसा नहीं है, क्योंकि ज्ञान भिन्न-भिन्न-क्षण-विशेषित होने के कारण क्षणरूपविषय के भिन्न-भिन्न होने से अनधिगतार्थ ही होगा।

पाश्चात्य विद्वानों ने दो अन्य प्रकार के ज्ञान भी माने हैं—इन्ट्यूशन और विलीफ। इन्ट्यूशन वह ज्ञान है जो बिना किसी इन्द्रिय के या मानसिक प्रक्रिया के बीच में आए, होता है। रेखागणित के सिद्धान्तों का, समय और स्थान का ज्ञान इसी प्रकार का है। नैयायिकों के विवेचन में इस प्रकार के ज्ञान के लिए कोई स्थान नहीं है। काल और स्थान का ज्ञान नैयायिक उनके अपने-अपने कार्यों से अनुमेय मानते हैं। अन्य ज्ञानों को सम्भवतः वे पूर्वजन्म के संस्कारवश होने वाली स्मृति मानेंगे। इस पूर्वजन्म के सिद्धान्त के कारण भारतीय दार्शनिक बहुत सी ऐसी चीजों को व्याख्येय बना सके, जोकि पाश्चात्य दार्शनिक विद्वानों के लिये अव्याख्येय रह गई। विलीफ या फेथ उस ज्ञान को कहते हैं, जो हम उस पदार्थ के सम्बन्ध में रखते हैं, जो हमारे सम्मुख नहीं है, या जिन्हें हम तुरन्त नहीं देख सकते। नैयायिक सम्भवतः इसे शाब्द ज्ञान मानेंगे।

असाधारणं कारणं करणम्।

असाधारण कारण को करण कहते हैं।

(त. दी.) करणलक्षणमाह—असाधारणेति। साधारणकारणे विक्कालादावतिव्याप्तिवारणाय—असाधारणेति॥

करण

करण असाधारण कारण है। टीकाकारों के अनुसार यहां असाधारण शब्द साधारण कारण काल और आकाश की व्यावृत्ति के लिये है। काल और आकाश कार्य सामान्य के प्रति कारण हैं केवल तत्तत् कार्य के प्रति नहीं। अतः वे असाधारण न होकर साधारण हैं। नीलकंठ ने असाधारण का यह अर्थ किया है—यद्विलम्बात्प्रकृतकार्यानुत्पादस्तत्कारणत्वम् अर्थात् जिसके न रहने पर कार्य की कभी भी उत्पत्ति न हो सके। किन्तु वस्तुतः इतना होने पर भी कोई असाधारण कारण तब तक करण नहीं होता जब तक कि उसमें व्यापार नहीं हो। यहां कारण स्वरूपयोग्यता है फलोपधायकता नहीं। दण्ड घट का असाधारण निमित्त कारण है और भ्रमी रूप व्यापारवान् भी है। इसी तरह ज्ञान के प्रति चक्षु करण है, क्योंकि उसमें सन्निकर्ष रूप

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

व्यापार है। यदि व्यापारवत्त्व अनिवार्य न माना जाये तो चक्षुःसन्निकर्ष में भी कारणता आ जायेगी। किन्तु वन में स्थित दण्ड घट का करण नहीं हो सकता। यद्यपि यह परिभाषा वहां भी लागू होती है। अतः घट के बनाने में जो वस्तुतः लगे वही दण्ड घट का साधारण कारण होने से करण होगा, वन में स्थित दण्ड नहीं। अतः नैयायिक इस परिभाषा में व्यापारवत्त्वे सति जोड़ देते हैं। व्यापार का सिद्धान्तचन्द्रोदय में यह लक्षण दिया है— द्रव्येतरत्वे सति तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकः, अर्थात् जो स्वयं द्रव्य नहीं है, किन्तु द्रव्य का जन्य है और उसका जनक भी है। परशु जब वृक्ष को काटता है, तो वह करण होता है और परशु और लकड़ी का परस्पर संयोग व्यापार है क्योंकि वह परशु से उत्पन्न होता है और छेदन की उत्पत्ति का कारण है। ऊपर द्रव्येतरत्वे सति इसलिये कहा गया है कि कपाल जोकि मध्यमावयवी है, अर्थात् परमाणुओं से उत्पन्न होता है, और घट को उत्पन्न करता है, व्यापार न माना जाय, क्योंकि वह स्वयं ही द्रव्य है।

यह परिभाषा प्राचीन नैयायिकों के अनुसार है। किन्तु नव्यनैयायिक इस विषय में सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि करण की परिभाषा है— फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणं करणम् अर्थात् कार्य से नियत रूप से और तुरन्त पहले रहने वाला कारण करण है। यद्यपि इन परिभाषाओं में कोई भेद नज़र नहीं आता, पर वस्तुतः एक इनमें मौलिक भेद है। प्राचीन नैयायिकों के अनुसार करण में व्यापार होना आवश्यक है कि नव्यनैयायिकों के अनुसार वह व्यापार ही स्वयं करण है, क्योंकि द्रव्य की अपेक्षा कार्य के वह अधिक निकट है। उदाहरणतः किसी पदार्थ के देखने पर दृष्टि पदार्थ से सन्निकर्ष प्राप्त करती है। यहां प्राचीन नैयायिकों के अनुसार चक्षु इन्द्रिय करण है जबकि नव्यनैयायिकों के अनुसार स्वयं सन्निकर्ष ही करण है। प्राचीन नैयायिकों की परिभाषा में जब अनुमिति का कारण लिंगज्ञान या व्याप्तिज्ञान माना जाता है तो यह असंगति आती है कि ज्ञान स्वयं ही गुण है, और इस प्रकार वह स्वयं पदार्थ में रहता है, उसमें कोई अन्य व्यापार नहीं रह सकता। अनुमिति में प्राचीन नैयायिक परामर्श को व्यापार कहते हैं और नव्यनैयायिक उसे करण मानते हैं। दूसरे यदि प्राचीन नैयायिकों की परिभाषा मानें, तो जिस प्रकार प्रत्यक्ष का करण इन्द्रियां हैं, उस प्रकार अनुमिति का करण भी मन होना चाहिए, व्याप्ति नहीं। और मन क्योंकि सुखादि प्रत्यक्ष का भी करण है, अतः इस प्रकार वह अनुमिति और मानस प्रत्यक्ष दोनों का करण हो

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जाएगा। अतः नव्यनैयायिक कारण की परिभाषा 'फलव्याप्तम्' मानते हैं और प्राचीन नैयायिकों के अनुसार जो करण है, उसे वे असाधारण कारण न मानकर सामान्य कारण मानते हैं।

केशवमिश्र ने करण की परिभाषा 'साधकतमं कारणं' दी है जिसे प्रकृष्टं करणं भी कहा जाता है।[1] एक कार्य के अनेक कारण होते हैं किन्तु कुछ कारण उस कार्य में विशेष रूप से सहायक होते हैं। यदि किसी व्यक्ति को दो मारने वालों में से एक उसे पकड़े रहे और दूसरा मारे तो केवल पकड़ने वाले से मारने वाला अधिक सक्रिय माना जायेगा। रथ के पहिये जो रथ को गति देते हैं, उतने सक्रिय नहीं हैं जितने कि घोड़े जो उसे खींचते हैं। अतः इस प्रकार के विशिष्ट कारण करण हैं। व्यापार ही कारण की विशेषता है। किन्तु व्यापारवत्त्व से ही तो कर्ता भी करण मान लिया जाएगा, क्योंकि वह सबसे अधिक सक्रिय होता है। करण की परिभाषा करते समय कर्ता में अतिव्याप्ति नहीं आये इसका इस लक्षण में कोई उपाय नहीं किया गया। केशवमिश्र प्रमाण की परिभाषा 'प्रमाकरण' करते समय कहते हैं—सत्यपि प्रमातरि प्रमेये च प्रमानुत्पत्तेरिन्द्रियसंयोगादौ तु सत्यविलम्बेनैव प्रमोत्पत्तेरिन्द्रियसंयोगादिरेव करणम्,[2] जो अविलम्ब कार्य की उत्पत्ति करे, यही करण का प्रकर्ष है और यह केवल इन्द्रिय सन्निकर्ष में होता है। ज्ञाता और ज्ञेय व्यापारवान् होने पर भी करण नहीं कहलाते। इस प्रकार करण शब्द की परिभाषा में से व्यापारवत्त्व का तत्त्व निकल गया और 'अविलम्बेन कार्योत्पादकत्व' या 'फलायोगव्यवच्छिन्नत्व' शब्द प्रधान हो गया और इस तरह नव्यनैयायिकों में प्राचीन नैयायिकों में भेद प्रारम्भ हो गया। किन्तु इस परिभाषा में करण के अन्तर्गत इन्द्रियाँ भी नहीं आती थीं, और नव्यनैयायिकों ने तो इस स्थिति को स्वीकार कर लिया किन्तु प्राचीन नैयायिक इस स्थिति को स्वीकार नहीं कर सके और उन्होंने प्रमाण की परिभाषा यह दी—अनुभवत्वव्याप्यजात्यवच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणताश्रयत्वे सति। यहाँ प्रमाता, करणता का आश्रय होने के कारण, अर्थात् प्रमा के अतिरिक्त अन्य भी कार्यों का आश्रय होने के कारण प्रमाण के अन्तर्गत नहीं आयेगा। कारण के सम्बन्ध में नव्यनैयायिकों का और प्राचीन नैयायिकों के बीच यह विवाद प्रौढ़ ग्रन्थों में बहुत विस्तार से दिया गया है।

---

१. तर्कभाषा, पृ० २८
२. उपरिवत्, पृ० ३२

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अन्नम्भट्ट के इस सम्बन्ध में क्या मत था, यह जानने के लिये यह जानना होगा कि बहुत सी पुस्तकों में व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम्[1] पाठ दिया गया है। किन्तु ऐसा लगता है कि दीपिका, सिद्धान्तचन्द्रोदय और नीलकण्ठ की टीका में व्यापारवत् शब्द नहीं था। यदि यह शब्द यहां होता, तो किसी टीका में या मूलग्रन्थ में व्यापार की व्याख्या भी होती। अतः यहां यह शब्द मूलतः नहीं रहा होगा। सम्भवतः अन्नम्भट्ट इस विषय में स्पष्ट भी नहीं थे कि वे किस मत को स्वीकार करें। एक ओर वे इन्द्रियों को प्रत्यक्ष का करण मानते हैं और दूसरी ओर परामर्श को अनुमिति का करण मानते हैं। किन्तु संभवतः वे इस विवाद में इसलिये नहीं पड़ना चाहते थे कि वे 'बालानां सुखबोधाय' लिख रहे थे। अतः उन्होंने प्रत्यक्ष और उपमिति में तो प्राचीन दृष्टि से विवेचन किया और अनुमिति में परामर्श को करण मानकर नव्य दृष्टि का अनुसरण किया। अतः उन्होंने असाधारण शब्द का प्रयोग करके इस विवाद को अनिर्णीत ही रहने दिया।

कार्यनियतपूर्ववृत्ति कारणम्।

जो कार्य के पूर्व नियत रूप में रहे वह कारण कहलाता है।

(त. दी.)—कारणलक्षणमाह—कार्येति। 'पूर्ववृत्ति कारणम्' इत्युक्ते रासभादावतिव्याप्तिः स्यादतो नियतेति। तावन्मात्रे कृते कार्येऽतिव्याप्तिरतः पूर्ववृत्तीति॥ ननु तन्तुरूपमपि पटं प्रति कारणं स्यादिति चेत्,—न; अनन्यथासिद्धत्वे सतीति विशेषणात्। अनन्यथासिद्धत्वमन्यथासिद्धिविरहः। अन्यथासिद्धिश्च त्रिविधा। येन सहैव यस्य यं प्रति पूर्ववृत्तित्वमवगम्यते तं प्रति तेन तदन्यथासिद्धम्। यथा तन्तुना तन्तुरूपं, तन्तुत्वं च पटं प्रति। अन्यं प्रति पूर्ववृत्तित्वे ज्ञात एव यस्य यं प्रति पूर्ववृत्तित्वमवगम्यते तं प्रति तदन्यथासिद्धम्। यथा शब्दं प्रति पूर्ववृत्तित्वे ज्ञात एव घटं प्रत्याकाशस्य, अन्यत्र क्लृप्तनियतपूर्ववर्तिनैव कार्यसंभवे तत्सहभूतमन्यथासिद्धम्। यथा पाकजस्थले गन्धं प्रति रूपप्रागभावस्य। एवं चानन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तित्वं कारणत्वम्॥

कारण

करण शब्द की परिभाषा में कारण शब्द आया है। कारण की परिभाषा यहां दी है कि जो कार्य के नियत रूप से पूर्ववर्ती हो। स्पष्ट है कि

१. यह पाठ न्यायबोधिनी में भी मिलता है।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कार्य से पहले कारण को होना ही चाहिए। किन्तु कारण के अतिरिक्त कार्य से पूर्व अन्य भी अनेक पदार्थ रह सकते हैं। घट बनाने से पूर्व घट बनाने की मिट्टी बैलगाड़ी में भी आ सकती है, और गधे पर भी। किन्तु ये दोनों ही घड़े के कारण नहीं माने जाएंगे, क्योंकि वे घट के पूर्व नियत रूप से नहीं रहते।

इस मूल परिभाषा में भी दीपिका ने 'अनन्यथासिद्धत्वे सति' जोड़ा अर्थात् कारण को कार्य के साथ दूरवर्ती सम्बन्ध वाला नहीं होना चाहिए। उदाहरणतः कुम्भकार का पिता भी घट के पूर्व नियतरूप से होता ही है। क्योंकि उसके बिना कुम्भकार नहीं हो सकता और कुम्भकार के बिना घट नहीं हो सकता। किन्तु कुम्भकार का पिता का सम्बन्ध घट के साथ बहुत दूरवर्ती है। अतः वह घट का कारण नहीं है। इसी प्रकार दण्ड घट का कारण है किन्तु दण्ड का रूप नहीं, यद्यपि कार्य से पहले वह भी होता अवश्य है। सिद्धान्तचन्द्रोदय में इस परिभाषा की यह व्याख्या की है—कार्यान्नियता (अवश्यंभाविनी) पूर्ववृत्तिः (पूर्वक्षणवृत्तिः) यस्य तत्तथा। नियतपूर्ववृत्तित्व की व्याख्या—'अव्यवहितपूर्वकालावच्छेदेन कार्यदेशे सत्त्वम्' के रूप में की गई है अर्थात् तुरन्त पूर्ववर्ती काल में कार्य के ही स्थलपर जो उपस्थित हो, इस प्रकार गधा, कुम्भकार का पिता, और अरण्यस्थ दण्ड इन सबका व्यावर्तन हो जाता है। किन्तु दण्डरूप और दण्डत्व जाति की व्यावृत्ति अनन्यथासिद्ध से ही होती है। वाक्यवृत्ति में कारण की पूर्ण परिभाषा इस रूप में दी है—नियतान्यथासिद्धभिन्नत्वे सति कार्याव्यवहितपूर्वक्षणावच्छिन्न-कार्याधिकरणदेशनिरूपिताधेयतावदभावप्रतियोगितानवच्छेदकधर्मवत् कारणम्। कारण की इस परिभाषा में कारण की इतनी शर्तें दी हैं—१. इसे कार्य के पूर्व अनिवार्य रूप से रहना चाहिए। २. इसका सम्बन्ध कार्य से सीधा होना चाहिए। ३. इसे कार्याधिकरणवृत्ति अभाव का प्रतियोगी नहीं होना चाहिए। ४. इसे कार्य के अधिकरण देश में ही होना चाहिए और ५. यह कार्य के तुरन्त पूर्ववर्ती क्षण में होना चाहिए। मिल ने कारण की जो परिभाषा दी है, उसमें दो ही बातें प्रमुख हैं कि कारण को कार्य के पूर्व में नियतवर्ती होना चाहिए और बिना शर्त के होना चाहिए।

कारण की परिभाषा में मूल पुस्तक में अनन्यथासिद्ध शब्द नहीं दिया गया। सम्भवतः दीपिका ने बाद में इसे जोड़ा। अनन्यथासिद्ध अन्यथासिद्ध का उल्टा है। अन्यथासिद्ध का अर्थ है जो कार्य में अनुपयोगी होकर स्थित रहे। जैसे दण्ड के साथ रहने वाली दण्डत्व जाति। दण्डरूप भी अन्यथासिद्ध ही है।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

दीपिका में अनन्यथासिद्धत्व के तीन प्रयोजक बताये हैं—१. कारण के साथ समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध । जैसे पट के पूर्ववर्ती तन्तु में रहने वाला तन्तुत्व या तन्तु रूप । २. जिनका पूर्ववर्तित्व अन्य के पूर्ववर्तित्व से सापेक्ष हो वहाँ वे अन्यथासिद्ध होते हैं। जैसे कुम्भकार से पहले रहने वाला कुम्भकार का पिता । ३. कारण के साथ समवाय सम्बन्ध से अतिरिक्त सम्बन्ध से रहने वाले तत्त्व जैसे, रूपप्रागभाव गन्ध का कारण नहीं है, यद्यपि यह गन्धप्रागभाव का सहवर्ती है । विश्वनाथ ने अन्यथासिद्ध के निम्न पांच प्रयोजक दिये हैं—

येन सह पूर्वभावः (१) कारणमादाय वा यस्य (२) ।
अन्यं प्रति पूर्वभावे ज्ञाते यत्पूर्वभावविज्ञानम् (३) ॥
जनकं प्रति पूर्ववर्तितामपरिज्ञाय न यस्य गृह्यते (४) ।
अतिरिक्तमथापि यद्भवेन्नियतावश्यकपूर्वभाविनः (५)[1]

इनके उदाहरण निम्न कारिकाओं में दिये हैं :—

एते पञ्चान्यथासिद्धा दण्डत्वादिकमादिमम् ।
घटादौ दण्डरूपादि द्वितीयमपि दर्शितम् ॥
तृतीयं तु भवेद्व्योम कुलालजनको परः ।
पञ्चमो रासभादिः स्यादेतेष्वावश्यकस्त्वसौ ॥[2]

इनमें से प्रथम दो तो अन्नम्भट्ट के प्रथम वर्ग में आ जाएंगे, तीसरे और चौथे दूसरे वर्ग में आएंगे और पांचवां तीसरे वर्ग में । यह कहा जा सकता है कि अन्यथासिद्ध शब्द के अन्तिम वर्ग में रासभ इत्यादि की व्यावृत्ति हो जाती है, फिर नियत शब्द की क्या आवश्यकता है । किन्तु एक विशेष रासभ घट के लिये अन्यथासिद्ध हो सकता है, किन्तु रासभत्व सामान्यतः घटत्व के लिये अन्यथासिद्ध नहीं होता, अतः नियत शब्द आवश्यक है । वस्तुतः नियत शब्द के प्रयोग से अन्यथासिद्ध का भाव स्पष्ट हो जाता है ।

---

१. भाषापरिच्छेद, १९-२०
२. उपरिवत्, २१-२२

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कार्यं प्रागभावप्रतियोगि ॥

जो प्रागभाव का प्रतियोगी हो वह कार्य है ।

(त. दी.)—कार्यलक्षणमाह—कार्यमिति ॥

कार्य

प्रागभाव का प्रतियोगी कार्य है । दूसरे शब्दों में कार्य वह है जिसका प्रारम्भ हो । प्रागभाव अनादि होता है किन्तु अनन्त नहीं होता । प्रागभाव स्वयं अपना प्रतियोगी नहीं हो सकता, अतः वह कार्य नहीं है ।

प्रतियोगी शब्द का प्रयोग न्यायदर्शन में बहुत अधिक होता है । प्रतियोगी शब्द की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है । प्रतियोगी एक सम्बन्ध है, और भाव और अभाव में सम्बन्ध इसलिये सम्भव माना जाता है कि नैयायिकों के अनुसार अभाव की भी एक स्वतन्त्र सत्ता है और प्रतियोगी वस्तुतः दो पदार्थों में वस्तुनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है, प्रत्युत प्रमाता अपनी कल्पना से दो पदार्थों में इसका आरोप कर लेता है और क्योंकि यह आरोपित धर्म है, अतः दो असत् पदार्थों में भी रह सकता है । इस प्रकार अभाव यद्यपि एक निषेधात्मक तत्त्व है, किन्तु अभाव का भाव वास्तविक है । अतः इसका बाह्य पदार्थ से सम्बन्ध होना चाहिए । अभाव के भाव का सम्बन्ध स्वयं अभाव से तो हो नहीं सकता, क्योंकि बाह्य जगत में अभाव नाम का कोई विध्यात्मक पदार्थ नहीं है । अतः अभाव का सम्बन्ध छः पदार्थों में से ही, जो कि भावात्मक हैं, किसी एक से होना चाहिए । भाव पदार्थों का अभाव के साथ यह सम्बन्ध प्रतियोगिता है । जैसे घट घटाभाव का प्रतियोगी है, पट पटाभाव का प्रतियोगी है । ये सभी प्रतियोगिता सम्बन्ध विरुद्ध कहलाते हैं । एक अन्य प्रतियोगितासम्बन्ध वित्तिवेद्यत्व है जो कि एक पदार्थ और इसके गुणों में या दो पदार्थों में होता है । उदाहरणतः जब हम कहते हैं कि मुख चन्द्रमा के समान है, तब चन्द्रमा मुख का सादृश्य सम्बन्ध से प्रतियोगी है क्योंकि यहां भी सादृश्य का भाव समझने के लिये चन्द्रमा का ज्ञान होना आवश्यक है । किन्तु यह प्रतियोगिता एक भिन्न प्रकार की है । विरुद्धत्व सम्बन्ध में दो में से एक पदार्थ भावात्मक होता है, दूसरा अभावात्मक, जबकि यहां दोनों ही पदार्थ भावात्मक हैं । जिस पदार्थ के साथ प्रतियोगिता सम्बन्ध होता है, वह अनुयोगी कहलाता है जैसे कि चन्द्र सादृश्य में मुख सादृश्य का अनुयोगी

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है । इसी प्रकार घटाभाव का भूतल अनुयोगी है । इस प्रकार घट घटप्रागभाव का प्रतियोगी है और कार्य समस्त प्रागभाव का प्रतियोगी है ।

कार्य की परिभाषा के सम्बन्ध में कार्य-कारण सम्बन्ध का सिद्धान्त बहुत विवादास्पद है । यह सिद्धान्त इस प्रकार है कि कार्य कारण से सर्वथा भिन्न है और उत्पत्ति से पूर्व उसका कोई अस्तित्व नहीं होता । यह सिद्धान्त न्यायवैशेषिक दर्शन को अन्य दर्शनों से पृथक् कर देता है । इस सम्बन्ध में माधवाचार्य ने कार्यकारण भाव के चार प्रकार दिखाये हैं—इह कार्यकारणभावे चतुर्धा विप्रतिपत्तिः प्रसरति । असतः सज्जायत इति सौगताः संगिरन्ते । नैयायिकादयः सतोऽसज्जायत इति । वेदान्तिनः सतो विवर्तः कार्यजातं न तु वस्तु सदिति । साङ्ख्याः पुनः सतः सज्जायत इति[1] ।

बौद्धों का कहना है कि असत् से सत् की उत्पत्ति होती है । वेदान्ती इससे सर्वथा विपरीत मत मानते हैं और कारण को सत् और कार्य को असत् मानते हैं । नैयायिक और सांख्य कारण और कार्य दोनों को ही सत् मानते हैं । किन्तु सांख्य उन दोनों को ही हर समय सत् मानते हैं और यह मानते हैं कि ये दोनों साथ-साथ रहते हैं । किन्तु नैयायिक उत्पत्ति से पूर्व कार्य की सत्ता नहीं मानते । बौद्धों के अनुसार कार्य असत् में से आता है । नैयायिकों के अनुसार पुराने कारण में से एक नया कार्य उत्पन्न होता है । सांख्य दर्शन के अनुसार कारण में निहित गुणों का विकास ही कार्य के रूप में प्रकट होता है और वेदान्तियों के अनुसार वस्तुतः कारण में कोई परिवर्तन नहीं आता, केवल हमारी मानसिक कल्पना कार्य को जन्म देती है ।

बौद्ध मत इस सर्वसम्मत सिद्धान्त के विरुद्ध है कि असत् से असत् ही उत्पन्न हो सकता है और इसकी सबने कटु आलोचना की है ।[2] वेदान्तियों का मायावाद एक स्वतन्त्र ही सिद्धान्त है । किन्तु परस्पर सांख्य और नैयायिकों के सिद्धान्तों में, जिन्हें क्रमशः सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद कहा जाता है, तीव्र प्रतिस्पर्द्धा है । अन्नम्भट्ट ने जो कार्य की परिभाषा दी है, उसमें असत् कार्यवाद स्पष्ट है । कार्य प्रागभाव का प्रतियोगी है और उत्पत्ति से पहले उसकी कोई स्थिति नहीं होती ।

---

१. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ३२०-३२१

२. नासतोऽदृष्टत्वात्—शाङ्करभाष्य, ब्रह्मसूत्र, २.२.२६

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सत्कार्यवाद के पक्ष में दी जाने वाली युक्तियां सांख्यकारिका की निम्न कारिका में साररूप में दी हैं—

असदकरणाद्, उपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥[1]

असत्कार्य के विरुद्ध यहां पांच कारण दिये हैं। पहला कारण यह है कि असत् की उत्पत्ति नहीं की जा सकती। दूसरा यह है कि उपादान कारण कार्य के साथ सर्वदा मिला हुआ रहता है। जैसाकि तेल तिलों में पहले से ही उपस्थित होता है और असत् का तो कोई सम्बन्ध किसी के साथ हो नहीं सकता। इसलिए उत्पत्ति से पूर्व भी कार्य को होना ही चाहिए। तीसरे यदि कारण में कार्य किसी भी रूप में उपस्थित ही नहीं होता, तो फिर किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न हो सकता है। क्योंकि इसका नियामक कुछ भी नहीं रहता कि एक विशेष कारण से एक कार्य विशेष ही उत्पन्न हो, जबकि हम देखते यह हैं कि एक निश्चित कारण से एक निश्चित कार्य ही उत्पन्न होता है। चौथे यदि यह माना जाय कि कारण में कुछ ऐसे गुण निहित रहते हैं, जो एक कार्य विशेष को ही जन्म देते हैं तो यह प्रश्न आयेगा कि उन गुणों का कार्य से कोई सम्बन्ध है या नहीं। यदि सम्बन्ध है, तब तो कार्य की पूर्वसत्ता कारण में हो ही गई और यदि कोई सम्बन्ध नहीं है, तो कठिनाई ज्यों की त्यों बनी रही कि एक विशेष प्रकार के गुण से एक विशेष प्रकार का कार्य ही क्यों उत्पन्न होता है। पाँचवीं आपत्ति यह है कि कारण और कार्य का एक ही स्वभाव पाया जाता है, अतः दोनों को एक साथ ही रहने वाला मानना चाहिए। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यदि कार्य कारण से सर्वथा भिन्न है तो उन दोनों में परस्पर सम्बन्ध कैसे माना जाएगा? यह सिद्धान्त इस बौद्ध मत के बहुत निकट जा पड़ता है कि कार्य की उत्पत्ति असत् से होती है और इसी आधार पर न्यायवैशेषिक दर्शन को अर्धवैनाशिक अर्थात् अर्धबौद्ध कहा जाता है।

नैयायिक इन युक्तियों के विरोध में प्रधान युक्ति यह देते हैं कि यदि कार्य और कारण परस्पर भिन्न नहीं हैं, तो फिर उन दोनों में भेद कैसे हो जाता है। यदि घट अपने कारण मिट्टी से भिन्न नहीं होगा तो वह घट ही कैसे बनेगा ?

---

१. सांख्यतत्त्वकौमुदी, ९

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वही परमाणु घट का भी कारण हो सकते हैं, और शराब का भी और यदि वे घट और शराव अपने कारण से भिन्न नहीं हैं, तो वे परस्पर भी भिन्न नहीं हो सकते अर्थात् घट और शराब को एक ही होना चाहिए। किन्तु वे दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। जहाँ तक आकार की भिन्नता का सम्बन्ध है, आकार उस कार्य के प्रत्येक भाग में तो रहता नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह कारण में ही रहता है और इसकी अभिव्यक्ति ही होती है। अतः घट के आकार की, और उन गुणों की जो इसे अपने भागों में भिन्न करते हैं, नयी उत्पत्ति माननी चाहिए। न्यायदर्शन का असत्कार्यवाद बौद्धों के शून्यवाद की ओर झुका हुआ है और सांख्य का सत्कार्यवाद या परिणामवाद वेदान्तियों के विवर्त्त या मायावाद की ओर झुका हुआ है। यदि कार्य कारण से भिन्न है तो इसके गुण या तो वास्तविक हैं या अवास्तविक। यदि वे वास्तविक हैं तो या तो उन्हें नई उत्पत्ति मानना होगा या केवल मात्र अभिव्यक्ति। यदि अभिव्यक्ति माना जाए, तो उस अभिव्यक्ति की एक और अभिव्यक्ति और उसकी फिर एक और अभिव्यक्ति माननी होगी और इस प्रकार अनवस्था दोष आ जाएगा। यदि गुण अवास्तविक हैं तो वे केवल मानसिक कल्पना से और अध्यास द्वारा हमें दिखाई देते हैं। यह विवर्तवाद का सिद्धान्त है।

असत्कार्यवाद से वस्तुवादी दर्शनों का प्रादुर्भाव होता है और सत्कार्यवाद से मायावादी दर्शन का। तर्कसंग्रह में इस विषय की कोई चर्चा नहीं की गई किन्तु हमने इस सिद्धान्त की महत्ता को ध्यान में रखते हुए संक्षेप में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन यहाँ किया है। यह विवाद उपादानकारण के सम्बन्ध में भी उपस्थित होता है। निमित्त कारण के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है और समवायी कारण को नैयायिकों के अतिरिक्त और कोई स्वीकार नहीं करते।

समवायी कारण का विरोध सबसे अधिक सत्कार्यवाद के पक्षपाती मीमांसकों ने किया। इस सम्बन्ध में दोनों ओर दिये जाने वाले प्रमाण बहुत प्रबल हैं और यह निश्चय करना बहुत कठिन हो जाता है कि सचाई क्या है। और यह ध्यान देने योग्य बात है कि भारतीय नैयायिकों ने आगमनात्मक रीति से इस समस्या पर विचार नहीं किया और मूल रूप से निगमनात्मक प्रणाली पर ही विचार किया। उदाहरणतः कारण को अन्यथासिद्ध कहा है किन्तु अन्यथासिद्ध की कोई पूर्ण परिभाषा नहीं दी गई और इसका वर्गीकरण भी बहुत वैज्ञानिक नहीं है। कुम्भकार का

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पिता अन्यथासिद्ध है किन्तु कुम्भकार के बारे में कुछ नहीं कहा गया। स्वयं कुम्भकार अपनी गति द्वारा घट को बनाता है और इस रूप में उसकी गति ही अन्यथासिद्ध नहीं है और कुम्भकार तो अन्यथासिद्ध हो जाता है। किन्तु उसकी गणना न्यायदर्शन में दण्ड चक्र इत्यादि निमित्त कारणों के समान ही की गई है। इस प्रकार एक बुद्धिमान् कर्ता और बुद्धिहीन जड़ निमित्तों में जो भेद है उसे नहीं परखा गया।

उपादानकारण और निमित्तकारण में भी जो मौलिक भेद है, वह नहीं बतलाया गया। पानी के स्नेह गुण के कारण पार्थिव परमाणु घट के रूप में आते हैं। यहाँ जल केवल उपादानकारण होगा या निमित्त कारण ? यहां ऐसा लगता है कि जल को उपादानकारण होना चाहिए क्योंकि उसे घट से पृथक् नहीं किया जा सकता। अतः घट का पृथ्वी के साथ-साथ जल भी समवायी कारण है। किन्तु ऐसा लगता है कि नैयायिक यह नहीं मानते। नैयायिकों ने यह ध्यान नहीं दिया कि एक ही पदार्थ में बहुत से उपादानकारण हो सकते हैं। सत्कार्यवाद के अनुसार जल और मिट्टी दोनों ही उपादान कारणों में उत्पत्ति से पूर्व घट होना चाहिए। किन्तु जल और पृथ्वी घट की उत्पत्ति के पूर्व एक दूसरे से बहुत पृथक्-पृथक् रहते हैं और उनमें घट की स्थिति मानना न्यायसंगत नहीं है। इसके अतिरिक्त दोनों ही सिद्धान्तों के पक्ष विपक्ष में अन्य भी कारण दिये जा सकते हैं दोनों ही सिद्धान्तों में सम्भवतः यह मान लिया गया है कि कार्य का एक ही कारण होता है और वह इसके साथ सदा रहता है। किन्तु मिल जैसे विद्वानों ने अनेक कारणों से कार्य की उत्पत्ति मानी है। एक ही कार्य अनेक कारणों में से किसी एक से भी उत्पन्न हो सकता है और एक ही कारण भिन्न-भिन्न रूप में मिलने पर भिन्न-भिन्न कार्यों को जन्म देता है। उदाहरणतः अग्नि या तो विद्युत् से उत्पन्न होती है या संघर्ष से किन्तु क्योंकि इन दोनों में से कोई भी उष्णता के नियत रूप से पूर्ववर्ती नहीं है, अतः कोई भी कारण नहीं बन सकता। नैयायिक यह कह सकते हैं कि ये दोनों ही वैकल्पिक कारण हैं। किन्तु इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसके अतिरिक्त सत्कार्य या असत्कार्यवाद में निमित्त कारण को कोई महत्व नहीं दिया गया। वस्तुतः यहां विवाद सैद्धान्तिक अधिक रहा है और व्यावहारिक कम।

वस्तुतः कारण कार्य पदार्थों का क्रमिक विकास है। कारण का भाव इन्ट्यूटिव है। यह विचार संभवतः वेदान्तियों ने ही रखा जिन्होंने कार्य को एक आरोपित

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

या अध्यस्त धर्म माना। किन्तु नैयायिकों के वस्तुवादी दृष्टिकोण में इसके लिये कोई स्थान नहीं है।

कारणं त्रिविधम्—समवाय्यसमवायिनिमित्तभेदात्। यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्। यथा तन्तवः पटस्य, पटश्च स्वगतरूपादेः। कार्येण कारणेन वा सहैकस्मिन्नर्थे समवेतत्वे सति यत्कारणं तदसमवायिकारणम्। यथा तन्तुसंयोगः पटस्य, तन्तुरूपं पटरूपस्य। तदुभयभिन्नं कारणं निमित्तकारणम्। यथा तुरीवेमादिकं पटस्य।

कारण तीन प्रकार का है समवायी, असमवायी और निमित्त। जिसमें समवाय सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न हो वह समवायी कारण है जैसे तन्तु पट के और पट अपने रूप का। कार्य या कारण के साथ एक पदार्थ (अधिकरण) में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला कारण असमवायिकारण है जैसे तंतु का संयोग पट का और तन्तु का रूप पट के रूप का। इन दोनों से भिन्न कारण निमित्त कारण है जैसे तुरी और वेमा आदि पट के।

(त. दी.)—कारणं विभजते—कारणमिति समवायिकारणस्य लक्षणमाह—यत्समवेतमिति। यस्मिन्समवेतमित्यर्थः। असमवायिकारणं लक्षयति—कार्येणेति। कार्येणेत्येतदुदाहरति—तन्तुसंयोग इति। कार्येण पटेनैकस्मिंस्तन्तौ समवेतत्वात्तन्तुसंयोगः पटस्यासमवायिकारणमित्यर्थः। कारणेन सहेत्येतदुदाहरति—तन्तुरूपमिति। कारणेन पटेन सहैकस्मिंस्तन्तौ समवेतत्वात्तन्तुरूपं पटरूपस्यासमवायिकारणमित्यर्थः। निमित्तकारणं लक्षयति—तदुभयेति। समवाय्यसमवायिभिन्नं कारणं निमित्तकारणमित्यर्थः॥

कारण

पट का तन्तु समवायिकारण है क्योंकि पट तन्तु में समवायी सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार पट रूप का भी समवायिकारण पट है। पदार्थ के खण्ड उस समुदायात्मक पदार्थ के समवायिकारण होते हैं और उसके गुण और कर्म के भी।

कार्य और समवायिकारण के बीच असमवायिकारण एक शृंखला है। यह दो प्रकार का है—एक उपादान कारण का समवायिकारण जो कि कार्य

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

का समानाधिकरण होता है, तन्तुओं का संयोग जो पट के बनाने में कारण है, असमवायिकारण है। किन्तु यह तन्तुओं में समवायसम्बन्ध से रहता है और पट का समानाधिकरण है। यह तन्तु संयोग पट के लिये अनिवार्य है क्योंकि इसके बिना केवल तन्तुओं का समूह हो सकता है, पट नहीं बन सकता। दूसरे प्रकार के असमवायिकारण का उदाहरण तन्तु रूप है, जो पट रूप का असमवायिकारण है। यहां पटरूप पट में रहता है और तन्तुरूप तन्तु में। अतः दोनों का सामानाधिकरण्य नहीं है और कार्यकारण का सामानाधिकरण्य अपेक्षित है। अतः जहां साक्षात् सामानाधिकरण्य नहीं हो पाया, वहाँ परम्परासम्बन्ध से सामानाधिकरण्य दिखाया गया है। क्योंकि यह समवायितन्तुओं से समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध है और पट रूप का समवायिकारण है। जैसाकि सिद्धान्त-चन्द्रोदय में कहा गया है वे परम्परा-सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं—पटरूपसमवायि-कारणीभूतपटसामानाधिकरण्यस्य तत्त्वे सत्त्वात् परम्परासंबन्धेन पटरूपसामानाधि-करण्यमपि सुलभमेवेति भावः। परम्परासंबन्धश्च समवायिसमवायः। अर्थात् तन्तुसंयोग समवाय सम्बन्ध से पट का समानाधिकरण है। तन्तुरूप पटरूप के साथ समवायिसमवाय से समानाधिकरण है। अर्थात् पटरूप का जो समवायि-कारण पट है, उसका समवाय है। तन्तु-संयोग और तन्तु-रूप पट और पट रूप के असमवायि कारण ही माने जाते हैं। अतः सिद्धान्तचन्द्रोदय में दोनों प्रकार के असमवायिकारणों की यह परिभाषा दी है—समवाय-स्वसमवायि-समवायान्यतरसंबन्धेन कार्येण सहैकस्मिन्नर्थो समवायेन प्रत्यासन्नत्वे सति आत्मविशेषगुणान्यत्वे सति कारणमसमवायिकारणम्। अर्थात् असमवायिकारण समवाय सम्बन्ध से कार्य के समानाधिकरण में समवाय या समवायिसमवाय से रहता है और आत्मा के विशेष गुणों से भिन्न भी होता है। आत्मा के विशेष गुणों से भिन्न कहने का यह प्रयोजन है कि ज्ञान जो एक ही अधिकरण आत्मा में उत्पन्न होते हैं, असमवायिकारण न मान लिये जाएं। इस परिभाषा में कारण शब्द का अर्थ समवायिकारण है।

उपादानकारण वह कारण है जो कार्य के लिये अनिवार्य है और साथ ही उससे पृथक् भी नहीं किया जा सकता। किन्तु दण्ड चक्र इत्यादि जो घट की उत्पत्ति के लिये आवश्यक हैं, किन्तु उससे पृथक् रहते हैं, निमित्त कारण हैं।

निमित्त कारण दो प्रकार के हैं—सामान्य और विशेष। सामान्य निमित्त आठ हैं—ईश्वर, उसका ज्ञान, कृति, दिक्, काल तथा धर्म अधर्म। विशेष निमित्त कारण असंख्य हैं।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कुछ लोगों ने कारण को पहले दो भागों में बांट लिया है--मुख्य और गौण। इनमें मुख्य के उपर्युक्त तीन भाग किए हैं--इन तीन में समवायिकारण तो सदा द्रव्य ही होता है। असमवायिकारण या कर्म होता है या गुण और निमित्त कारण कोई भी हो सकता है। अभाव केवल निमित्त कारण ही बन सकता है।

असमवायिकारण केवल वे ही कारण नहीं हैं जो कार्य के साथ समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध न हों। क्योंकि इस प्रकार तो निमित्त कारण भी असमवायी मान लिए जाएंगे और असमवायिकारण का एक प्रकार असमवायी न माना जाएगा। ऐसा लगता है कि नैयायिकों ने दो प्रकार के कारण पहले माने--एक जो कार्य से पृथक् किए जा सकें, जो कि निमित्त कारण हैं, और दूसरे वे जो पृथक् न किए जा सकें। वे दो प्रकार के हैं--समवायी और असमवायी। इस प्रकार असमवायिकारण वह है जो समवायी से भिन्न है और कार्य से पृथक् नहीं किया जा सकता। दूसरे दर्शन असमवायिकारण को नहीं मानते।

तदेतत्त्रिविधकारणमध्ये यदसाधारणं कारणं तदेव करणम् ॥

इन तीनों कारणों में जो असाधारण कारण हो उसे करण कहते हैं।

(त. दी.)--करणलक्षणमुपसंहरति--तदेतदिति ॥

यहाँ, या तो जैसा कि न्यायबोधिनीकार ने किया है, 'व्यापारवत्त्वे सति' पद जोड़ने चाहियें, या असाधारण का अर्थ ही यह मान लेना चाहिये। इस अंश में अन्नम्भट्ट केशवमिश्र से प्रभावित प्रतीत होते हैं। तुलना कीजिये-तदेवं तस्य त्रिविधकारणस्य मध्ये यदेव कथमपि सातिशयं तदेव करणम्[1] अन्नम्भट्ट ने 'सातिशय' के स्थान पर 'असाधारण' पद रखा, किन्तु अर्थ में कोई भेद नहीं है।

तत्र प्रत्यक्षज्ञानकरणं प्रत्यक्षम्। इन्द्रियार्थसंनिकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। तद्द्विविधम्--निर्विकल्पकं सविकल्पकं चेति। तत्र निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकम्, यथेदं किंचित्। सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकम्, यथा--डित्थोऽयं श्यामोऽयमिति ॥

---

१. तर्कभाषा, पृ० ३१

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इनमें प्रत्यक्ष ज्ञान का करण प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष है। वह दो प्रकार का है—निर्विकल्पक और सविकल्पक। इनमें निष्प्रकारक (विशेषणविशेष्य—सम्बन्ध-ज्ञान रहित) ज्ञान निर्विकल्पक है। सप्रकारक (विशेषणविशेष्य—सम्बन्ध-ज्ञान सहित) ज्ञान सविकल्पक है। जैसे यह डित्थ है, यह ब्राह्मण है, यह श्याम है।

(त. दी.)—प्रत्यक्षलक्षणमाह—तत्रेति। प्रमाणचतुष्टयमध्य इत्यर्थः। प्रत्यक्षज्ञानस्य लक्षणमाह—इन्द्रियेति। इन्द्रियं चक्षुरादिकम्। अर्थो घटादिः। तयोः संनिकर्षः संयोगादिः,तज्जन्यं ज्ञानमित्यर्थः॥ तद्विभजते—तद् द्विविधमिति। निर्विकल्पकस्य लक्षणमाह—निष्प्रकारकमिति। विशेषणविशेष्यसम्बन्धानवगाहि ज्ञानमित्यर्थः॥ ननु निर्विकल्पके किं प्रमाणम्? इति चेत्—न; गौरिति विशिष्टज्ञानं विशेषणज्ञानजन्यं विशिष्टज्ञानत्वाद्दण्डीति ज्ञानवदित्यनुमानस्य प्रमाणत्वात्। विशेषणज्ञानस्यापि सविकल्पकत्वेऽनवस्थाप्रसङ्गान्निर्विकल्पकसिद्धिः॥ सविकल्पकं लक्षयति—सप्रकारकमिति। नामजात्यादिविशेषणविशेष्यसंबन्धावगाहि ज्ञानमित्यर्थः। सविकल्पकमुदाहरति—यथेति॥

प्रत्यक्ष

करण कारण, और कार्य की परिभाषा देने के बाद अन्नम्भट्ट चार प्रकार के ज्ञान तथा प्रमाण का वर्णन करते हैं। इनमें प्रमाण कारण है और ज्ञान कार्य। प्रत्यक्ष शब्द, प्रमाण और ज्ञान, दोनों के लिए ही प्रयुक्त किया गया है। किन्तु अन्य लेखकों ने ज्ञान को साक्षात्कार कहा है और प्रमाण को साक्षात्कार-ज्ञानकरणम् कहा है। कुछ लोगों ने प्रत्यक्ष की परिभाषा प्रत्यक्षप्रमाकरणम्[1] या साक्षात्कारिप्रमाकरणम्[2] भी दी है। किन्तु अन्नम्भट्ट ने यहां ज्ञान शब्द का प्रयोग जानबूझकर किया है ताकि उसमें शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकार का ज्ञान आ सके। जो प्रमा के चार भेद हैं वही अप्रमा के भी हैं। कोई ज्ञान शुद्ध है या अशुद्ध इसका निश्चय दोषाभाव से होता है। इन्द्रियसन्निकर्ष तो दोनों दिशाओं में एक जैसा ही है। निश्चित है कि यदि ज्ञान शुद्ध या अशुद्ध होगा तो उसका प्रभाव प्रमाण पर भी पड़ेगा। प्रत्यक्ष की व्युत्पत्ति है 'प्रतिगतमक्षम्' अथवा 'अक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः'। अर्थात् प्रत्येक विषय के साथ

---

१. तर्ककौमुदी, पृ० ८
२. तर्कभाषा, पृ० ३२

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इन्द्रिय का रहना। जब प्रत्यक्ष का अर्थ ज्ञान होता है तो इसकी दूसरी व्युत्पत्ति दी जाती है—'अक्षमक्षं प्रतीत्योत्पद्यते अथवा प्रतिगतमाश्रितमक्षम्। अर्थात् वह ज्ञान जो इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त होता है। यहां ज्ञान शब्द का प्रयोग सन्निकर्षध्वंस में अतिव्याप्ति रोकने के लिए है जबकि इन्द्रियार्थ शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया है कि प्रत्यक्ष को दूसरे अनुमित्यादिक ज्ञानों से भिन्न किया जा सके। वात्स्यायन ने प्रत्यक्ष की प्रक्रिया इस प्रकार दी है—आत्मा मनसा संयुज्यते। मन इन्द्रियेण। इन्द्रियमर्थेनेति।[1] यद्यपि यहां प्रत्यक्ष के लिए तीन सन्निकर्ष हैं किन्तु उसमें अन्तिम इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को ही प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण इसलिये माना गया है कि प्रथम दो सन्निकर्षों की आवश्यकता तो प्रत्यक्ष के अतिरिक्त स्थलों में भी होती है। गौतम ने प्रत्यक्ष की परिभाषा देते समय तीन विशेषण और दिए हैं—अव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकम्। इनमें अव्यभिचारी का प्रयोग अप्रमा का निराकरण करने के लिए है क्योंकि ज्ञान तो अप्रमा भी होता है। अव्यपदेश्य और व्यवसायात्मक निर्विकल्पक तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष को बतलाते हैं। अन्नम्भट्ट की परिभाषा में प्रत्यभिज्ञा और मानसप्रत्यक्ष भी आ जाते हैं। मानसप्रत्यक्ष में मन को ही इन्द्रिय स्वीकार कर लिया जाता है।

इस परिभाषा में यह दोष माना जाता है कि ईश्वर-प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष नहीं माना जाएगा क्योंकि वह नित्य है अतः उसमें इन्द्रिय सन्निकर्षजन्य ज्ञान नहीं है। किन्तु यहां ईश्वर-प्रत्यक्ष को लक्ष्यभूत न मानकर लक्षण दिया गया है। न्यायबोधिनी में प्रत्यक्ष की एक दूसरी परिभाषा दी है—ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। प्रत्यक्ष में किसी पूर्व ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। अनुमिति में व्याप्तिज्ञान की शाब्द में शब्दज्ञान की, उपमिति में सादृश्य-ज्ञान की और स्मृति में अनुभव की आवश्यकता होती है। किन्तु यह परिभाषा भी इसलिए पूर्ण नहीं है, कि इसमें सविकल्पक प्रत्यक्ष का समावेश नहीं होता क्योंकि सविकल्पक प्रत्यक्ष निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से उत्पन्न होता है। कुछ लोग सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते ही नहीं और उनके अनुसार यह परिभाषा शुद्ध है। किन्तु इस सम्बन्ध में बाद में कुछ कहेंगे। सिद्धान्तमुक्तावली में प्रत्यक्ष की परिभाषा इन्द्रियजन्यज्ञानम् दी है। किन्तु इसमें भी अन्नम्भट्ट की परिभाषा के समस्त दोष तो हैं ही, साथ ही यह भी दोष है कि इस प्रकार तो सभी ज्ञान

---

१. वात्स्यायनभाष्य, न्यायसूत्र, १. १. ४

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रत्यक्ष मान लिए जाएंगे क्योंकि मन की आवश्यकता सभी ज्ञानों में रहती है और मन भी एक इन्द्रिय ही है। अतः अन्नम्भट्ट की परिभाषा ही सर्वोत्तम है। जैसाकि न्यायबोधिनी ने कहा है कि यह परिभाषा गौतम से ली गई है अतः ईश्वर-प्रत्यक्ष का यदि इसमें समावेश नहीं होता, तो भी कोई दोष नहीं है और मानव ज्ञान का विचार करते समय उसमें दैवी ज्ञान के विचार को लाकर व्यामोह भी पैदा नहीं करना चाहिए। उदाहरणतः बुद्धि के जो भेदोपभेद दिए हैं, वह ईश्वरीय ज्ञान पर लागू नहीं हो सकते। ईश्वर को प्रत्यभिज्ञा या स्मृति भी नहीं होती क्योंकि उसका ज्ञान नित्य है और सदा वर्तमानकालिक भी है। उसका निर्विकल्पक ज्ञान भी नहीं होता। उसे न अनुमान होता है, न उपमान ज्ञान। क्योंकि उसे सभी पदार्थों का सीधा प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार ईश्वर का प्रत्यक्ष सर्वथा भिन्न है और उसकी एक सर्वथा भिन्न परिभाषा ही की जानी चाहिए। अतः तर्कसंग्रह का लक्षण निर्दोष मानना चाहिए।

प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का है—नित्य और अनित्य। अनित्य ज्ञान मनुष्यों का है और यह दो प्रकार का है—सविकल्पक तथा निर्विकल्पक। सविकल्पक ज्ञान दो प्रकार का है—लौकिक तथा अलौकिक। लौकिक ज्ञान छः प्रकार का है—पांच इन्द्रियों से प्राप्त होने वाला और छठा मानस। अलौकिक ज्ञान तीन प्रकार का है—सामान्य लक्षण, ज्ञान लक्षण और योगज।

वह सविकल्पक जो इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त होता है, लौकिक है. और दूसरा अलौकिक। अलौकिक ज्ञान तीन प्रकार का है। घट का प्रत्यक्ष होने पर तो घटत्व का ज्ञान होता है, सामान्य लक्षण है। ज्ञान लक्षण वह है जो एक ज्ञान से दूसरा ज्ञान होता है जैसे चन्दन देखने पर उसकी सुगन्ध का ज्ञान। सुगन्ध न तो आंख से देखी जाती है और न दूरीपर स्थित चन्दन की सुगन्ध नाक से सूंघी ही जाती है। अतः उसका ज्ञान अलौकिक माना जाता है। योगज ज्ञान योगियों का ज्ञान है, जो उन्हें अतिमानवीय शक्तियों से प्राप्त होता है।[1] यहां योगज ज्ञान तर्कसिद्ध नहीं है और जो प्रथम दो प्रकार के ज्ञान हैं, वे वस्तुतः अनुमान के अन्तर्गत आने चाहिएं। अन्नम्भट्ट ने इनका कोई उल्लेख नहीं किया।

जैसाकि स्वयं ही लेखक ने अन्त में कहा है प्रत्यक्ष का करण इन्द्रिय

---

१. तर्ककौमुदी, पृ० ९ एवं भाषापरिच्छेद, ६३

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है। अनुमिति की परिभाषा से यदि तुलना करें तो यदि सन्निकर्ष प्रत्यक्षकरण है तो परामर्श अनुमितिकरण है ऐसी समानता दीख पड़ती है।

प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—सविकल्पक और निर्विकल्पक। जब कोई पदार्थ हमारे सामने आता है तो हमें ऐसा आभास होता है कि कुछ है। यह निर्विकल्पक ज्ञान है। इसे निष्प्रकारक भी कहते हैं। किन्तु कुछ अधिक निकटता होने पर हमें उस पदार्थ की विशेषता ज्ञात होती है। यह सविकल्पक ज्ञान है। निर्विकल्पक ज्ञान में संसर्ग और प्रकारता का अवगाहन नहीं होता। उसमें विशेषण और विशेष्य असम्बद्ध रूप से उपस्थित रहते हैं। सविकल्प ज्ञान में संसर्गता और प्रकारता रहती है तथा विशेषण और विशेष्य परस्पर सम्बद्ध रूप में प्रतीत होते हैं। प्रकार, जैसाकि पहले ही बताया जा चुका है, वह है जो एक ज्ञान विशेष को दूसरे ज्ञान विशेष से पृथक् करता है जिस प्रकार घटत्व वह प्रकार है जो घटज्ञान को पटज्ञान से पृथक् करता है। स्पष्ट है कि हम घट को तब तक सप्रकारक नहीं जान सकते, जब तक हमें घटत्व का ज्ञान भी न हो। इसी सम्बन्ध में कहा गया है—नागृहीत-विशेषणा बुद्धिर्विशेष्यमुपसंक्रामति, संक्षेप में सप्रकारक ज्ञान पदार्थ का उसके गुणों सहित ज्ञान है जबकि निष्प्रकारक ज्ञान केवल पदार्थ मात्र का ज्ञान है। दीपिका में सविकल्पक की परिभाषा दी है—नामजात्यादिविशेषणविशेष्य-सम्बन्धावगाहि ज्ञानम्। अर्थात् जो पदार्थ और उसके गुणों में नाम, जाति आदि सम्बन्धों का ज्ञान कराए। जब कोई पदार्थ हमारे सामने आता है, तो केवल हमें उसकी सत्ता या भावरूपता का ज्ञान होता है। यह निर्विकल्पक ज्ञान है। इस समय हमारे पास घटत्व और घट का पृथक्-पृथक् एक वस्तु के रूप में ज्ञान होता है किन्तु दोनों के सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता, अतः ये दोनों ज्ञान सम्बन्धानवगाही हैं। जब ये दोनों परस्पर घटत्वविशिष्ट घट के रूप में मिल जाते हैं तो यह ज्ञान सम्बन्धावगाही या सप्रकारक हो जाता है। इस प्रकार प्रथम हमें धर्मादि का ज्ञान होता है और तब हम उसे पदार्थ के साथ जोड़ते हैं। ये धर्मादि प्रधानतः चार हैं—गुण, क्रिया, जाति और संज्ञा। श्यामो देवदत्तो ब्राह्मणः पचति में श्याम गुण है, देवदत्त संज्ञा है, ब्राह्मणत्व जाति है, और पचति क्रिया है। पहले ये सभी धर्म पृथक्-पृथक् रूप से हमें ज्ञात होते हैं और पश्चात् समुदित रूप में।

इस प्रकार निर्विकल्पक ज्ञान की आवश्यकता क्या है, यह प्रश्न आता है। सप्रकारक ज्ञान तो हमें प्रतिदिन अनुभव में आता ही है। किन्तु निष्प्रकारक ज्ञान का हम केवल अनुमान ही कर सकते हैं। इसके उत्तर में दीपिका में

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कहा है—नागृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशेष्यमुपसंक्रामति। इस प्रकार सप्रकारक ज्ञान के लिये ही वास्तविक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष आवश्यक है।

यद्यपि सभी नैयायिक तो दो प्रकार के—निर्विकल्पक और सविकल्पक—ज्ञान मानते हैं किन्तु इस सम्बन्ध में बौद्धों का बहुत मतभेद है। वे केवल निर्विकल्पक ज्ञान को ही सत्य मानते हैं और सविकल्पक को सत्य नहीं मानते। उनके अनुसार धर्मों की कोई वास्तविक स्थिति नहीं है। सप्रकारक ज्ञान विषयगत नहीं है, विषयिगत है और वंध्यापुत्र के समान अवास्तविक है। किन्तु निर्विकल्पक ज्ञान पदार्थ की वास्तविक स्थिति का बोध कराता है।[1] बौद्धों का यह सिद्धान्त उनके शून्यवाद पर आधारित है। किन्तु यहां हमारा तात्पर्य केवल इतना कहने से है कि सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह सीधा ज्ञान नहीं है, प्रत्युत दो ज्ञानों का समूह होने से अनुमिति या उपमिति की तरह परोक्ष ज्ञान है।

वस्तुतः इन्द्रिय संनिकर्ष से प्रथम निर्विकल्पक ज्ञान ही होता है। सविकल्पक ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान के बाद होता है। समुद्र में आने वाला जहाज दूर से काला पदार्थ सा दिखाई देता है। जैसे-जैसे वह निकट आता है, हमें उसके मस्तूल का अनुमान होता है, और हम उसे जहाज जान लेते हैं। इसी प्रकार घट ज्ञान में भी हमें घट जैसा कोई पदार्थ दीखता है, तब हम उसके घट होने का अनुमान करते हैं। यहां उपमान की प्रक्रिया काम करती है। घट को घट कहने के लिये शाब्द ज्ञान भी आवश्यक है। इस प्रकार सविकल्पक प्रत्यक्ष वस्तुतः परोक्ष ही है। इस सम्बन्ध में बेन की डिडेक्टिव लॉजिक में पृ० ३६-३७ पर कहा गया है: "जब हम तथ्य या प्रत्यक्ष की बात करते हैं तो वस्तुतः यह एक पूर्णतः अकेला या व्यक्तिगत ज्ञान नहीं होता। हम कहते हैं कि अमुक स्थान पर पानी बहता है। किन्तु यह एक ज्ञान का परिणाम नहीं है। इस प्रकार का ज्ञान करने के लिए अनेक ज्ञान चाहिएं। पूर्व ज्ञान के आधार पर हम जानते हैं कि हम कुतुबनुमा को देख रहे हैं और इसका मुख उत्तर की ओर है। इस प्रकार साधारण प्रत्यक्ष भी आन्तरिक ज्ञान और अनुमान का मिश्रण है और हम इन दोनों को मिलाते हैं, यह हमारे बहुत सारे प्रत्यक्ष ज्ञानों का गलत होने का कारण है।"

जब बौद्ध निर्विकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं तो क्या वे ठीक नहीं हैं ?

---

१. उपस्कारभाष्य, वैशेषिक सूत्र, ८.१.२ (पृ० १९९)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नैयायिक सविकल्पक ज्ञान को कैसे प्रत्यक्ष मानते हैं ? किन्तु हम यदि बौद्धमत का स्वीकार कर लें, तो हमें शून्यवाद भी मानना पड़ेगा क्योंकि यदि निर्विकल्पक ज्ञान ही माना जाए, तो कोई भी मानसिक चित्र हम बना ही न सकेंगे, और संसार में सब शून्य ही रह जयेगा। सविकल्पक ज्ञान भी हमारे मानसिक चित्रों का आधार है। यदि हम इसे न मानें तो संसार की सत्ता ही नहीं रह जाती और न हमें ज्ञान ही हो पाएगा।

यह वस्तुतः ऐसी समस्या है जो प्रत्येक प्रत्यक्ष के मूल में रहती है। इस सम्बन्ध में नव्यनैयायिकों ने जो समाधान दिया है, वह कुछ सीमा तक सन्तोषजनक होने के कारण उल्लेखनीय है। उनके अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान न प्रत्यक्ष है, न अनुमिति, न अनुभव, न बुद्धि, न व्यवहार। इसे न प्रमा कह सकते हैं, न अप्रमा। क्योंकि इसमें कोई प्रकारता नहीं रहती। यह ज्ञान है, किन्तु एक विशेष प्रकार का ज्ञान है क्योंकि इसमें विशेष्य, प्रकार और संसर्ग का ज्ञान नहीं होता। अतः इसे बुद्धि के अन्तर्गत और प्रत्यक्ष के भेद के रूप में नहीं रखना चाहिए। प्रत्युत इसे अनुभव मानना चाहिए और उसके ही दो भेद निर्विकल्पक और सविकल्पक करने चाहिएँ तथा सविकल्पक के दो भेद प्रमा और अप्रमा मानने चाहिएँ। निर्विकल्पक ज्ञान, जिसमें कोई प्रकार का ज्ञान नहीं होता, सैनसेशन कहा जा सकता है। जबकि सविकल्पक प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष कह सकते हैं। कान्ट ने भी अनुभव के ये ही दो भेद किए हैं। प्रोफेसर फ्लीमिंग अपनी बोकेबिलरी ऑफ फिलासफी पृष्ठ ४४३ में कहते हैं कि सैनसेशन वह मानसिक परिवर्तन है जो किसी इन्द्रिय के द्वारा कोई सन्देश आने पर मन में होता है। इसमें हमें केवल मन की चेतना में होने वाले परिवर्तन का ज्ञान होता है, बाह्य पदार्थ का नहीं। प्रत्यक्ष वह ज्ञान है जिससे हम पदार्थ के धर्मों का ज्ञान करते हैं और यह हमारा ज्ञान हमें बाह्य पदार्थ का बोध कराता है। राइड और काण्ट ने यह भेद किया है। इस प्रकार हम यदि निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञान में भी यह भेद स्वीकार कर लें तो कुछ सीमा तक समस्या का समाधान हो जाता है।

सविकल्पक ज्ञान के अनेक भेद हैं जैसे प्रत्यक्ष अनुमित्यादि। सविकल्पक प्रत्यक्ष की इन्द्रियसंनिकर्षजन्य परिभाषा भी बहुत अनुपयुक्त नहीं है, क्योंकि यद्यपि सभी ज्ञानों में संनिकर्ष रहता है और सविकल्पक प्रत्यक्ष भी केवल संनिकर्ष से पैदा नहीं होता, किन्तु सविकल्पक प्रत्यक्ष का संनिकर्ष जिस प्रकार सीधा कारण है, उस प्रकार अनुमिति इत्यादि का नहीं। सविकल्पक प्रत्यक्ष में जो ज्ञान हमें उपलब्ध होते हैं, और जिनके मिलने से वह बनता है, वे सभी

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

संनिकर्ष से प्राप्त होते हैं किन्तु अनुमिति इत्यादि में यह आवश्यक नहीं है। निर्विकल्पक ज्ञान और एक पदार्थ के अनेक गुणों को मिलाने की प्रक्रिया जिससे कि सविकल्पक ज्ञान होता है, अवांतर व्यापार कही जा सकती हैं।[1] केशवमिश्र ने इस प्रकार का प्रयास किया है किन्तु उस प्रयास में यह दोष है कि वह करण और व्यापार को केवल एक सापेक्ष विचार मात्र मान लेते हैं। उन्होंने प्रत्यक्ष के लिए तीन करण और व्यापार के युगल बनाए हैं— इन्द्रिय, इन्द्रियसंनिकर्ष तथा निर्विकल्पक ज्ञान। जब निर्विकल्पक ज्ञान फल होता है, तो इन्द्रिय करण है, और संनिकर्ष व्यापार। जब सविकल्पक फल है तो संनिकर्ष करण है और निर्विकल्पक व्यापार। जब ज्ञान से प्राप्त होने वाली इच्छा फल है तो निर्विकल्पक करण है और सविकल्पक व्यापार। किन्तु परवर्ती लेखकों को यह स्वीकार नहीं है।

प्रत्यक्षज्ञानहेतुरिन्द्रियार्थसंनिकर्षः षड्विधः-संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः, विशेषणविशेष्यभावश्चेति। चक्षुषा घटप्रत्यक्षजनने संयोगः संनिकर्षः। घटरूपप्रत्यक्षजनने संयुक्तसमवायः संनिकर्षः, चक्षुःसंयुक्ते घटे रूपस्य समवायात्। रूपत्वसामान्यप्रत्यक्षे संयुक्तसमवेतसमवायः संनिकर्षः, चक्षुःसंयुक्ते घटे रूपं समवेतं तत्र रूपत्वस्य समवायात्। श्रोत्रेण शब्दसाक्षात्कारे समवायः संनिकर्षः, कर्णविवरवृत्त्याकाशस्य श्रोत्रत्वात्, शब्दस्याकाशगुणत्वात्, गुणगुणिनोश्च समवायात्। शब्दत्वसाक्षात्कारे समवेतसमवायः संनिकर्षः श्रोत्रसमवेते शब्दे शब्दत्वस्य समवायात्। अभावप्रत्यक्षे विशेषणविशेष्यभावः संनिकर्षः, 'घटाभाववद्भूतलम्' इत्यत्र चक्षुःसंयुक्ते भूतले घटाभावस्य विशेषणत्वात्। एवं संनिकर्षषट्कजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। तत्करणमिन्द्रियम्। तस्मादिन्द्रियं प्रत्यक्षप्रमाणमिति सिद्धम्॥

प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु इन्द्रिय और पदार्थ का संनिकर्ष छः प्रकार का है— संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषण-विशेष्य भाव। आंख से घट का प्रत्यक्ष होने में संयोग संनिकर्ष है। घट के रूप का प्रत्यक्ष होने में संयुक्तसमवायसंनिकर्ष है क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में रूप समवाय सम्बन्ध से होता है। रूपत्व जाति के प्रत्यक्ष में संयुक्त-

१. तर्कभाषा, पृ० ३३

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

समवेतसमवायसंनिकर्ष है, क्योंकि चक्षु से संयुक्त घट में रूप समवेत है और उसमें रूपत्व समवाय सम्बन्ध से है। श्रोत्र से शब्द का साक्षात्कार करने में समवाय संनिकर्ष है क्योंकि कान के छिद्र में जो आकाश (शून्य स्थान) है वह श्रोत्र है और शब्द आकाश का गुण है तथा गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध होता है। शब्दत्व के साक्षात्कार में समवेतसमवाय संनिकर्ष है क्योंकि श्रोत्र में समवेत शब्द में शब्दत्व समवाय सम्बन्ध से रहता है, अभाव के प्रत्यक्ष में विशेषण-विशेष्य-भाव संनिकर्ष होता है क्योंकि भूतल घटाभाववत् है यहाँ चक्षु से संयुक्त भूतल में घटाभाव विशेषण है। इस प्रकार छः संनिकर्षों से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है; उसका साधन इन्द्रियां हैं। अतः इन्द्रियां ही प्रत्यक्ष प्रमाण हैं, यह सिद्ध होता है।

(त. दी.)—इन्द्रियार्थसंनिकर्षं विभजते—प्रत्यक्षेति। संयोगसंनिकर्षमुदाहरति—चक्षुषेति। द्रव्यप्रत्यक्षे सर्वत्र संयोगः संनिकर्ष इत्यर्थः। आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन, ततः प्रत्यक्षज्ञानमुत्पद्यते। संयुक्तसमवायमुदाहरति—घटरूपेति। तत्र युक्तिमाह-चक्षुःसंयुक्त इति। संयुक्तसमवेतसमवायमुदाहरति—रूपत्वेति। समवायमुदाहरति—श्रोत्रेणेति। तदुपपादयति—कर्णेति। ननु दूरस्थशब्दस्य कथं श्रोत्रसंबन्ध इति चेत्,—न; वीचीतरङ्गन्यायेन कदम्बमुकुलन्यायेन वा शब्दाच्छब्दान्तरोत्पत्तिक्रमेण श्रोत्रदेशे जातस्य शब्दस्य श्रोत्रसंबन्धात्प्रत्यक्षत्वसंभवात्। समवेतसमवायमुदाहरति—शब्दत्वेति। विशेषणविशेष्यभावमुदाहरति—अभावेति। तदुपपादयति—घटाभाववदिति। 'भूतले घटो नास्ति' इत्यत्र घटाभावस्य विशेष्यत्वं द्रष्टव्यम्। एतेनानुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वं निरस्तम्। यद्यत्र घटोऽभविष्यत्तर्हि भूतलमिवाद्रक्ष्यत। दर्शनाभावान्नास्तीति तर्कितप्रतियोगिसत्त्वविरोध्यनुपलब्धिसहकृतेन्द्रियेणैवाज्ञानोपपत्तावनुपलब्धेः प्रमाणान्तरत्वासंभवात्। अधिकरणज्ञानार्थमपेक्षणीयेन्द्रियस्यैव करणत्वोपपत्तावनुपलब्धेः करणत्वस्यायुक्तत्वात्। विशेषणविशेष्यभावो विशेषणविशेष्यस्वरूपमेव, नातिरिक्तः संबन्धः। प्रत्यक्षज्ञानमुपसंहरंस्तस्य करणमाह—एवमिति। असाधारणकारणत्वादिन्द्रियं प्रत्यक्षज्ञानकरणमित्यर्थः। प्रत्यक्षमुपसंहरति—तस्मादिति॥

ऊपर हमने इन्द्रिय और पदार्थ के संनिकर्ष से प्रत्यक्ष की उत्पत्ति मानी है। यहां इन्द्रिय और पदार्थ का यह संनिकर्ष कितने प्रकार का हो सकता है, यह चर्चा की गई है। इनमें से तीन संनिकर्ष, संयोग, समवाय

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

और विशेषण–विशेष्यता मौलिक हैं। शेष तीन पहले दो के समन्वय से बनते हैं। वे तीन हैं—संयुक्त-समवाय, संयुक्त-समवेत-समवाय और समवेत-समवाय। चक्षुरिन्द्रिय घटादि पदार्थों के सीधा सम्पर्क में आते है और यह सन्निकर्ष संयोग कहलाता है। चक्षु घट के गुण, रूप, को और घट में रहने वाली घटत्व जाति को भी ग्रहण करता है, किन्तु चक्षु स्वयं द्रव्य है और इसलिए घट-द्रव्य के गुण और जाति से इसका सीधा सम्पर्क नहीं होता। अतः घट-रूप और घटत्व के साथ सन्निकर्ष संयुक्त-समवाय कहलाता है, क्योंकि रूप और घटत्व दोनों घट में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, और घट का चक्षु से संयोग होता है। घट-रूप-गत रूपत्व जाति भी चक्षुरिन्द्रिय द्वारा ही ग्रहण होती है, क्योंकि 'येनेन्द्रियेण यद्गृह्यते तेनेन्द्रियेण तद्गतं सामान्यं तत्समवायस्तद-भावश्च गृह्यते'[1] अर्थात् जो इन्द्रिय किसी पदार्थ को ग्रहण करती है, वही उसकी जाति, समवाय और अभाव को भी ग्रहण करती है। अतः घट-रूपत्व चक्षु द्वारा संयुक्त-समवेत-समवाय सन्निकर्ष से ग्रहण होता है। यहां घट का इन्द्रिय के साथ संयोग रूप के साथ संयुक्त–समवाय और रूपत्व के साथ संयुक्त–समवेत- समवाय सन्निकर्ष है। चौथा सन्निकर्ष समवाय-सन्निकर्ष है, जोकि श्रोत्र द्वारा शब्द के ग्रहण करने पर होता है। श्रोत्र आकाश-रूप है और शब्द उसका गुण होने के कारण उसमें समवाय सम्बन्ध से रहता है। यहां केवल श्रोत्रेन्द्रिय की चर्चा है क्योंकि दूसरी इन्द्रियां जैसे—चक्षु, घ्राण और रसना क्रमशः तेज, पृथ्वी और जल के विकार से बनती हैं। किन्तु श्रोत्र स्वयं आकाश ही है, आकाश के विकार से बनने वाली इन्द्रिय नहीं है। अतः शब्द का श्रोत्र से सीधा समवाय सम्बन्ध है। शब्द का ग्रहण समवाय से होता है तो स्वभावतः ही शब्द में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली जाति, शब्दत्व, का ग्रहण समवेत-समवाय सम्बन्ध से होगा।

चक्षु के अतिरिक्त त्वगिन्द्रिय भी सीधा पदार्थ को ग्रहण करती है। किन्तु घ्राण, रसना और श्रोत्र केवल गुण को ग्रहण करने वाली इन्द्रियां हैं। छः इन्द्रियाँ होने के कारण प्रत्यक्ष भी घ्राणज, रासन, चाक्षुष, स्पार्शन, श्रोत्रिय और मानस छः प्रकार का माना गया है।[2] द्रव्य तो, जैसाकि हमने ऊपर कहा, चक्षु और स्पर्श से ही ग्रहण होते हैं शेष चारों इन्द्रियाँ केवल गुणों

---

१. तर्ककौमुदी, पृ० १०

२. घ्राणजादिप्रभेदेन प्रत्यक्षं षड्विधं स्मृतम्—भाषापरिच्छेद, ५२

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

का ग्रहण करती हैं। प्राचीन नैयायिकों के अनुसार किसी द्रव्य मात्र का प्रत्यक्ष उद्भूत-रूप के बिना नहीं होता। किन्तु नव्यनैयायिकों के अनुसार त्वाच प्रत्यक्ष में उदभूत-स्पर्श को ही कारणता है, रूप को नहीं। विश्वनाथ ने इस सम्बन्ध में कहा है—

उद्भूतस्पर्शवद्द्रव्यं गोचरः सोऽपि च त्वचः।
रूपान्यच्चक्षुषो योग्यं रूपमत्रापि कारणम्॥[1]

इस कारिका में विश्वनाथ ने बीच का मार्ग अपनाया है। रूप के अतिरिक्त शेष पदार्थ त्वगिन्द्रिय से भी ग्रहण हो जाते हैं, किन्तु उनमें भी उद्भूत रूपत्व है अवश्य। इस प्रकार केवल उन्हीं पदार्थों का त्वक् द्वारा प्रत्यक्ष हो सकता है जो चक्षु द्वारा भी ग्राह्य हों। अन्नम्भट्ट ने वायु को प्रत्यक्ष—गोचर नहीं माना है, स्पर्श द्वारा अनुमेय माना है। इससे स्पष्ट है कि वे रूप की प्रत्यक्ष-मात्र में कारणता मानते हैं। सुख और दुख का मानसप्रत्यक्ष होता है। किन्तु आत्मा नैयायिकों के अनुसार प्रत्यक्ष-गोचर है, वैशेषिकों के अनुसार नहीं।[2] इस विषय में अन्नम्भट्ट वैशेषिक मत मानते हैं।

द्रव्य, गुण, कर्म और सामान्य प्रथम पांच प्रकार के सन्निकर्ष से जान लिए जाते हैं। किन्तु विशेष परमाणु का धर्म है और प्रत्यक्ष-गोचर नहीं है। समवाय और अभाव विशेषण-विशेष्य-भाव सन्निकर्ष द्वारा जाने जाते हैं। इस सम्बन्ध में विश्वनाथ का कहना है—अभावप्रत्यक्षे समवायप्रत्यक्षे चेन्द्रिय-संबद्धविशेषणता हेतुः। वैशेषिकमते तु समवायो न प्रत्यक्षः।[3] नैयायिकों के अनुसार समवाय विशेषण-विशेष्य-भाव द्वारा प्रत्यक्ष-गोचर है, वैशेषिकों के अनुसार नहीं। अन्नम्भट्ट समवाय को अनुमानगम्य ही मानते हैं। अतः उनके अनुसार विशेषण-विशेष्य-भाव द्वारा केवल अभाव का प्रत्यक्ष होता है। अभाव का ज्ञान संयोग या समवाय द्वारा तो हो नहीं सकता, क्योंकि यह स्वयं तो होता नहीं, और न किसी दूसरे पदार्थ में समवाय सम्बन्ध से रह सकता है, क्योंकि न यह गुण है, न कर्म, न जाति। इसका प्रत्यक्ष कैसे होगा? नैयायिकों का कहना है कि यह अधिकरण का धर्म होता है। अतः भूतल घटाभाववान् है, यहां

---

१. भाषापरिच्छेद, ५६
२. उपरिवत्, ५०
३. सिद्धान्तमुक्तावली, १३८

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

घटाभाव भूतल का विशेषण है, और भूतल विशेष्य है। उनका परस्पर विशेषण-विशेष्य-भाव है, जो वत् प्रत्यय द्वारा ज्ञात होता है। हम भूतल देखते हैं, उस पर घट नहीं देखते, भूतल को हम संयोग सम्बंध द्वारा जानते हैं। किन्तु घटाभाव चक्षु और भूतल के संयोग द्वारा भूतल पर जाना जा सकता है। इस प्रकार भूतल पर घटाभाव चक्षु और भूतल के संयोग और भूतल और घटाभाव के परस्पर सम्बन्ध अर्थात् विशेषण-विशेष्य-भाव द्वारा जाना जाता है। इस प्रकार घटाभाव संयुक्त-विशेषण-विशेष्य-भाव द्वारा जाना जाता है। अब यदि इसे दो भागों में विभक्त करें तो घटाभाव और भूतल का विशेषण सम्बन्ध और भूतल का घटाभाव से विशेष्य का सम्बन्ध है। इस प्रकार घटाभाव के प्रत्यक्ष में दो सन्निकर्ष होते हैं—इन्द्रिय का भूतल से सन्निकर्ष और भूतल का घटाभाव से सन्निकर्ष। घट को हम एक ही सन्निकर्ष से जान सकते हैं; किन्तु क्योंकि घटाभाव दो प्रकार से कहा जा सकता है—१. भूतल घटाभाववान् है, २. भूतल पर घटाभाव है; इसलिए यहां दो सन्निकर्ष माने गये हैं। इन दोनों को ही संक्षेप में विशेषण-विशेष्य-भाव सन्निकर्ष कह दिया गया है।

यहां दीपिका में मीमांसक और वेदान्तियों द्वारा माने गए अनुपलब्धि नामक प्रमाण की भी चर्चा है। मीमांसक और वेदान्ती यह मानते हैं कि इन्द्रिय और अभाव में कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः अभाव का ग्रहण अनुपलब्धि द्वारा होता है। नैयायिकों का कहना है कि अभाव का प्रत्यक्ष भी उसीके द्वारा होता है जिस द्वारा अभाव के प्रतियोगी का, किन्तु इसके लिए विशेषण-विशेष्य-भाव नाम का सन्निकर्ष मानना आवश्यक है। अभिप्राय यह है कि मीमांसक और वेदान्ती एक प्रमाण अधिक मानते हैं और नैयायिक एक सन्निकर्ष अधिक मानते हैं। इस सम्बन्ध में दोनों मतों में पर्याप्त विवाद है। वेदान्तपरिभाषा में प्रमाण के सम्बन्ध में यह कहा गया है—न हि फलीभूतज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वे तत्करणस्य प्रत्यक्षप्रमाणतानियमत्वमस्ति। दशमस्त्वमसीत्यादिवाक्यजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि तत्करणस्य वाक्यस्य प्रत्यक्षप्रमाणभिन्नप्रमाणत्वाभ्युपगमात्।[1] इससे वेदान्त के प्रत्यक्ष प्रमाण के सम्बन्ध में मत पर प्रकाश पड़ता है। नैयायिक प्रत्यक्ष-प्रमाण द्वारा ही प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति मानते हैं किन्तु अन्य दर्शन अनुपलब्धि-प्रमाण या शब्द-प्रमाण द्वारा भी प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति मानते हैं। नैयायिकों का प्रत्यक्ष का सिद्धान्त भौतिक सम्बन्ध

---

१. वेदान्तपरिभाषा, पृ० २२३

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पर आधारित है। सभी ज्ञान आत्मा में रहने वाले गुण हैं और इन्द्रिय एवं बाह्य पदार्थों के संयोग से ही उत्पन्न होते हैं। इसी कारण नैयायिक और वैशेषिक प्रधानतः वस्तुवादी दर्शन हैं, और इसी कारण उनका वेदान्तियों ने खंडन किया है।

अनुमितिकरणमनुमानम्। परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः। व्याप्ति-विशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः। यथा 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः' इति ज्ञानं परामर्शः। तज्जन्यं 'पर्वतो वह्निमान्' इति ज्ञानमनुमितिः। 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निः' इति साहचर्यनियमो व्याप्तिः। व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता॥

अनुमिति का करण अनुमान है। परामर्श से उत्पन्न ज्ञान अनुमिति है। व्याप्तिविशिष्ट हेतु का पक्ष में ज्ञान परामर्श है। जैसे 'यह पर्वत वह्निव्याप्य (वह्निव्याप्ति विशिष्ट) धूम वाला है'—यह ज्ञान परामर्श है, इससे उत्पन्न होने वाला 'पर्वत वह्निमान है'—यह ज्ञान अनुमिति है। 'जहाँ-जहाँ धूम है वहां वहां अग्नि है' यह साहचर्य नियम व्याप्ति है। व्याप्य का पवर्तादि में रहना पक्षधर्मता है।

(त. दी.)—अनुमानं लक्षयति—अनुमितिकरणमिति। अनुमिते-र्लक्षणमाह—परामर्शेति। ननु संशयोत्तरप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिः, स्थाणुपुरुषसंशया-नन्तरं, पुरुषत्वव्याप्यकरादिमानयमिति परामर्शे सति, पुरुष एवेति प्रत्यक्षजननात्। न च तत्रानुमितिरेवेति वाच्यम्। 'पुरुषं साक्षात्करोमि' इत्यनुव्यवसायविरोधा-दिति चेत्,—न; पक्षतासहकृतपरामर्शजन्यत्वस्य विवक्षितत्वात्। सिषाधयिषावि-रहसहकृतसिद्धयभावः पक्षता। साध्यसिद्धिरनुमितिप्रतिबन्धिका सिद्धि-सत्त्वेऽपि 'अनुमिनुयाम्' इतीच्छायामनुमितिदर्शनात् सिषाधयिषोत्तेजिका। ततश्चो त्तेजकाभावविशिष्टमप्यभावस्य दाहकारणत्ववत् सिषाधयिषाविरहसहकृतसिद्धय-भावस्याप्यनुमितिकारणत्वम्॥ परामर्शं लक्षयति—व्याप्तीति। व्याप्तिविषयकं यत्पक्षधर्मताज्ञानं स परामर्श इत्यर्थः। परामर्शमभिनीय दर्शयति—यथेति। अनुमितिमभिनयति—तज्जन्यमिति। परामर्शजन्यमित्यर्थः॥ व्याप्तेर्लक्षण-माह—यत्रेति। यत्र धूमस्तत्राग्निरिति व्याप्तेरभिनयः। साहचर्यनियम इति लक्षणम्। साहचर्यं सामानाधिकरण्यं, तस्य नियमः। हेतुसमानाधिकरणात्यन्ता-भावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिरित्यर्थः। पक्षधर्मतास्वरूपमाह—व्याप्यस्येति॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अनुमान

अनुमान प्रकरण के अन्तर्गत न्याय वैशेषिक दर्शन द्वारा विकसित की गई भारतीय तर्कशास्त्र की परम्परा आती है। अनुमान साधन है अनुमिति उसका फल है और परामर्श अनुमान से अनुमिति तक पहुँचने की प्रक्रिया है। अतः अनुमिति परामर्श पर आधारित है। परामर्श का इसलिए अधिक महत्त्व है कि यदि परामर्श ठीक होगा तो उसका फल अनुमिति भी शुद्ध होगा। अतः न्यायदर्शन में परामर्श और परामर्श के दो घटक तत्त्व, व्याप्ति और लिंग, पर बहुत बल है। लिंग या हेतु वह है जिस से किसी पदार्थ का व्याप्ति द्वारा ज्ञान होता है। लिंग और साध्य (जिस पदार्थ का अनुमान करना है) का पारस्परिक सम्बन्ध व्याप्ति है। इस सम्बन्ध के अनुसार लिंग और साध्य सदा साथ-साथ रहते हैं।

हेतु और साध्य और उनका पारस्परिक सम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति—यदि इन तीन को समझ लिया जाए तो अनुमान का ज्ञान हो सकता है। साध्य तो वह पदार्थ है जिसका अनुमान करना है। साध्य का अनुमान हेतु और साध्य के सम्बन्ध, अर्थात् व्याप्ति, से होता है। पाश्चात्य न्यायदर्शन में हेतु और साध्य को कह तो दिया जाता है किन्तु उनका पारस्परिक सम्बन्ध लक्षणा से ही जानना पड़ता है किन्तु भारतीय न्याय में वह सम्बन्ध भी स्पष्ट कर दिया जाता है। यह सम्बन्ध व्याप्य-व्यापक-भाव रूप है। व्याप्यव्यापक भाव का निश्चय साहचर्य दर्शन से होता है। इस नियमित साहचर्य को ही व्याप्ति कहते हैं। एतादृश व्याप्तिविशिष्ट हेतु का पक्ष में ज्ञान परामर्श है। इस परामर्श में व्याप्ति हेतु में विशेषण बनती है और हेतु पक्ष में।

अतः लेखक ने परामर्श का लक्षण व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान बतलाया है। किन्तु वह हेतु व्याप्ति-विशिष्ट के साथ-साथ पक्षधर्मताविशिष्ट भी होना चाहिए। वस्तुतः हेतु-व्याप्तिविशिष्ट तो होता है, क्योंकि जब हम 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः' कहते हैं तब हेतुधूम का वह्नि के साथ व्याप्तिसम्बन्ध तो स्पष्ट हो ही जाता है, किन्तु यही पर्याप्त नहीं है। हेतु व्याप्तिविशिष्ट होने के साथ-साथ पक्ष में रहने वाला धर्म भी होना चाहिए। इस प्रकार ये दोनों मिलकर परामर्श को जन्म देते हैं। प्रसिद्ध न्यायवाक्य में परामर्श का यह स्वरूप होगा—वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः। इस स्थान पर हेतु पक्ष धर्म भी है और व्याप्तिविशिष्ट भी है।

यह बात पाश्चात्य और भारतीय दोनों ही न्याय पद्धतियों पर लागू

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

होती है। पाश्चात्य न्यायपद्धति में हेतु और साध्य की व्याप्ति बतलाई जाती है और तब उस हेतु को पक्ष में बतलाया जाता है। किन्तु न्याय में हेतु पक्ष में पहले बतलाया जाता है और साध्य से उसकी व्याप्ति बाद में बतलाई जाती है। अर्थात् अरस्तू पहले व्याप्ति को और फिर पक्षधर्मता को बतलाता है जबकि न्याय पक्षधर्मता को पहले और व्याप्ति को बाद में बतलाता है। यों कहें कि भारतीय न्याय पद्धति में परामर्श व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान है जब कि पाश्चात्य न्यायपद्धति में परामर्श पक्षधर्मताविशिष्टव्याप्तिज्ञान है। न्यायदर्शन के अनुसार अरस्तू के निम्न न्याय-वाक्य में सुकरात मरणधर्मत्व-व्याप्यमनुष्यत्वयुक्त है यह भी कहना चाहिये।

सब मनुष्य मरणधर्मा हैं
सुकरात मनुष्य है
अतः सुकरात मरणधर्मा है

किन्तु इससे परिणाम में कोई अन्तर नहीं होता, केवल प्रक्रिया का भेद है।

ऊपर जो चर्चा की है उसका निष्कर्ष यह है कि नैयायिकों की अनुमिति परामर्श पर आधारित है। इस परामर्श की आलोचना भी हुई है। पाश्चात्य न्यायशास्त्र से परिचित लोगों ने इसे अनावश्यक भी बतलाया है और व्यर्थ में बाल की खाल निकालने वाली बात कही है किन्तु कार्य के अव्यवहित पूर्वक्षण में व्याप्ति और पक्षधर्मता दोनों की स्थिति बनाये रखने के लिये परामर्श स्वाभाविक और अनिवार्य है।

अनमिति—

केशवमिश्र ने अनुमान के ये दो अंग बताये हैं—अनुमानस्य द्वे अंगे व्याप्तिः पक्षधर्मता चेति। तत्र व्याप्त्या साध्यसामान्यसिद्धिः। हेतोः पक्षधर्मताबलात् साध्यस्य पक्षधर्मत्वविशेषः सिध्यति।[1] अतः यह अनुमान में व्याप्ति, साध्य और हेतु का सम्बन्ध, सामान्य रूप में बताती है और पक्ष-धर्मता में वही सम्बन्ध विशेष रूप से पक्ष के बारे में बतलाया जाता है। अतः अनुमान हेतु द्वारा पक्ष में साध्य का ज्ञान कराता है। अनुमान का अर्थ वात्स्यायन ने मितेन लिंगेनार्थस्य पश्चान्मानम्' किया है।[2] उन्होंने अनुमान का

---

१. तर्कभाषा, पृ० ४३

२. वात्स्यायनभाष्य, गौतम सूत्र, १.१.३.

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

'लिंगलिंगिनोः संबन्धदर्शनम्' अथवा 'प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य संबन्धस्य प्रतिपत्तिः' अर्थ भी किया है।[1] इस परिभाषा के अनुसार प्रत्यक्ष द्वारा अप्रत्यक्ष का ज्ञान अनुमान है। जो लक्षण तर्कसंग्रह में है, (परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः) उस पर दीपिकाकार ने यह आपत्ति उठाई है कि वह लक्षण तो संशयोत्तर प्रत्यक्ष पर भी लागू होगा क्योंकि वह भी परामर्श से होता है अर्थात् दूरी से किसी पदार्थ को देखकर हमें यह संशय होता है कि यह व्यक्ति है या वृक्ष, और तब हम 'इसके तो हाथ इत्यादि हैं' आदि परामर्श से उसे पुरुष जान लेते हैं। अब यह अनुमिति तो नहीं है किन्तु यह परामर्श है। वात्स्यायन की परिभाषा में यह दोष नहीं है। दीपिका ने इस दोष का समाधान किया है। दीपिकाकार का कहना है कि यह वस्तुतः अनुमिति नहीं है क्योंकि 'यहां मुझे अनुमान होता है' ऐसा अनुव्यवसाय नहीं होता। दीपिका का कहना है कि यद्यपि यहां परामर्श तो है किन्तु पक्षता नहीं है।

यहां पक्षता को समझ लेना जरूरी है। जब हम यह कहते हैं कि सुकरात मरणधर्मा है तो हम यह तो पहले ही जानते हैं कि मरणधर्मता मनुष्य में होती है। मनुष्यों में सुकरात भी सम्मिलित ही है। किन्तु यहां वह पक्ष है और यहां हमने उसे मनुष्यों से पृथक् मान लिया है। प्रत्येक पर्वत पक्ष नहीं है। जिस पर्वत पर हम वह्नि सिद्ध करना चाहते हैं वही पक्ष होगा, हर पर्वत नहीं। पक्ष की व्याख्या है--सिद्ध्यभाववान्। साध्यवान् पक्षः कहने से ही काम नहीं चलेगा क्योंकि पक्ष में चाहे वह्नि हो, किन्तु हमें यह ज्ञात नहीं होता। हमें यही ज्ञात होता है कि वहाँ वह्नि के निश्चय का अभाव है। जहाँ वह्नि का निश्चय हो वहां पक्षता नहीं होगी। परार्थानुमान में हमें वह्नि का तो निश्चय होता है किन्तु तब भी हम वहाँ वह्नि सिद्ध करना ही चाहते हैं। अतः सिद्ध्यभाव का अर्थ 'सिषाधयिषाविरह' है अर्थात् वहां हमें यदि सिद्ध करने की भी इच्छा न हो तभी पक्षता न होगी, अन्यथा होगी।[2] परार्थानुमान में सिषाधयिषाविरह नहीं होती। अतः पक्षता के लिए या तो साध्य अनिश्चित होना चाहिए (जैसा कि स्वार्थानुमान में) या सिद्ध करने की इच्छा होनी चाहिए (जैसा कि परार्थानुमान में)। संशयोत्तर प्रत्यक्ष में ये दोनों बातें नहीं होतीं, क्योंकि

---

१. वात्स्यायनभाष्य, गौतमसूत्र, १.१.५ तथा २.२.२.
२. सिद्धान्तमुक्तावली, कारिका ७० (पृ० १७३)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वहाँ करादि दीख ही जाते हैं और साध्य सिद्ध करने की कोई इच्छा नहीं होती। पक्षता की यह परिभाषा अन्नम्भट्ट ने गंगेश की तत्त्वचिंतामणि से ली है। संदिग्धसाध्यवान् लक्षण देने पर जो घर में बिजली की गड़गड़ाहट सुनकर व्यक्ति आकाश में मेघों का अनुमान करता है, वहां अनुमान तो होगा किन्तु पक्षता नहीं। क्योंकि यहाँ न तो सिद्ध्यभाव है न सिषाधयिषा। क्योंकि बिजली की गड़गड़ाहट सुनते ही बादलों का अनुमान इतनी शीघ्रता से होता है कि बीच में कुछ भी अन्तराल ही नहीं होता। यह सब तुरन्त और स्वयं ही होता है। अतः न्यायबोधिनी कहती है कि नव्यनैयायिकों ने प्राचीन नैयायिकों का लक्षण छोड़कर नया लक्षण दिया है—अनुमित्युद्देश्यत्वम् अथवा अनुमितिप्रयोजनकत्वम्। सिद्धान्तमुक्तावली में इस सम्बन्ध में कहा गया है कि अनुमान सिद्ध करने की इच्छा एक बार होकर दूसरी बार भी हो ही सकती है।

पक्षधर्मता—अब हम पक्षता को समझने के बाद पक्षधर्मता को समझ सकते हैं। पक्षधर्मता का अर्थ है—(हेतोः) 'पक्षवृत्तित्वम्' या 'पक्षसंबन्धः' अर्थात् हेतु का पक्ष में रहना[1]। किन्तु पर्वत पर धूम के अतिरिक्त वृक्ष, इत्यादि भी रहते हैं किन्तु वह्नि का अनुमान केवल धूम से ही होता है। उसके अतिरिक्त दूसरी बात यह भी है कि वह्नि का अनुमान प्रकाश या जली हुई राख आदि से भी हो सकता है किन्तु धूम से वह्नि के अनुमान की प्रक्रिया में इस का कोई उपयोग नहीं है। अतः सब पक्षधर्म नहीं हैं। इसी प्रकार पर्वत पर रहने वाला धूम ही पक्ष धर्म है, अन्य धूम नहीं क्योंकि पर्वत पर रहने वाले धूम से वह्नि का अनुमान होता है। हमें धूम और वह्नि के व्याप्ति-ज्ञान से तब तक कोई लाभ न होगा जब तक पर्वत पर धूम रेखा दिखाई न पड़े। इसलिए परामर्श को पक्षधर्मता का ज्ञान कहा गया है। केवल पर्वत पर धूम देख लेना ही पर्याप्त नहीं है, किन्तु वह धूम ऐसे पर्वत पर होना चाहिए जो पक्ष भी हो। अतः पक्षधर्मता का लक्षण है—पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नविषयता। इसकी व्याख्या इस प्रकार की जाती है—कि पक्षता का जो अवच्छेदक है पर्वतत्व उससे जो अवच्छिन्न धूम है, वह पक्षधर्मता है। यह पक्षधर्मता अनुमान का कारण बनती है। किन्तु इसके साथ व्याप्ति का ज्ञान भी चाहिए। इसीलिये अनुमिति का कारण व्याप्ति-

---

१. तुलनीय-व्याप्तस्य पक्षवृत्तित्वधीः परामर्श उच्यते—भाषापरिच्छेद, ६८.

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

विशिष्टपक्षधर्मताज्ञानम् है। अर्थात् व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता का ज्ञान। पर्वत पर धुआं का दिखाई देना पक्षधर्मता का ज्ञान है। यह जब व्याप्ति स्मरण के साथ मिल जाता है तो परामर्श बन जाता है। अर्थात् व्याप्ति पक्षधर्मता का विशेषण नहीं है बल्कि पक्षधर्मता ज्ञान का एक प्रकार है। यह धुआं का धर्म नहीं है किन्तु पर्वत पर धुआं के ज्ञान का धर्म है। यह स्पष्ट है कि व्याप्ति व्यक्ति के ज्ञान में रहती है धुआं में नहीं रहती। अतः धूम व्याप्तिविशिष्ट नहीं है। धूमज्ञानव्याप्त्यवच्छिन्न-प्रकारता-निरूपित है। नीलकण्ठ ने परामर्श की इस परिभाषा यह दी है—व्याप्त्यवच्छिन्नप्रकारतानिरूपित-पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नविशेष्यताशाली निश्चयः। परामर्श का उदाहरण है—वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः, जो कि 'पर्वतो वह्निमान्' इस अनुमिति से पहले अवश्य रहता है।

व्याप्ति—न्याय की अनुमान प्रक्रिया में व्याप्ति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। व्याप्ति का लक्षण है—साहचर्यनियम। व्याप्ति का उदाहरण है जहां धुआं है वहां वह्नि है। किन्तु इस उदाहरण से व्याप्ति का स्वरूप शास्त्रीय रूप में स्पष्ट नहीं होता। व्याप्ति के दो भाग हैं—साहचर्य और सार्वभौमिकता। साहचर्य का अर्थ है—समानाधिकरण अर्थात् हेतु और साध्य का एक साथ रहना। यदि यह साहचर्य सार्वभौमिक हो तो नियत कहलाता है। जहां धूम होता है वहां वह्नि अवश्य होती है। अतः वह्नि धूम की व्यापक है। किन्तु जहां वह्नि होती है वहां धूम सदा नहीं होता। अतः धूम वह्नि का व्यापक नहीं है। अतः यह व्याप्ति एकपक्षीय है। वह्नि की धूम के साथ व्याप्ति है, धूम की वह्नि के साथ नहीं अतः व्याप्ति का अर्थ यही नहीं होता है कि दो चीजें साथ-साथ ही रहें, प्रत्युत उनमें से एक व्यापक हो और दूसरी व्याप्य भी होनी चाहिये, यद्यपि कहीं-कहीं व्यापक और व्याप्य का क्षेत्र समान ही होता है। नैयायिकों के नियत साहचर्य वाले लक्षण में ऐसे उदाहरण भी समाविष्ट हो जाते हैं।

व्यापक और व्याप्य का अर्थ यह नहीं समझ लेना चाहिए कि जो क्षेत्र या परिमाण में बड़ा हो वह व्यापक है। उदाहरणतः बीस की संख्या दस की व्यापक नहीं कही जा सकती—क्योंकि जहाँ बीस होंगे वहां दस तो होंगे किन्तु जहां दस होंगे वहां बीस नहीं होंगे। अर्थात् यहां दस की संख्या बीस की संख्या की अपेक्षा व्यापक है यद्यपि परिमाण में यह कम है। ५० जहां १०० हों वहां तो होंगे ही किन्तु अन्यत्र जहां ७०-८० हों वहाँ

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भी होंगे। अतः यहाँ ५० ही व्यापक है। अतः व्यापक का परिमाण या क्षेत्र से कोई सम्बन्ध नहीं है।

जहां हेतु और साध्य का क्षेत्र समान हो उन स्थानों के अतिरिक्त व्याप्ति एकपक्षीय होती है अर्थात् दो में से एक व्यापक होता है, एक व्याप्य। अतः साहचर्य नियम व्यापक का व्याप्य के साथ रहना है, व्याप्य का व्यापक के साथ रहना नहीं। दीपिका में व्याप्य की यह परिभाषा की है—हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यम्। इस परिभाषा के अनुसार व्यापक व्याप्य के साथ रहता है। उदाहरणतः धूम व्यापक है जो अग्नि व्याप्य के साथ रहता है।

व्याप्ति के भेद—व्याप्ति दो प्रकार की है—अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति। अन्वय व्याप्ति वह है जहां साध्य हेतु के साथ नियत रूप में सहचर हो। व्याप्ति का एक दूसरा भेद है व्यतिरेक व्याप्ति। हर अन्वय-व्याप्ति की व्यतिरेक-व्याप्ति भी अवश्य होती है क्योंकि यदि हेतु और साध्य में व्याप्य व्यापक भाव हो तो उनके अभाव में भी उससे विपरीत क्रम में व्याप्य व्यापक भाव होगा। उदाहरणतः यदि हम यह कह सकते हैं कि जहां-जहां धूम है वहां-वहां वह्नि भी है तो यह कहना भी ठीक होगा कि जहां-जहाँ वह्नि का अभाव है वहां-वहां धूम का भी अभाव है। इस उदाहरण में व्यतिरेक-व्याप्ति और अन्वय-व्याप्ति का भेद स्पष्ट है। अन्वय व्याप्ति में साध्य व्यापक है हेतु व्याप्य जबकि व्यतिरेक व्याप्ति में हेत्वभाव व्यापक है और साध्याभाव व्याप्य। अर्थात् हम यहां वह्नि के अभाव से धूम के अभाव का अनुमान करते हैं। व्यतिरेक व्याप्ति का फल होगा—पर्वतो वह्निमान्। जबकि अन्वय व्याप्ति का फल होगा—पर्वतो धूमाभाववान्। उदयन ने व्यतिरेक व्याप्ति का लक्षण दिया है साध्याभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वम्। जबकि विश्वनाथ ने इसे और भी सरल बनाकर कहा है—साध्याभावव्यापकत्वं हेत्वभावस्य यद् भवेत्[1]। व्यतिरेक व्याप्ति के सम्बन्ध में कुछ मतभेद है जिसका उल्लेख हम आगे करेंगे। व्यतिरेक व्याप्ति वस्तुतः कोई स्वतन्त्र चीज नहीं है प्रत्युत अन्वय का ही दूसरा रूप है। अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति का सम्बन्ध इस रूप में प्रकट किया जा सकता है—अन्वय व्याप्ति है—यो यो धूमवान् स स वह्निमान्। व्यतिरेक व्याप्ति है—यो यो

---

१. भाषा-परिच्छेद, १४३

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वह्न्यभाववान् स स धूमाभाववान्। इस प्रकार व्यतिरेक व्याप्ति अन्वय व्याप्ति को ही दूसरी भाषा में कहती है। किन्तु केवल-व्यतिरेकी अनुमानों में व्यतिरेक व्याप्ति ही काम आती है। इसलिए इसे पृथक् माना गया है।

अनुमानं द्विविधम्—स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं स्वानुमितिहेतुः। तथा हि-स्वयमेव भूयो दर्शनेन 'यत्र धूमस्तत्राग्निः' इति महानसादौ व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीपं गतस्तद्गते चाग्नौ संदिहानः पर्वते धूमं पश्यन्, व्याप्तिं स्मरति-यत्र धूमस्तत्राग्निः' इति। तदनन्तरं 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः' इति ज्ञानमुत्पद्यते। अयमेव लिङ्गपरामर्शं इत्युच्यते। तस्मात् 'पर्वतो वह्निमान्' इति ज्ञानमनुमितिरुत्पद्यते। तदेतत्स्वार्थानुमानम्।

यस्तु स्वयं धूमादग्निमनुमाय परप्रतिपत्त्यर्थं पञ्चावयववाक्यं प्रयुङ्क्ते तत् परार्थानुमानम्। यथा 'पर्वतो वह्निमान्, धूमवत्त्वात्। यो यो धूमवान् स स वह्निमान्, यथा महानसः। तथा चायम्। तस्मात्तथा' इति। अनेन प्रतिपादितालिङ्गात्परोऽप्यग्निं प्रतिपद्यते॥

अनुमान दो प्रकार का है—स्वार्थ और परार्थ। इनमें स्वार्थ वह है जिसमें स्वयं को अनुमिति हो। जैसे कोई स्वयं ही बार-बार देखकर 'जहां-धूम है वहां-वहां अग्नि है, ऐसी रसोईघर में व्याप्ति ग्रहण करके पर्वत के समीप जाकर उसमें अग्नि का संदेह होने पर पर्वत में धूम को देखकर 'जहां-जहां धुआं है वहां-वहां अग्नि है', ऐसी व्याप्ति स्मरण करता है। इसके अनन्तर पर्वत वह्निव्याप्य धूम वाला है यह ज्ञान उत्पन्न होता है। यही लिङ्गपरामर्श कहलाता है। इससे पर्वत वह्नि वाला है यह अनुमिति ज्ञान उत्पन्न होता है। यह स्वार्थानुमान है।

जो स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान करके दूसरे को समझाने के लिए पंचावयव वाक्य का प्रयोग किया जाता है वह परार्थानुमान है। जैसे 'पर्वत वह्निमान् है, क्योंकि यह धूमवान् है जो-जो धूमवान् होता है वह वह निमान् होता है, जैसे रसोईघर, वैसा ही यह भी है, अतः इसमें भी वैसी ही अग्नि है'। इस प्रकार कहे गए लिङ्ग से दूसरा भी अग्नि का ज्ञान कर लेता है।

(त. दी.)—अनुमानं विभजते—अनुमानमिति। स्वार्थानुमितिं दर्शयति-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

स्वयमेवेति। भूयोदर्शनेनेति। धूमाग्न्योर्व्याप्तिग्रहे साध्यसाधनयोर्भूयः सहचारदर्शनेनेत्यर्थः। ननु पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वादौ शतशः सहचारदर्शनेऽपि वज्रादौ व्यभिचारोपलब्धेर्भूयोदर्शनेन कथं व्याप्तिग्रहः? इति चेत्,-न; व्यभिचार-ज्ञानविरहसहकृतसहचारज्ञानस्य व्याप्तिग्राहकत्वात्। व्यभिचारज्ञानं द्विविधम्—निश्चयः शङ्का च। तद्विरहः क्वचित्तर्कात् क्वचित्स्वतः सिद्ध एव। धूमाग्नि-व्याप्तिग्रहे कार्यकारणभावभङ्गप्रसङ्गलक्षणस्तर्को व्यभिचारशङ्कानिवर्तकः॥ ननु सकलवह्निधूमयोरसंनिकर्षात्कथं व्याप्तिग्रहः? इति चेत्,—न; धूमत्ववह्नित्व-रूपसामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्या सकलधूमवह्निज्ञानसंभवात्॥ तस्मादिति। लिङ्गपरामर्शादित्यर्थः। परार्थानुमानमाह—यस्त्विति॥ यच्छब्दस्य तत्परार्थानु-मानमिति तच्छब्देनान्वयः॥ पञ्चावयववाक्यमुदाहरति—यथेति।

स्वार्थानुमान और परार्थानुमान

गौतम और कणाद ने स्वार्थ और परार्थ का भेद नहीं किया। प्रशस्तपाद ने सर्वप्रथम इसका उल्लेख किया है। स्वार्थ और परार्थ का शब्दार्थ स्पष्ट है। जो अपने लिये हो वह स्वार्थ है और जो दूसरे के लिये हो वह परार्थ। स्वार्थ अनौपचारिक और परार्थ औपचारिक अनुमान होता है। स्वार्थानुमान से व्यक्ति स्वयं अनुमान लगाता है परार्थानुमान से वह अनुमान दूसरे तक पहुंचाया जाता है। इसलिए परार्थानुमान में स्वार्थानुमान छिपा हुआ ही है। स्वार्थानुमान में हम अपने अनुभव से तुरन्त अनुमान लगा लेते हैं किन्तु परार्थानुमान में उस अनुमान को हम भाषा में दूसरे तक प्रेषित करते हैं। इस प्रकार स्वार्थानुमान की अपेक्षा परार्थानुमान में भाषा अधिक महत्त्वपूर्ण है। न्यायबोधिनी ने स्वार्थानुमान को न्यायाप्रयोज्यं और परार्थानुमान को न्यायप्रयोज्यं माना है अर्थात् परार्थानुमान के लिए न्याय का प्रयोग आवश्यक है, स्वार्थानुमान के लिए नहीं। धर्मोत्तराचार्य ने यह और भी स्पष्ट कर दिया है—परार्थानुमानं शब्दात्मकम्। स्वार्थानुमानं तु ज्ञानात्मकमेव[1]।

वस्तुतः तो अनुमान का करण रूप होने के कारण स्वार्थानुमान ही अनुमान है। किन्तु परार्थानुमान भी सरलता के लिए कारण में कार्य का

---

१. न्यायबिन्दुटीका, पृ० २१
एवम् प्रशस्तपादभाष्य, पृ० ५५८

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उपचार करके अनुमान ही मान लिया जाता है। अभिप्राय यह है कि स्वार्थानुमान कारण है, परार्थानुमान कार्य। किन्तु हम उसे भी कारण ही मान लेते हैं। परार्थानुमान दूसरे को शब्दों में ज्ञान प्रेषित करने के कारण वस्तुतः शब्दबोध ही है। किन्तु क्योंकि इसका आधार अनुमान है इसलिये हम इसे भी अनुमान ही मान लेते हैं। वस्तुतः परार्थानुमान में परामर्शजन्य ज्ञान ही प्रधान रहता है। नीलकण्ठ ने यह विषय स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि यद्यपि परार्थानुमान के शब्द दूसरे व्यक्ति के लिये होते हैं तथापि वे उसे अनुमान के द्वारा ही ज्ञान कराते हैं। परमार्थानुमान और स्वार्थानुमान में कोई विशेष भेद नहीं है। क्योंकि हर परार्थानुमान स्वार्थानुमान पर ही आधारित होता है और स्वार्थानुमान परार्थानुमान के रूप में बदला जा सकता है।

अन्नम्भट्ट ने स्वार्थानुमान की प्रक्रिया इस प्रकार दी है—प्रथम हम पवत पर धूम देखते हैं तब वहां वह्नि का सन्देह होता है फिर व्याप्ति स्मरण द्वारा और पक्षधर्मता ज्ञान द्वारा वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः ऐसा ज्ञान होता है। यही लिंगपरामर्श या तृतीय लिंगपरामर्श कहलाता है। सिद्धान्तचंन्द्रिका में लिंग का अर्थ इस प्रकार दिया है—व्याप्तिबलेन लीनमर्थं गमयतीति लिंगं तच्च धूमादिस्तस्य परामर्शो ज्ञानविशेषः। यह तृतीय लिंगपरामर्श इसलिये कहलाता है कि प्रथम धूमज्ञान तो हमें पर्वत पर होता है दूसरा महानस आदि में और तीसरा वह्नि व्याप्य धूम का ज्ञान[1]। यह स्वार्थानुमान की प्रक्रिया है।

अनुमान के अन्य भेदों में गौतम ने पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतो-दृष्ट भेद बतलाये हैं।[2] पूर्ववत् का अर्थ है कारण से कार्य का अनुमान। जैसे घने बादलों से वर्षा का अनुमान। शेषवत् का अर्थ है कार्य से कारण का अनुमान। इसके अतिरिक्त जितने अनुमान हैं ये सामान्यतोदृष्ट हैं। वात्स्यायन ने इन तीनों प्रकारों के लक्षण कुछ भिन्न रूप में दिये हैं। उन्होंने पूर्ववत् का अर्थ दिया है ऐसा अनुमान जो हम साहचर्य के आधार पर करते हैं जैसे धुएं से अग्नि का अनुमान।[3] शेषवत् का अर्थ दिया है

---

१. तर्ककौमुदी, पृ० १०-११

२. न्यायसूत्र, १. १. ५.

३. यत्र यथापूर्वं प्रत्यक्षभूतयोरन्यतरदर्शनेनान्यतरस्याप्रत्यक्षस्यानुमानं यथा धूमेनाग्नेरिति-वात्स्यायनभाष्य, न्यायसूत्र, १.१.५

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कि एक पदार्थ का अनुमान इस आधार पर करना कि वह वही पदार्थ है क्योंकि वह कोई अन्य पदार्थ नहीं है। उदाहरणतः शब्द गुण है क्योंकि न वह द्रव्य है न कर्म। सामान्यतोदृष्ट कारण-कार्य सम्बन्ध के आधार पर परोक्ष पदार्थ का अनुमान है। उदाहरणतः आत्मा परोक्ष है किन्तु बुद्धि इत्यादि गुणों के अधिष्ठान के रूप में इसका अनुमान किया जा सकता है। इस प्रकार सामान्यतोदृष्ट और पूर्ववत् का एक प्रकार से विरोध ही है। वाचस्पति ने पूर्ववत् को इसलिए दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषय और सामान्यतोदृष्ट को अदृष्टस्वलक्षण-सामान्यविषय बताया है।[1] पूर्ववत् स्वलक्षण द्वारा सामान्य का अनुमान है जोकि हमने पहले देखा है। सामान्यतोदृष्ट में हमने इसे देखा नहीं है। वाचस्पति ने इन दोनों प्रकारों को वीतानुमान कहा है। इन दोनों में अनुमान विधिपरक अन्वयव्याप्ति से होता है जबकि शेषवत् में अनुमान निषेधपरक व्यतिरेक व्याप्ति से होता है।

अनुमान का विभाजन केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि, और अन्वयव्यतिरेकि के रूप में भी किया गया है। ऐसा निर्णय जो केवलान्वयी हेतु के आधार पर हो केवलान्वयि और जो केवलव्यतिरेकी हेतु के आधार पर हो केवलव्यतिरेकि कहलाता है। जहाँ हेतु ऐसा हो जो अन्वयी भी हो और व्यतिरेकी भी वहां यह अनुमान अन्वयव्यतिरेकि कहलाता है। अन्वयव्यतिरेकि अनुमान में हम उसे अन्वय द्वारा भी प्रकट कर सकते हैं और व्यतिरेक द्वारा भी। निर्णय दोनों दशाओं में एक ही होगा। अतः अन्नम्भट्ट ने इसे लिंग का विभाजन माना है अनुमान का नहीं। प्रशस्तपाद ने स्वार्थानुमान को भी दो भागों में बांटा है--दृष्ट और सामान्यतोदृष्ट। दृष्ट में जिस पदार्थ का अनुमान होता है वह ठीक वैसा ही होता है जैसाकि हमारे पहले ज्ञान में था जैसे कि गल कम्बल से गौ का अनुमान। सामान्यतोदृष्ट मे यह अनुमान अन्य पदार्थ में होता है। जैसेकि जड़ पदार्थ में किसी रोग का अनुमान क्योंकि ऐसा अनुमान प्राणियों के आधार पर किया जाता है।[2] दृष्ट अनुमान सविकल्प प्रत्यक्ष या स्मरण जैसा ही लगता है जबकि सामान्यतोदृष्ट सामान्य अनुमान जैसा है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि भारतीय न्यायशास्त्र में क्या कहीं निगमन

---

१. सांख्यतत्त्वकौमुदी, पृ० २५

२. प्रशस्तपादभाष्य, पृ० ५०७-५०९

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

के साथ-साथ आगमन तर्क भी होता है या नहीं ? इस सम्बन्ध में व्याप्ति को देना होगा। व्याप्ति नियत साहचर्य है। किन्तु यह नियत साहचर्य आगमन द्वारा ही होता है। अन्नम्भट्ट कहते हैं कि बारम्बार वह्नि और धूम को साथ-साथ देखने से व्याप्ति का ज्ञान होता है। किन्तु केवल इससे ही व्याप्ति नहीं होगी। ९९ स्थानों पर वह्नि और धूम साथ-साथ देखने पर भी यह सम्भावना तो बनी ही रहेगी कि १००वें स्थान पर वह साथ-साथ न मिलें। अतः दीपिका ने यह माना है कि व्याप्ति के लिए व्यभिचार के अभाव का भी ज्ञान होना चाहिए। इस प्रकार व्याप्ति में साहचर्य ज्ञान के साथ-साथ अव्यभिचारित्व का भी ज्ञान होना चाहिए। किन्तु ये दोनों मिलकर ही व्याप्ति करवाते हैं पृथक्-पृथक् नहीं। किन्तु व्यभिचार ज्ञान का अभाव किस प्रकार निश्चित किया जाए ? रेखागणित के स्वतः सिद्ध सिद्धान्त हैं, उनमें तो यह अनुमान स्वतः हो जाता है। तर्क द्वारा भी हम यह अनुमान करते हैं। तर्क का अर्थ है कि जो अनुमान हम करना चाहते हैं, कल्पना के लिए हम उसके विपरीत अनुमान कर लेते हैं और यह पाते हैं कि वह विपरीत अनुमान सर्वथा अशुद्ध है। इसलिए हम अपने मूल अनुमान को ही शुद्ध मान लेते हैं। उदाहरणतः जहां धुआँ है वहां आग है। इसको यदि हम न मानें और यह मानलें कि धुआँ कहीं-कहीं आग के बिना भी होता है तो यह मानना पड़ेगा कि धुआं का आग के अतिरिक्त कोई और कारण भी है और हम जानते हैं कि आग के अतिरिक्त धुआं का कोई अन्य कारण नहीं है। इस प्रकार व्याप्ति ज्ञान में आगमन अनुमान भी रहता है। उदाहरणतः जब हम यह कहते हैं कि नीरोग पशु अधिक आयु वाले होते हैं तो यह अनुमान हम आगमन के आधार पर अनेक पशुओं को देखकर करते हैं। यह अनुमान किस प्रकार होता है यह प्रश्नदीपिका में इस रूप में उठाया है—सकलवह्नि-धूमयोरसंनिकर्षात्कथं व्याप्तिग्रहः। वस्तुतः सब जगह धुआं और अग्नि को एक साथ देखना असभव है और यदि सब जगह देख भी लिया जाये तो सामान्य रूप में सब जगह यह व्याप्ति होती है—यह अनुमान कैसे लगेगा क्योंकि सब चीजें मिलकर तो यह अनुमान दे नहीं सकती। मिल ने आगमन को वह प्रक्रिया बतलाया है जहां हम विशेष से सामान्य का अनुमान कर लेते हैं। इस प्रकार आगमन भी अनुमान की ही प्रक्रिया है। किन्तु नैयायिक इसे अनुमान न कहकर प्रत्यासत्ति कहते हैं। दीपिका का कहना है कि यह प्रत्यासत्ति अलौकिक प्रत्यक्ष से होती है। अर्थात् जब हम घट को देखते हैं तो हम घटत्वजाति के सम्बन्ध में कुछ नियम बनाते हैं और ये नियम इतनी

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तेजी से बनते हैं कि हम उनमें अनुमान की प्रक्रिया में से होकर नहीं गुजरते। व्याप्ति का ज्ञान भी तर्क से नहीं होता। तर्क से केवल व्यभिचार का अभाव जाना जाता है। व्याप्ति तो साहचर्य ज्ञान से ही हो जाती है। व्यभिचार के अभाव का ज्ञान तर्क से होता है। इस प्रकार प्राचीन नैयायिकों ने आगमन तर्क को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत ही मान लिया था। केशवमिश्र ने यह स्पष्ट कर दिया है—तथा च सत्युपाध्यभावजनितसंस्कारसहकृतेन भूयोदर्शन-जनितसंस्कारसहकृतेन साहचर्यग्राहिणा प्रत्यक्षेणैव धूमाग्न्योर्व्याप्तिरवधार्यते।[1] अनुमिति के लिये कुछ व्यवधान आवश्यक है। किन्तु व्याप्ति का ज्ञान तात्कालिक होता है। अतः इसे पृथक् अनुमान नहीं माना जा सकता।

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चावयवाः। 'पर्वतो वह्निमान्' इति प्रतिज्ञा। 'धूमवत्त्वात्' इति हेतुः। 'यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान्, यथा महानसः' इत्युदाहरणम्। 'तथा चायम्' इत्युपनयः। 'तस्मात्तथा' इति निगमनम्॥

पांच अवयव ये हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। 'पर्वत वह्निमान है' यह प्रतिज्ञा है, 'क्योंकि यह धूमवान् है' यह हेतु है, 'जो-जो धूमवान् है वह वह वह्निमान् है जैसे रसोईघर' यह उदाहरण है, 'यह भी वैसा है यह उपनय है,' 'इसलिए यह वह्निमान् है' यह निगमन है।

(त. दी.)—अवयवस्वरूपमाह—प्रतिज्ञेति। उदाहृतवाक्ये प्रतिज्ञादि-विभागमाह—पर्वतो वह्निमानिति। साध्यवत्तया पक्षवचनं प्रतिज्ञा॥ पञ्चम्यन्तं लिङ्गप्रतिपादकं वचनं हेतुः। व्याप्तिप्रतिपादकमुदाहरणम्। पक्षधर्मताज्ञानार्थ-मुपनयः। अबाधितत्वादिकं निगमनप्रयोजनम्॥

पञ्चावयवाः

परार्थानुमान और स्वार्थानुमान का भेद जान लेने के बाद यह प्रश्न आता है कि परार्थानुमान में भाषा का प्रयोग किस प्रकार से हो। यह भाषा का प्रयोग ही न्याय है और इसके पांच अवयव हैं। न्याय का

---

१. तर्कभाषा, पृ० ३८

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

गंगेश ने यह लक्षण दिया है—अनुमितिचरमकारणलिंगपरामर्शप्रयोजकं शब्दज्ञानजनकवाक्यम् ।[1] अर्थात् न्याय वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा श्रोता के मन में भी उसी प्रकार का पक्षधर्मता का ज्ञान हो जाता है जिस प्रकार का ज्ञान वक्ता के मन में होता है । पाश्चात्य न्यायदर्शन तथा कुछ भारतीय दर्शनों में ये वाक्य तीन हैं । किन्तु भारतीय न्यायशास्त्र में पांच—अवयव, प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन । प्रतिज्ञा का अर्थ है पक्ष में साध्य की घोषणा[2]—साध्यवत्तया पक्षवचनं (दीपिका) । इसका प्रयोजन यह है कि वक्ता पहले से ही यह समझ ले कि हम अनुमान द्वारा उसे क्या सिद्ध करके दिखाना चाहते हैं ? प्रतिज्ञा के अनन्तर हेतु दिया जाता है जो प्रायः पंचमी में रहता है । हेतु और लिंग में थोड़ा-सा भेद है । लिंग वह पदार्थ है जिससे अनुमान होता है । हेतु उस लिंग का प्रतिपादक वाक्य है अर्थात् लिंग हेतु वाक्य में कहा जाता है । यह लिंग विधिपरक भी हो सकता है और निषेधपरक भी । हेतु देने के बाद यह प्रश्न उठता है कि इस हेतु से प्रतिज्ञा कैसे सिद्ध होगी ? उसका उत्तर उदाहरण वाक्य द्वारा दिया जाता है । इस पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उदाहरण में जो बात कही गई है वह वर्तमान प्रतिज्ञा और हेतु पर कैसे लागू होगी । इसका समाधान चतुर्थ उपनय वाक्य द्वारा किया जाता है । उपनय का अर्थ समझना चाहिए—लागू करना । निगमन में ये सब चीजें एक-साथ सम्बद्ध करके परिणाम तक हमें पहुंचा देती हैं । निगमन का अर्थ है समर्थन करना या सम्बद्ध करना । वात्स्यायन ने कहा है—निगम्यन्ते समर्थ्यन्ते संबध्यन्तेऽनेन प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनया एकत्रेति निगमनम् ।[3] दीपिका का कहना है कि निगमन का प्रयोजन है कि साध्य के अस्तित्व के बारे में कोई संदेह न रह जाए ।

प्रसिद्ध अनुमान में यह प्रक्रिया इस प्रकार होगी—

(प्रतिज्ञा)—पर्वतो वह्निमान् ।
(हेतु)—धूमात् ।
(उदाहरण)—यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसः ।
(उपनय)—वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः ।
(निगमन)—तस्माद्वह्निमान् पर्वतः ।

---

१. तत्त्वचिन्तामणि, पृ० ७६ (न्यायकोश से उद्धृत)
२. न्यायसूत्र, १.१.३३
३. वात्स्यायन भाष्य, न्यायसूत्र, १.१.३९ (पृ० ५७)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पाश्चात्य न्यायदर्शन में तीन ही वाक्य होते हैं। पाश्चात्य न्यायदर्शन में बहुत कुछ श्रोता को स्वयं कल्पना द्वारा पूरा करना होता है। भारतीय न्यायशास्त्र में ऐसा नहीं है। उदाहरणतः ये तीन वाक्य लें—

सब मनुष्य मरणधर्मी हैं।

सुकरात मनुष्य है।

इसलिए सुकरात मरणधर्मा है।

इसे भारतीय पद्धति में इस प्रकार कहेंगे—

जहां-जहां मनुष्यत्व है वहां-वहां मर्त्यत्व है।

सुकरात में मनुष्यत्व है।

इसलिए सुकरात मे मर्त्यत्व है।

इसे ही यदि विपरीत क्रम में कर दें और संस्कृत में कहें तो यह रूप बनेगा—

देवदत्तो मनुष्यत्ववान् (मनुष्यः)

यो यो मनुष्यत्ववान् (मनुष्यः) स स मर्त्यत्ववान् (मर्त्यः)

तस्मात् देवदत्तो मर्त्यत्ववान् (मर्त्यः)

यहां प्रतिज्ञा और उपनय जोड़ दें और हेतु को पंचमी में रख दें तो भारतीय न्याय के अनुसार ये पांच वाक्य बन जाएंगे—

देवदत्तो मर्त्यत्वविशिष्टः (मर्त्यः)

मनुष्यत्वविशिष्टत्वात् (मनुष्यत्वात्)

यो यो मनुष्यत्वविशिष्टः (मनुष्यः) स मर्त्यत्वविशिष्टः (मर्त्यः) यथा यज्ञदत्तः।

तथा चायम्।

तस्मात्तथा।

मीमांसक इनमें से प्रथम तीन को ही लेकर अनुमान कर लेते हैं और यदि प्रथम तीन का क्रम बदल दिया जाए तो वह पाश्चात्य न्यायदर्शन-जैसा बन जाएगा। किन्तु इससे अधिक उचित यह होगा कि प्रतिज्ञा और हेतु को हटा दें और शेष तीन उसी रूप में रहने दें। ये पंचावयव वाक्य भारतीय दर्शन में भी सबको स्वीकार्य नहीं है और पश्चिम में तो इनका बहुत खण्डन हुआ ही है। इसके पक्ष और विपक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

किन्तु तर्कसंग्रह की भूमिका पर वह अनावश्यक है। प्राचीन नैयायिकों में इन पाँच वाक्यों के अतिरिक्त जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन और संशयव्युदास नामक पांच अन्य वाक्य मानने वाले नैयायिक रहे हैं। किन्तु वात्स्यायन का कहना है कि ये पांच वाक्य न्याय के लिए अनिवार्य नहीं हैं केवल सहायक हैं इसलिए इन्हें न्याय का अवयव नहीं कहा जा सकता।[1] हम पहले ही कह चुके हैं कि मीमांसक प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण को ही मानते हैं। कुछ लोग हेतु, उदाहरण और उपनय को ही मानते हैं। वेदान्ती भी पांच अवयवों को नहीं मानते। वेदान्तपरिभाषा में कहा है—अवयवाश्च त्रय एव प्रतिज्ञाहेतूदाहरणरूपा उदाहरणोपनयनिगमरूपा वा, न तु पञ्च। अवयवत्रयेणैव व्याप्तिपक्षधर्मयोरुपदर्शनसंभवादधिकावयवद्वयस्य व्यर्थत्वात्।[2] बौद्ध केवल उदाहरण और उपनय को ही मानते हैं। इस प्रकार न्याय और वैशेषिक[3] के अतिरिक्त शेष दर्शन लगभग तीन न्याय वाक्यों को ही मानते हैं। इनमें उदाहरण या व्याप्ति विशेष महत्वपूर्ण हैं।

यह जानना चाहिए कि व्याप्ति को उदाहरण क्यों कहा गया। वस्तुतः उदाहरण तो तीसरे वाक्य में इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितनी व्याप्ति। व्याप्ति जैसे महत्वपूर्ण अंश को केवल उदाहरण कहकर ही कैसे छोड़ दिया गया। कुछ लोगों का तो यह कहना है कि उदाहरण आवश्यक ही नहीं है और इस प्रकार उदाहरण के अभाव में भी अनुमान हो सकता है। मैक्समूलर का कहना है कि व्याप्ति के लिये उदाहरण आवश्यक है, चाहे वह उदाहरण विधिपरक हो या निषेधपरक या दोनों प्रकार का। और इस प्रकार वह भी महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः दृष्टान्त के अन्वयी या व्यतिरेकी होने पर व्याप्ति निर्भर करती है।

ऐसा लगता है कि मूल रूप में पाँच वाक्य इस रूप में थे—पर्वतो वह्निमान्। धूमवत्त्वात्। यथा महानसः। तथा चायम्। तस्मात्तथा, इनमें तीसरा वाक्य उदाहरण ही होता था। किन्तु बाद में जब वहां व्याप्ति जोड़ दी गई तब भी

---

१. वात्स्यायन भाष्य, न्यायसूत्र, १.१.३२ (पृ० ५१)

२. वेदान्त परिभाषा, पृ० १.३२

३. उपस्कार भाष्य, वैशेषिकसूत्र, १.२.२ (पृ० २२०) में ये पंचावयव क्रमशः प्रतिज्ञा, अपदेश, निदर्शन, अनुसन्धान तथा प्रत्याम्नाय कहे गए हैं।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उसका नाम उदाहरण ही रहा । इस प्रकार इसका कारण ऐतिहासिक है, ऐसा बोडास का मत है ।[1] बाद में जब केवल दृष्टान्त से न्याय वाक्य की पूर्णता नहीं मानी जाने लगी तो उसमें व्याप्ति भी जोड़ दी गई । मिल का कहना है कि पाश्चात्य न्यायदर्शन में विशेष से विशेष्य का ही अनुमान होता था और इस दृष्टि से ही उसमें दृष्टान्त का बड़ा हाथ रहता था । मिल ने यह उदाहरण दिया है—एथेन्स का थीब्स के साथ युद्ध अनुचित है, क्योंकि वह पड़ोसी के विरुद्ध युद्ध है । जैसाकि थीब्स का फोकी के साथ युद्ध था ।

स्वार्थानुमितिपरार्थानुमित्योर्लिङ्गपरामर्श एव करणम् । तस्मा-ल्लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम् ॥

स्वार्थानुमिति और परार्थानुमिति में लिङ्ग-परामर्श ही करण है । इसलिए लिङ्ग-परामर्श ही अनुमान है ।

(त. दी.)—अनुमितिकरणमाह—स्वार्थेति ॥ ननु व्याप्तिस्मृतिपक्षधर्मता-ज्ञानाभ्यामेवानुमितिसंभवे व्याप्तिविशिष्टलिङ्गपरामर्शः किमर्थमङ्गीकर्तव्यः ? इति चेत्,—न; वह्निव्याप्यधूमवानयमिति शाब्दपरामर्शस्थले विशिष्टपरामर्श-स्यावश्यकतया लाघवेन सर्वत्र परामर्शस्यैव करणत्वात् । लिङ्गं न करणम्; अतीतादौ व्यभिचारात् । 'व्यापारवत्कारणं करणम्' इति मते परामर्शद्वारा व्याप्तिज्ञानं करणम् । तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापारः ॥ अनुमानमुप-संहरति—तस्मादिति ॥

परामर्श

हमने पहले भी परामर्श की व्याख्या की है । अन्नम्भट्ट ने परामर्श को लिङ्गपरामर्श कहा है और उनका अभिप्राय यह है कि अनुमिति का करण लिंग-परामर्श है केवल लिंग नहीं । दीपिका में अनुमिति के करण के सम्बन्ध में तीन मत दिये हैं । वैशेषिकों का मत है कि अनुमिति का करण लिंग ज्ञान है । शंकरमिश्र इसी मत के समर्थक हैं ।[2] अन्नम्भट्ट इसके समर्थक नहीं हैं । उनका कहना है कि यदि लिंग ज्ञान से अनुमान

---

१. अथल्ये और बोडास, तर्कसंग्रह, पृ० २७३-२७४ ।
२. उपस्कार भाष्य, वैशेषिकसूत्र, ९.२.१ (पृ० २१६)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

होता हो तो भूत और भविष्य में देखे गए या देखे जाने वाले धूम से भी पर्वत में वह्नि का अनुमान हो जाएगा। अतः लिंग को पक्षधर्म के रूप में जानना चाहिए। यही परामर्श है। अतः लिंग ज्ञान नहीं बल्कि लिंग परामर्श अनुमिति का कारण है।

प्रश्न हो सकता है कि यदि व्याप्तिज्ञान और पक्षधर्मज्ञान से अनुमिति हो जाती है तो फिर परामर्श को पृथक् गिनवाने की क्या आवश्यकता है। परामर्श तो व्याप्तिज्ञान और पक्षधर्मज्ञान का ही समुच्चय है। अन्नम्भट्ट का कहना है कि लाघव की दृष्टि से व्याप्ति और पक्षधर्मता ज्ञान दो कारण मानने की अपेक्षा अकेले परामर्श को ही कारण मान लेना ठीक होगा। फिर व्याप्ति और पक्षधर्मताज्ञान से ही परामर्श नहीं हो जाता। अतः परामर्श को तो पृथक् मानना ही पड़ेगा।

लिङ्गं त्रिविधम्—अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि चेति। अन्वयेन व्यतिरेकेण च व्याप्तिमदन्वयव्यतिरेकि। यथा वह्नौ साध्ये धूमवत्त्वम्। 'यत्र धूमस्तत्राग्निः, यथा महानसः' इत्यन्वयव्याप्तिः। 'यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति, यथा महाह्रदः' इति व्यतिरेकव्याप्तिः। अन्वयमात्रव्याप्तिकं केवलान्वयि। यथा घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वात्पटवत्। अत्र प्रमेयत्वाभिधेयत्वयोर्व्यतिरेकव्याप्तिर्नास्ति, सर्वस्यापि प्रमेयत्वादभिधेयत्वाच्च। व्यतिरेकमात्रव्याप्तिकं केवलव्यतिरेकि; यथा पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते; गन्धवत्त्वात्। यदितरेभ्यो न भिद्यते न तद्गन्धवत्, यथा जलम्, न चेयं तथा, तस्मान्न तथेति। अत्र यद्गन्धवत्तदितरभिन्नमित्यन्वयदृष्टान्तो नास्ति, पृथिवीमात्रस्य पक्षत्वात्॥

लिङ्ग तीन प्रकार का है—अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि और केवलव्यतिरेकि। अन्वय और व्यतिरेक दोनों से व्याप्तिमान् हो वह अन्वयव्यतिरेकि है। जैसे वह्नि साध्य होने पर धूमवत्त्व। "जहां धुंआ है, वहाँ अग्नि है, जैसे रसोई घर में—यह अन्वयव्याप्ति है। जहाँ वह्नि नहीं है वहाँ धुंआँ भी नहीं है जैसे सरोवर में—यह व्यतिरेकव्याप्ति है। जिसकी केवल अन्वयव्याप्ति हो वह केवलान्वयि है। जैसे घट अभिधेय है क्योंकि वह प्रमेय है यथा पट। यहां प्रमेयत्व और अभिधेयत्व की व्यतिरेकव्याप्ति नहीं है क्योंकि सभी कुछ प्रमेय और अभिधेय है। जिसकी केवल व्यतिरेक व्याप्ति हो वह केवलव्यतिरेकि

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है जैसे—पृथ्वी इतर पदार्थों से भिन्न है क्योंकि उसमें गन्धवत्त्व है । जो इतर पदार्थों से भिन्न नहीं है वह गन्धवान् नहीं है जैसे जल, यह ऐसी नहीं है इसलिए यह इतर पदार्थों से भिन्न है। यहाँ जो गन्धवान् है वह इतर पदार्थों से भिन्न है इसका अन्वय दृष्टान्त नहीं है क्योंकि पृथ्वी मात्र ही पक्ष है ।

(त. दी.)—लिङ्गं विभजते—लिङ्गमिति ॥ अन्वयव्यतिरेकि लक्षयति—अन्वयेनेति । हेतुसाध्ययोर्व्याप्तिरन्वयव्याप्तिः । तदभावयोर्व्याप्तिर्व्यतिरेकव्याप्तिः ॥ केवलान्वयिनो लक्षणमाह—अन्वयेति । केवलान्वयिसाध्यकं केवलान्वयि । अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं केवलान्वयित्वम् । केवलान्वयिनमुदाहरति-यथा घटोऽभिधेयः प्रमेयत्वादिति । ईश्वरप्रमाविषयत्वं सर्वपदाभिधेयत्वं च सर्वत्रास्तीति व्यतिरेकाभावः ॥ केवलव्यतिरेकिणो लक्षणमाह—व्यतिरेकेति । केवलव्यतिरेकिणमुदाहरति—पृथिवीति । नन्वितरभेदः प्रसिद्धो वा न वा ? । आद्ये यत्र प्रसिद्धस्तत्र हेतुसत्त्वेऽन्वयित्वम्, असत्त्वेऽसाधारण्यम् । द्वितीये साध्यज्ञानाभावात्कथं तद्विशिष्टानुमितिः ? । विशेषणज्ञानाभावे विशिष्टज्ञानानुदयात् । प्रतियोगिज्ञानाभावाद् व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानमपि न स्यादिति चेत्,—न; जलादित्रयोदशान्योन्याभावानां त्रयोदशसु प्रत्येकं प्रसिद्धानां मेलनं पृथिव्यां साध्यते । तत्र त्रयोदशत्वावच्छिन्नभेदस्यैकाधिकरणवृत्तित्वाभावान्नान्वयित्वासाधारण्ये । प्रत्येकाधिकरणे प्रसिद्धया साध्यविशिष्टानुमितिर्व्यतिरेकव्याप्तिनिरूपणं चेति ॥

लिंग

न्याय वाक्यों की व्याख्या करने के बाद लेखक लिंग की व्याख्या करता है। लिंग यदि शुद्ध होगा तो अनुमान भी शुद्ध होगा । लिंग तीन प्रकार के हैं—केवल विधिपरक, केवल निषेधपरक और दोनों प्रकार के । विधि-निषेधपरक लिंगों में दोनों प्रकार की व्याप्ति संभव है । किन्तु विधिपरक में केवल विधिपरक व्याप्ति और निषेधपरक में केवल निषेधपरक व्याप्ति सम्भव है। उदाहरणतः 'घट अभिधेय है क्योंकि वह प्रमेय है ।' इस व्याप्ति का निषेधपरक उदाहरण नहीं मिल सकता । क्योंकि वस्तु मात्र अभिधेय और प्रमेय है । अतः इसका विपक्ष नहीं है । जहां केवल निषेधपरक ही उदाहरण हो सकता है उसका उदाहरण यह है कि 'पृथ्वी इतर पदार्थों से भिन्न है क्योंकि इसमें गंध है ।' इसका सपक्ष दृष्टान्त नहीं हो सकता क्योंकि जहां भी गंध होगा वह पृथ्वी ही हो सकती है कोई और पदार्थ नहीं । इसको इस प्रकार समझना चाहिए कि समस्त पदार्थ दो भागों में बंटे हैं—पृथ्वी और पृथ्वीतर । पृथ्वी

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तो इस अनुमान में पक्ष ही है और हेतु है गंध । गंध अतिरिक्त पृथ्वी के और कहीं नहीं है। अतः हम इसका कोई अन्वय उदाहरण नहीं दे सकते।

अन्वय और व्यतिरेक

दीपिका में हेतु और साध्य की व्याप्ति को अन्वय बतलाया है जबकि उनके अभाव की व्याप्ति को व्यतिरेक बताया है । हम पहले ही कह चुके हैं कि व्यतिरेक व्याप्ति में अन्वय व्याप्ति के व्याप्य और व्यापक अपना क्रम बदल देते हैं ।

केवलान्वयि

जिसका साध्य केवलान्वयी हो वह केवलान्वयी लिंग कहलाता है। केवलान्वयी साध्य वह होता है जिसका अत्यन्ताभाव कहीं भी न हो। उदाहरणतः अभिधेयत्व का अत्यन्ताभाव नहीं हो सकता । यहाँ यह समझने योग्य है कि दीपिका ने केवलान्वयत्व को साध्य से सम्बद्ध माना है, हेतु से नहीं। क्योंकि केवलान्वयि अनुमान के लिए हेतु के अत्यन्ताभाव का न होना आवश्यक नहीं है। उदाहरणतः 'घटोभिधेयः घटत्वात्' केवलान्वयि है । क्योंकि इसमें व्यतिरेक व्याप्ति नहीं हो सकती । किन्तु जो यहां हेतु दिया है, घटत्व, उसका अत्यन्ताभाव तो बहुत जगहों पर है । अतः केवलान्वयी वहां होता है जहां ऐसी चीज साध्य हो जो सत्ता मात्र में रहती हो । कोई कह सकता है कि विश्व में ऐसे भी पदार्थ हैं जिनके नाम नहीं हैं या जिन्हें हम जान नहीं सकते । दीपिका का कहना है कि कोई पदार्थ चाहे हमारे ज्ञान में न आए किन्तु सर्वज्ञ परमात्मा के ज्ञान में आ ही जाता है। अतः अप्रमेय कुछ भी नहीं।

केवलव्यतिरेकि

केवलव्यतिरेकि का जो उदाहरण दिया है वह थोड़ा-सा जटिल है किन्तु हम उसकी व्याख्या ऊपर कर चुके हैं । पृथ्वी इतरभेदवती गन्धवत्वात् । यहाँ अन्वय व्याप्ति नहीं हो सकती । यत्र यत्र गन्धवत्त्वं तत्र पृथिवीतरभेदः नहीं कहा जा सकता। क्योंकि गंधवान् तो सभी पदार्थ पृथिवीत्व में ही आ जाएंगे। किन्तु ऐसे पदार्थ अनेक हैं जहाँ पृथ्वीतरत्व है और गन्धाभाव भी है। अतः यह केवलव्यतिरेकि का उदाहरण है।

यहाँ दीपिका में जो तर्क-वितर्क दिए हैं वह चाहे विशेष उपयोगी तो नहीं किन्तु तब भी यहाँ इसलिए दिए जाते हैं कि न्यायशास्त्र में किस प्रकार सूक्ष्म चर्चाएं हुई हैं, इसका थोड़ा-सा आभास मिल सके । आक्षेप किया जाता है

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कि पृथ्वी में इतर भेद का अनुमान नहीं हो सकता । यहां उभयतः पाश है। यदि इतर भेद पहले से ज्ञात है तो या तो वहां गंध सहित ज्ञात है, या गंध रहित । यदि दूसरे स्थानों पर हेतु साध्य में व्याप्त है तो वह सपक्ष दृष्टान्त हो गया और यहाँ अन्वय व्याप्ति हो गई किन्तु यदि हेतु किसी अन्य पदार्थ में व्याप्त नहीं है तो फिर यह पक्ष का विशेष धर्म हो गया और इसके आधार पर न कोई व्याप्ति हो सकती है, न अनुमान । यदि यह मानें कि साध्य ज्ञात ही नहीं है तो फिर कोई अनुमिति भी न हो सकेगी क्योंकि अनुमिति एक विशिष्ट ज्ञान होता है और विशिष्ट ज्ञान विशेषण के ज्ञान के बिना हो नहीं सकता । उदाहरणतः दण्ड का ज्ञान हुए बिना दण्डी का ज्ञान नहीं हो सकता। वह्नि का ज्ञान हुए बिना वह्निमान पर्वत का ज्ञान नहीं हो सकता और यदि साध्य अज्ञात ही है तो फिर उससे अनुमिति कैसे होगी अर्थात् जब तक हम इतर भेद को न जानें इतरभेदवती पृथ्वी को कैसे जान सकते हैं ? इसी प्रकार अभाव का ज्ञान प्रतियोगी के ज्ञान पर आधारित है और अगर इतर भेद का अभाव अज्ञात है तो व्यतिरेक व्याप्ति नहीं हो सकती अर्थात् 'जहाँ इतर-भेद का अभाव है वहां गन्धवत्त्वाभाव भी है,' यह व्याप्ति नहीं होगी। अतः केवल व्यतिरेकि अनुमान नहीं होता । यह पूर्वपक्ष है ।

इस मत का खण्डन भी दीपिका में किया गया है। दीपिका का यह अंश कुछ स्पष्ट नहीं है। किन्तु बोडास ने उस अंश में थोड़ा संशोधन करके (पृ. २८५-२८६) उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—यहां साध्य १४ पदार्थ का समूह नहीं है। यहां वस्तुतः १३ अन्योन्याभाव का पृथ्वी में अभाव सिद्ध करना अभिप्रेत है। अन्योन्याभाव दो पदार्थों का होता है और इस प्रकार यहाँ १३ अन्योन्याभाव हैं। ये १३ अन्योन्याभाव १४ पदार्थों में परस्पर हैं । इनमें से प्रत्येक शेष १३ में रहता है। जैसे जलभेद, जल के अतिरिक्त तेज इत्यादि १३ पदार्थों में रहता है और तेजोभेद तेज के अतिरिक्त अन्य पदार्थों में रहता है। इस प्रकार यह १३ अन्योन्याभाव एक ही समय १३ पदार्थों में तो रहते हैं किन्तु वे सभी एक समय ही सब में नहीं रह सकते। किन्तु वे पृथ्वी में रहते हैं और इस प्रकार पृथ्वी उन १३ से भिन्न है अर्थात् यहाँ हमारा साध्य है—त्रयोदशत्वावच्छिन्नभेदस्यैकाधिकरणवृत्तित्वम् अर्थात् १३ के १३ अन्योन्याभाव का युगपद् एक चीज़ में रहना। किन्तु क्योंकि ऐसा कोई उदाहरण हमें ज्ञात नहीं, जहां ये १३ के १३ अन्योन्याभाव एक साथ रहते हों; हम यह नहीं जान सकते, कि हेतु वहां है या नहीं। अतः हेतु यहां न अन्वयी है न साधारण। उभयतः पाश के एक

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अंश का यह उत्तर हुआ। दूसरा जो अंश है कि यदि साध्य अज्ञात ही है तो अनुमिति हो ही नहीं सकती। उसमें भी कोई बल नहीं है। क्योंकि यहाँ हमें यह मालूम ही है कि जलादि भेद कूट १३ पदार्थों में रहता ही है। किन्तु पूर्व पक्ष का कहना है कि १३ अन्योन्याभावों को हम पृथक् पृथक् तो जानते हैं किन्तु उनका समुदाय तो ज्ञात नहीं है तो फिर यह साध्य ज्ञात कैसे माना जाएगा। इस पर नैयायिकों का उत्तर है कि हमें समुदाय का निषेध करना साध्य नहीं है किन्तु पृथक्-पृथक् अन्योन्याभावों का अभाव ही साध्य है। अतः यहां साध्यविशिष्टानुमिति और व्यतिरेक व्याप्ति दोनों संभव हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि गौतम ने हेतु का साधर्म्य और वैधर्म्य विभाजन किया था।[1] लिंग और अनुमान का विभाजन बाद में हुआ। हेतु के जो दो भाग थे, साधर्म्य और वैधर्म्य उससे उदाहरण, उपनय और निगमन के भी दो भेद हो गए। साधर्म्य और वैधर्म्य दृष्टान्त का था किन्तु जब दृष्टान्त का स्थान व्याप्ति ने ले लिया तो फिर अनुमान का ही साधर्म्य और वैधर्म्य में विभाजन कर दिया गया। और इस प्रकार अन्वयी और व्यतिरेकी नाम के दो लिंग बन गए। जब तक यह व्याप्ति का विभाजन था तब तक तो ठीक था, किन्तु जब नव्यनैयायिकों ने इसे और भी आगे ले जाकर यह सिद्ध किया कि दो प्रकार की व्याप्ति तीन प्रकार से हो सकती है, या केवल अन्वय से या व्याप्ति से या दोनों से, तो फिर कठिनाई हो गई। वस्तुस्थिति यह है कि अधिकतर तो अन्वय-व्यतिरेकी लिंग ही होते हैं। केवल अन्वयी और केवल व्यतिरेकी तो अपवाद ही हैं।

केवल अन्वयी और केवल व्यतिरेकी के सम्बन्ध में कुछ आपत्तियां भी हैं। किन्तु आपत्तियों के बारे में हमें यही कहना है कि शायद केवल व्यतिरेकी अनुमान इसलिए माना गया कि मीमांसकों का अर्थापत्ति नाम का प्रमाण न मानना पड़े। जहां हमें किसी परोक्ष पदार्थ के बारे में अनुमान करना होता है, वहाँ केवल व्यतिरेकी अनुमान से नैयायिक अनुमान कर लेते हैं। किन्तु मीमांसक और वेदान्ती अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा ऐसे स्थानों पर अनुमान करते हैं।[2] अतः वेदान्तियों के अनुसार केवल व्यतिरेकी अनुमान का कोई महत्त्व नहीं।

---

१. न्यायसूत्र, १.१.३४-३५

२. वेदान्तपरिभाषा, पृ० १२६-१२८

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

संदिग्धसाध्यवान् पक्षः । यथा धूमवत्त्वे हेतौ पर्वतः ॥

जिसमें साध्य संदिग्ध हो वह पक्ष है । जैसे धूमवत्त्व हेतु में पर्वत ।

(त. दी.) पक्षलक्षणमाह—संदिग्धेति । ननु श्रवणानन्तरभाविमननस्थले-ऽव्याप्तिः । तत्र वेदवाक्यैरात्मनो निश्चितत्वेन संदेहाभावात्; किं च प्रत्यक्षेऽपि वह्नौ यत्रेच्छयानुमितिस्तत्राप्यव्याप्तिरिति चेत्,—न; उक्तपक्षताश्रयत्वस्य पक्ष-लक्षणत्वात् ॥

निश्चितसाध्यवान् सपक्षः । यथा तत्रैव महानसः ।

जिसमें साध्य निश्चित हो वह सपक्ष है । जैसे उपर्युक्त उदाहरण में ही रसोईघर ।

(त. दी.)—सपक्षलक्षणमाह—निश्चितेति ॥

निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः । यथा तत्रैव महाह्रदः ॥

जहां साध्य का अभाव निश्चित हो वह विपक्ष है । जैसे उपर्युक्त उदाहरण में सरोवर ।

(त. दी.)—विपक्षलक्षणमाह—निश्चितेति ॥

पक्ष, सपक्ष और विपक्ष

न्याय में अनुमान प्रकरण की चर्चा करते समय पक्ष, सपक्ष और विपक्ष की बहुत चर्चा होती है । पक्ष वह है जहां हमें साध्य सिद्ध करना है जैसे पर्वत, सपक्ष वह है जहां हमें साध्य का पहले से ही ज्ञान है जैसे महानस, विपक्ष वह है जहां हमें साध्य के अभाव का ज्ञान पहले से ही है जैसे सरोवर । अन्नम्भट्ट ने यह परिभाषा गंगेश की तत्त्वचिन्तामणि से ली है । सपक्ष और विपक्ष क्रमशः अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति के उदाहरण के रूप में आते हैं ।

पक्ष के लक्षण में बाधा

यहां जो पक्ष का लक्षण है वह बहुत निर्दोष नहीं कहा जा सकता । उदाहरणतः, श्रुति की आज्ञा है—आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

निदिध्यासितव्यः ।[1] अब यदि श्रुति के अनुसार आत्मा का ज्ञान श्रुति वाक्य के श्रवण से ही हो गया तो आत्मा का स्वरूप संदिग्ध तो रहा नहीं, फिर उसका मनन अर्थात् अनुमान कैसे किया जाएगा? श्रुति-वाक्य तो असत्य हो नहीं सकता । नित्य व्यवहार में भी हम उन पदार्थों के सम्बन्ध में भी अनुमान से काम लेते हैं जिन्हें हम पहले से ही जानते हैं। अतः दीपिका के अनुसार पक्ष की परिभाषा है—सिषाधयिषाविरहसहकृतसिद्ध्य-भावः किन्तु यदि दीपिका की परिभाषा शुद्ध है तो फिर स्वयं अन्नम्भट्ट ने ही तर्कसंग्रह में संदिग्ध शब्द क्यों रखा? यहां संदिग्ध का अर्थ सर्वथा संदिग्ध नहीं किन्तु सीमित अर्थों में संदिग्ध है। ऊपर जो हमने श्रुतिवाक्य उद्धृत किया है वहां यह समझना चाहिए कि आत्मा को श्रवण द्वारा जान लेने पर भी उसके सम्बन्ध में समस्त सन्देह दूर नहीं हो जाते और उसके लिए मनन से काम लिया जाता है। इसी प्रकार अन्य प्रमाणों से जाने गए पदार्थ के सम्बन्ध में भी थोड़ा-बहुत सन्देह होने पर अनुमान से हम अपने ज्ञान को और भी निस्संदिग्ध बना लेते हैं।

पक्ष, सपक्ष और विपक्ष की परिभाषा देने के बाद अन्नम्भट्ट को हेत्वाभास का वर्णन करना है। किन्तु उससे पहले उन्हें यह बतलाना चाहिए था कि सद्धेतु क्या है? तर्ककौमुदी में सद्धेतु के पांच लक्षण बताए हैं—पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व तथा असत्प्रति-पक्षत्व।[2] अर्थात् हेतु को (१) पक्ष में रहना चाहिए। (२) सपक्ष में रहना चाहिए (३) विपक्ष में नहीं रहना चाहिए। (४) किसी अन्य बलवत्तर प्रमाण से उसका खण्डन नहीं होना चाहिए और (५) कोई ऐसा कारण नहीं होना चाहिए जिससे साध्य का अभाव सिद्ध हो जाए। इनमें से प्रथम तीन तो पक्ष, सपक्ष और विपक्ष के सम्बन्ध में जो कहा गया है, उससे ही सिद्ध है और जो अन्तिम दो कारण हैं वे वस्तुपरक अधिक हैं। उनका अनुमान की प्रक्रिया से सम्बन्ध नहीं। ये पाँच शर्तें अन्वय व्यतिरेकी हेतु पर लागू होती हैं किन्तु केवलान्वयी पर तीसरी शर्त और केवलव्यतिरेकी पर दूसरी शर्त लागू होने का प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि उनके क्रमशः विपक्ष और सपक्ष होते ही नहीं। इन पाँच में से जहां पक्षधर्मत्व न होगा वहां आश्रयासिद्ध और स्वरूपा-

---

१. बृहदारण्यकोपनिषद्, ४.४.६ (पृ० १६१)

२. तर्ककौमुदी, पृ० १२

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सिद्ध हेत्वाभास होगा, जहाँ सपक्ष सत्त्व न होगा वहाँ असाधारण सव्यभिचार और अनुपसंहारी होगा, जहाँ विपक्षासत्त्व होगा वहाँ व्याप्यत्वासिद्ध, विरुद्ध और साधारण सव्यभिचार होगा, और जहां अन्तिम दो शर्तें पूरी न होंगी वहाँ बाधित और सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास होगा।[1] अभी हेत्वाभास की चर्चा हम करेंगे और तब यह स्पष्ट हो जाएगा।

न्यायबिन्दु में ऊपर की पाँच शर्तों में से पहली तीन शर्तें ही अनिवार्य मानी गई हैं।[2] और वैशेषिक भी त्रिरूप हेतु ही मानते हैं। जैन तो इससे भी सहमत नहीं हैं। यह बात परिशिष्ट में जैन न्याय और बौद्ध न्याय पर लिखते समय स्पष्ट कर दी जायेगी।

सव्यभिचारविरुद्धसत्प्रतिपक्षासिद्धबाधिताः पञ्च हेत्वाभासाः॥

हेत्वाभास पांच हैं—सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित।

(त. दी.)—एवं सद्धेतुं निरूप्यासद्धेतुं निरूपयितुं विभजते—सव्यभिचारेति। अनुमितिप्रतिबन्धकयथार्थज्ञानविषयत्वं हेत्वाभासत्वम्।

हेत्वाभास

यह जान लेने पर कि हेतु की क्या-क्या शर्तें हैं, यह भी जान लेना चाहिए कि हेतु में क्या-क्या दोष हो सकते हैं। हेत्वाभास का एक अर्थ हो सकता है—हेतुवदाभासते अर्थात् जो हेतु जैसा लगे पर हेतु हो नहीं, अथवा हेतोराभासः=सदृशः जो हेतु जैसा दिखाई पड़े। जो हेतु दुष्ट होता है वह हेत्वाभास होता है। यदि हेत्वाभास का अर्थ हेतोः हेतौ वाभासः किया जाए तो इसका अर्थ होगा—हेतु के दोष। वस्तुतः हेत्वाभास में हेतु के दोषों के ही प्रकार बताये गये हैं, दुष्ट हेतु के प्रकार नहीं बताये गये; क्योंकि एक हेतु में इन पाँच दोषों में से एक से अधिक दोष भी हो सकते हैं। उदाहरणतः इस अनुमान में 'वायुर्गन्धवान् स्नेहात्' पाँचों ही दोष हैं। 'ह्रदो वह्निमान् धूमात्' में तीन दोष हैं—बाधित, सत्प्रतिपक्ष और स्वरूपासिद्ध। 'पर्वतो धूमवान् वह्नेः' में दो दोष हैं—साधारणसव्यभिचार और व्याप्यत्वा-

---

१. उपस्कारभाष्य, वैशेषिक सूत्र, ३.१.१७ (पृ० ९८)
२. न्यायबिन्दुटीका, पृ० १०४

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सिद्ध। यदि दुष्टहेतु के भेद करने लगें तो फिर इस प्रकार हेतुओं का अन्तर्भाव कहां किया जायगा। अतः यह हेतुओं के दोषों का ही भेद किया गया है। दीधिति में भी यही बात कही गई है—न्यायाद्दोषगतसंख्यामादाय दुष्टहेतौ पंचत्वादिसंख्याव्यवहारः। अन्नम्भट्ट ने हेत्वाभास का कोई लक्षण नहीं दिया। केवल दीपिका में हेतुदोष का लक्षण दिया है। नीलकंठ का कहना है कि तर्कसंग्रह में अन्नम्भट्ट ने हेत्वाभास का अर्थ दुष्टहेतु किया है और दीपिका में हेतुदोष। न्यायबोधिनी में दुष्ट हेतु के पांच भाग किए हैं—व्यभिचार, विरोध, प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाध। जो इन पाँच दोषों से युक्त हो, वह क्रमशः सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित कहलाता है।

दीपिका में हेतुदोष का यह लक्षण दिया है—अनुमितिप्रतिबन्धकयथार्थ-ज्ञानविषयः अर्थात् जो ठीक अनुमिति द्वारा यथार्थ ज्ञान न होने दे। इस प्रकार 'ह्रदो वह्निमान् धूमात्' में यदि हमें यह ज्ञान न हो कि सरोवर में धुंआ नहीं है तो यह अनुमान हमें हो जाएगा, और यह ज्ञान अनुमितिप्रतिबंधक है और इसलिए हेतुदोष है। किन्तु यथार्थ ज्ञान कहने का क्या अभिप्राय है? यथार्थ का यह अभिप्राय है कि दोष होने पर भी यथार्थ ज्ञान हो तो वह अनुमिति नहीं है।

किन्तु यह लक्षण उन हेतुदोषों पर लागू नहीं होता जो सीधे अनुमिति में प्रतिबन्धक न होकर व्याप्ति ज्ञान या परामर्श में प्रतिबन्धक होने के कारण अनुमिति में परम्परया बाधक हैं। अतः यहाँ अनुमिति के अर्थ में अनुमिति के करण अर्थात् परामर्श, व्याप्तिज्ञान और लिंगज्ञान भी समाहित हैं। अतः व्यभिचार आदि जो दोष अनुमिति के करण में सीधे प्रतिबन्धक नहीं हैं, वे भी अनुमिति में प्रतिबन्धक मान ही लिए जाएंगे।

हेतुदोष जान लेने के बाद दुष्ट हेतु जानना कठिन नहीं है। शङ्करमिश्र ने दुष्टहेतु का यह लक्षण दिया है—यस्य हेतोर्यावन्ति रूपाणि गमकतौपयिकानि तदन्यतररूपहीनः।[1] यह लक्षण सरल भी है और शुद्ध भी। इसका अर्थ है कि हेतु की चार या पाँच शर्तों में से किसी एक के पूरा न होने पर दुष्ट हेतु होता है।

हेत्वाभास की संख्या के सम्बन्ध में भी कुछ मतभेद है, जिसे निम्न प्रकार से समझा जा सकता है—

---

१. उपस्कार भाष्य, वैशेषिकसूत्र, ३.१.१७ (पृ० ५९)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

गौतम के अनुयायी नैयायिक और अन्नम्भट्ट भी पांच हेत्वाभास मानते हैं। वैशेषिक तीन हेत्वाभास मानते हैं—सव्यभिचार, विरुद्ध और असिद्ध। किन्तु यह मतभेद मौलिक नहीं है। क्योंकि वैशेषिक सत्प्रतिपक्ष और बाधित को आश्रयासिद्ध, सव्यभिचार या अनैकांतिक के अन्तर्गत मान लेते हैं। गौतम ने पांच हेत्वाभास इस प्रकार गिनाये हैं—सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और अतीतकाल।[1] इनमें दो तो वही हैं जो तर्कसंग्रह में हैं। प्रकरणसम वह है जहां निर्णय संदिग्ध हो और जहां समान बलवान तर्क उसके विरुद्ध भी हो अर्थात् प्रकरणसम तर्कसंग्रह का सत्प्रतिपक्ष है,[2] साध्यसम असिद्ध और कालातीत बाधित है। प्रशस्तपाद ने कणाद के अनुसार विरुद्ध असिद्ध और संदिग्ध तीन हेत्वाभास माने हैं।[3] इनमें संदिग्ध सव्यभिचार या अनैकांतिक के समान है। कुछ लोगों ने अनध्यवसित भी एक हेत्वाभास माना है किन्तु यह अनैकांतिक के अन्तर्गत आ जाता है। बौद्धों ने तीन वही हेत्वाभास माने हैं जो कणाद ने माने हैं। सव्यभिचार और असिद्ध नवीन लेखकों की कल्पना है। यहां सत्प्रतिपक्ष और बाधित के सम्बन्ध में ही विशेष मतभेद हैं और इसका एक कारण है। ये दोनों हेत्वाभास तर्क की प्रक्रिया से नहीं, बल्कि पदार्थ से सम्बद्ध हैं। अतः इनका विवेचन कुछ लेखकों ने ठीक नहीं माना। पाश्चात्य न्यायशास्त्र में इस प्रकार के हेत्वाभासों को पदार्थगत दोष अर्थात् मैटीरियल दोष कहा गया है जबकि प्रक्रिया सम्बन्धी दोषों को प्रक्रिया का अर्थात् फॉरमल दोष कहा जाता है। नैयायिकों ने कोई ऐसा विभाजन स्वीकार नहीं किया।

सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः। स त्रिविधः—साधारणासाधारणानुपसंहारिभेदात्। तत्र साध्याभाववद्वृत्तिः साधारणोऽनैकान्तिकः। यथा 'पर्वतो वह्निमान्, प्रमेयत्वात्' इति प्रमेयत्वस्य वह्न्यभाववति ह्रदे विद्यमानत्वात्। सर्वसपक्षविपक्षव्यावृत्तोऽसाधारणः। यथा 'शब्दो नित्यः, शब्दत्वात्' इति। शब्दत्वं सर्वेभ्यो नित्येभ्योऽनित्येभ्यश्च व्यावृत्तं शब्दमात्रवृत्ति। अन्वयव्यतिरेकदृष्टान्तरहितोऽनुपसंहारी। यथा सर्वमनित्यं प्रमेयत्वादिति। अत्र सर्वस्यापि पक्षत्वाद्दृष्टान्तो नास्ति।

१. गौतम सूत्र, १.२.४ (पृ० ७०)
२. उपरिवत् १.२.७. (पृ० ७३)
३. प्रशस्तपाद भाष्य, पृ० ४८०

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सव्यभिचार अनैकान्तिक है। यह तीन प्रकार का है, साधारण, असाधारण अनुपसंहारी। इनमें साध्य के अभाव में रहने वाला हेतु साधारण अनैकांतिक है। जैसे 'पर्वत वह्निमान् है' क्योंकि वह प्रमेय है, यहां प्रमेयत्व वह्नि के अभाव वाले सरोवर में भी रहता है अतः (वह साधारण अनैकांतिक) है। जो केवल पक्ष में रहे और न किसी सपक्ष में रहे न किसी विपक्ष में वह असाधारण है। जैसे 'शब्द नित्य है शब्दत्व के कारण' यहां शब्दत्व नित्य और अनित्य दोनों में ही न रहकर केवल शब्द में रहता है। जिसका अन्वय और व्यतिरेक दृष्टान्त न हो वह अनुपसंहारी है। जैसे 'सब अनित्य है प्रमेयत्व के कारण' यहां सभी, पक्ष है इसलिए दृष्टान्त नहीं है।

(त. दी.)—सव्यभिचारं विभजते—स त्रिविध इति। असाधारणं लक्षयति—तत्रेति। उदाहरति—यथेति। असाधारणं लक्षयति—सर्वेति। अनुपसंहारिणो लक्षणमाह—अन्वयेति॥

सव्यभिचार

सव्यभिचार का अर्थ है कि व्यभिचारसहित, व्यभिचार का अर्थ है हेतु का साध्याभाव के साथ रहना। यथा 'पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात्' यहां प्रमेयत्व साध्य के अभाव अर्थात् सरोवर में भी है। अतः यहां सव्यभिचार दोष है। इसे अनैकांतिक भी कहते हैं। व्यभिचार जिसका लक्षण साध्यसंवेहजनको-भयकोट्युपस्थापकतावच्छेदकरूपवत्वम्[1] दिया गया है अनैकांतिक जैसा ही है। अर्थात् सव्यभिचार वह है जिससे साध्य और साध्य का अभाव दोनों सिद्ध होते हैं। अतः कणाद ने अनैकांतिक को संदिग्ध नाम दिया है।

सव्यभिचार के तीन भेद हैं—साधारण, असाधारण और अनुपसहारी। साधारण वह है जिसमें अतिव्याप्ति हो अर्थात् जो सपक्ष और विपक्ष दोनों में रहे या यों कहें कि जो साध्य और साध्य के अभाव दोनों में व्याप्त हो। अन्नम्भट्ट ने साधारण को केवल साध्याभाव के साथ ही व्याप्त माना है किन्तु तर्ककौमुदी में उसे सपक्ष-विपक्ष-वृत्ति माना है। अन्नम्भट्ट का विचार है कि अन्वयी हेतु में सपक्ष-वृत्तित्व तो होता ही है। अतः इसका देना आवश्यक नहीं है।

असाधारण साधारण का विरुद्ध है अर्थात् जो न सपक्ष में हो न विपक्ष में। विपक्ष में तो कोई हेतु रहता ही नहीं किन्तु असाधारण हेत्वाभास सपक्ष

१. गदाधरी सव्य (?), न्यायकोश पृ० ९८० पर उद्धृत।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

में भी नहीं रहता। साधारण अतिव्याप्त है तो असाधारण अव्याप्त, क्योंकि यह जहां व्याप्त होना चाहिए उस सपक्ष में भी व्याप्त नहीं होता। असाधारण का अर्थ है कि वह पक्ष के अतिरिक्त और कहीं नहीं रहता; पक्ष का ही असाधारण गुण होता है। उदाहरणतः यदि हम कहें कि 'शब्द नित्य है क्योंकि उसमें शब्दत्व है' तो शब्दत्व पक्ष, शब्द, का असाधारण धर्म है, और कहीं रह नहीं सकता। अतः यह असाधारण हेत्वाभास हुआ।

अनुपसंहारी हेत्वाभास वह है जिसका न सपक्ष दृष्टान्त हो न विपक्ष दृष्टान्त। अर्थात् जो पक्ष के अतिरिक्त जहां-जहां साध्य हो वहां-वहां न रहे। यह तभी हो सकता है जब समस्त पदार्थों को पक्ष बना दिया जाए। और जब सब कुछ पक्ष हो जाए तो फिर सपक्ष या विपक्ष बनने के लिए कुछ रह नहीं जाएगा। उदाहरणतः 'सर्वमनित्यं, प्रमेयत्वात्'। यत्र यत्र प्रमेयत्वं तत्रा-नित्यत्वम्। यथा घटे पटे कुड्ये वा? अब यहां सब ही पक्ष हैं तो फिर उदाहरण के रूप में घट, पट, कुड्य नहीं दिए जा सकते। यह कहा जा सकता है कि पक्ष में तो साध्य संदिग्ध है पर घट पट आदि में नहीं, अतः यहां सपक्ष दृष्टांत दिया जा सकता है। नव्यनैयायिकों ने अनुपसंहारि का लक्षण 'केवलान्व-यिधर्मसाध्यकः' दिया है अर्थात् जहां साध्य हेतु के साथ केवल विधि रूप में सम्बद्ध हो। किन्तु यह लक्षण तो केवलान्वयी सद्धेतु पर भी लागू हो जाएगा। अतः ऊपर जो आक्षेप किया गया है उसका उत्तर यह है कि चाहे पृथक्-पृथक् पदार्थों में अनित्यत्व निश्चित हो किन्तु उसके आधार पर कोई व्याप्ति नहीं बनाई जा सकती। क्योंकि पक्ष में तो जो विस्तृततम क्षेत्र है वह अन्तर्भूत है। इसे अनपसंहारि इसलिए कहते हैं क्योंकि यहां पक्ष में सभी समाविष्ट हो जाता है और उससे कुछ बचता नहीं।

यह कहा जा सकता है कि ये तीन प्रकार के हेत्वाभास एक ही भेद के प्रभेद कैसे मान लिए गए। वस्तुतः सव्यभिचार के लक्षण में इन तीनों का अन्तर्भाव हो जाता है। सव्यभिचार का लक्षण हैं कि जहां साध्य के साथ पूर्ण व्याप्ति न हो अर्थात् जो न तो पूरी तरह साध्य के साथ रहे न साध्याभाव के। अब यहां चार संभावनाएं हो सकती हैं—(१) या तो हेतु सपक्ष में रहे और विपक्ष में न रहे। यह तो सद्हेतु हुआ। (२) हेतु सपक्ष में तो न रहे और विपक्ष में रहे। यह अनुपसंहारि हुआ। (३) हेतु सपक्ष में तो रहे किन्तु विपक्ष में भी रहे। यह साधारण हुआ (४) हेतु विपक्ष में तो न रहे किन्तु सपक्ष में रहे। यह असाधारण हुआ। अनुपसंहारि वह है जिसका न सपक्ष हो और न विपक्ष। अतः इसमें न सपक्ष-सत्त्व होता है और न विपक्ष-व्यावृत्तत्व। साधारण

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सपक्ष और विपक्ष दोनों में रहता है अतः उसमें सपक्ष-सत्त्व तो होता है किन्तु विपक्ष-व्यावृत्तत्व नहीं होता। असाधारण न सपक्ष में होता है न विपक्ष में। अतः वहां विपक्ष-व्यावृत्तत्व तो होता है किन्तु सपक्ष-सत्त्व नहीं होता। अतः सव्यभिचार इन तीन ढंगों से हो सकता है और इसीलिए सव्यभिचार के ये तीन भेद कहे गये हैं।

इस सम्बन्ध में यह भी जान लेना चाहिए कि साधारण और असाधारण हेत्वाभास केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी जैसे लगते हैं किन्तु दोनों में भेद हैं। केवलान्वयी में हेतु साध्य में व्याप्त होता है जैसे—पर्वतोऽभिधेयः प्रमेयत्वात् किन्तु साधारण हेत्वाभास में ऐसा नहीं होता जैसे—पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात्। इसी प्रकार केवलव्यतिरेक में साध्य और हेतु व्याप्त होते हैं किन्तु असाधारण में नहीं। उदाहरणतः पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते पृथिवीत्वात् केवल व्यतिरेकी है जब कि पृथिवी नित्या पृथिवीत्वात् असाधारण है। अर्थात् जहां साध्य और हेतु में व्याप्ति है वहां व्यभिचार नहीं है, यद्यपि सभी दशाओं में सपक्ष या विपक्ष दृष्टान्त का होना आवश्यक नहीं है।

साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः। यथा शब्दो नित्यः कृतकत्वादिति। कृतकत्वं हि नित्यत्वाभावेनानित्यत्वेन व्याप्तम्॥

[जो हेतु साध्याभाव से व्याप्त हो वह विरुद्ध है। जैसे शब्द नित्य है क्योंकि वह कार्य है। यहाँ कार्यत्व (साध्य) नित्यत्व के अभाव अनित्यत्व से व्याप्त है।]

(त. दी.)—विरुद्धं लक्षयति—साध्येति॥

विरुद्ध

विरुद्ध का अर्थ है ऐसा हेतु जो साध्य के अभाव के साथ व्याप्त हो। उदाहरणतः—शब्द नित्य है क्योंकि उसमें कृतकत्व है। अब कृतकत्व नित्यत्वाभाव के साथ व्याप्त है किन्तु नित्यत्व के साथ नहीं। अर्थात् इस हेतु से तो जो हम सिद्ध करना चाहते हैं उससे विरुद्ध बात ही सिद्ध हो जाती है।[1]

विरुद्ध कभी भी सपक्ष में नहीं रहता किन्तु साधारण सव्यभिचार सपक्ष में भी रहता है। विरुद्ध विपक्ष में रहता है, असाधारण सव्यभिचार विपक्ष में

---

१. न्यायसूत्र, १.२.६

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नहीं रहता। अनुपसंहारी में हेतु की व्याप्ति अपूर्ण या दुष्ट होती है जबकि विरुद्ध में वह व्याप्ति विपरीत दिशा में होती है।

यस्य साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं विद्यते स सत्प्रतिपक्षः। यथा 'शब्दो नित्यः श्रावणत्वात्, शब्दत्ववत्' इति। 'शब्दोऽनित्यः कार्यत्वात्, घटवत्' इति॥

जिस हेतु के साध्य के अभाव को सिद्ध करने वाला दूसरा हेतु है वह सत्प्रतिपक्ष है। जैसे 'शब्द नित्य है श्रावणत्व के कारण शब्दत्व के समान'। (यहां साध्य के अभाव का साधक हेतु यह है—) 'शब्द अनित्य है कार्यत्व के कारण जैसे घट'।

(त. दी.)—सत्प्रतिपक्षं लक्षयति—यस्येति॥

सत्प्रतिपक्ष

जहां साध्याभाव साधक दूसरा हेतु हो वहाँ सत्प्रतिपक्ष माना जाता है। विरुद्ध में जो हेतु साध्य का साधक दिया जाता है वही साध्याभाव का साधक बन जाता है, जब कि सत्प्रतिपक्ष में साध्याभाव साधक दूसरा हेतु होता है। उदाहरणतः 'शब्दो नित्यः श्रावणत्वात्' 'शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्।' यहाँ साध्य नित्यत्व के अभाव अनित्यत्व का साधक दूसरा हेतु कृतकत्व दिया गया है। अतः यहां सत्प्रतिपक्ष है। सत्प्रतिपक्ष को वैशेषिक बाधित के अन्तर्गत ही मानते हैं किन्तु बाधित और सत्प्रतिपक्ष में अन्तर है। बाधित में अनुमान का साध्य वस्तुतः बलवत्तर प्रमाण द्वारा असिद्ध किया जाता है। उदाहरणतः यदि कोई कहे कि अग्नि शीतल है क्योंकि यह द्रव्य है, तो प्रत्यक्ष द्वारा इस अनुमान का बाध हो जाता है क्योंकि अग्नि छूने पर उष्ण है किन्तु सत्प्रतिपक्ष में ऐसा नहीं होता। वहां दो समान बल वाले अनुमान एक-दूसरे के विरोधी होते हैं और इसलिए किसी एक के लिये हमारा निर्णय नहीं हो पाता। गौतम ने इस हेत्वाभास का इसीलिये प्रकरणसम नाम रखा है। प्रकरण का अर्थ है निर्णय। सम का अर्थ है—समान। अर्थात् जहां दोनों हों अथवा समान बल वाला निर्णय हो। वात्स्यायन ने इसकी व्याख्या—प्रकरणमनतिवर्तमानः कहकर की है अर्थात् जहाँ निर्णय किया ही न जा सके। सत्प्रतिपक्ष का भी यही अर्थ है। जहां दो परस्पर विरोधी अनुमानों में दो हेतु होते हैं वे दोनों एक दूसरे के प्रतिपक्ष होते हैं और उनके कारण निर्णय में बाधा होती है। जहाँ तुल्य

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

बल वाले विरोधी हेतु हों वहीं सत्प्रतिपक्ष होता है अन्यथा नहीं। जब एक पक्ष बलवान् हो जाता है तो वह बाधित हो जाता है। उदाहरणतः यदि एक अनुमान को श्रुति बाधा पहुंचा रही हो तो वह बाधित होगा क्योंकि श्रुति प्रमाण, अनुमान प्रमाण का तुल्य बल नहीं है प्रत्युत अधिक बलवान् है।

असिद्धस्त्रिविधः—आश्रयासिद्धः, स्वरूपासिद्धः, व्याप्यत्वासिद्धश्चेति। आश्रयासिद्धो यथा—गगनारविन्दं सुरभि, अरविन्दत्वात्, सरोजारविन्दवत्। अत्र गगनारविन्दमाश्रयः। स च नास्त्येव। स्वरूपासिद्धो यथा—शब्दो गुणश्चाक्षुषत्वात्, रूपवत्। अत्र चाक्षुषत्वं शब्दे नास्ति; शब्दस्य श्रावणत्वात्। सोपाधिको हेतुर्व्याप्यत्वासिद्धः। साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापक उपाधिः। साध्यसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वम्। साधनवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साधनाव्यापकत्वम्। 'पर्वतो धूमवान वह्निमत्त्वात्' इत्यत्रार्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः। तथा हि—यत्र धूमस्तत्रार्द्रेन्धनसंयोग इति साध्यव्यापकता। यत्र वह्निस्तत्रार्द्रेन्धनसंयोगो नास्ति; अयोगोलक आर्द्रेन्धनसंयोगाभावादिति साधनाव्यापकता। एवं साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वादार्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः। सोपाधिकत्वाद्वह्निमत्त्वं व्याप्यत्वासिद्धम्॥

असिद्ध तीन प्रकार का है—आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध और व्याप्यत्वासिद्ध। आश्रयासिद्ध जैसे—गगनारविन्द सुगन्धित है, क्योंकि वह अरविन्द है, सरोजारविन्द की तरह। यहां गगनारविन्द आश्रय है और वह है ही नहीं। स्वरूपासिद्ध जैसे—शब्द गुण है चाक्षुष होने के कारण। यहां शब्द में चाक्षुषत्व है ही नहीं क्योंकि शब्द श्रवण से ग्राह्य है। सोपाधिक व्याप्यत्वासिद्ध होता है। जो साध्य का व्यापक हो और हेतु का अव्यापक वह उपाधि कहलाता है। साध्य व्यापक का अर्थ है साध्य के अधिकरण में रहने वाले अभाव का जो प्रतियोगी न हो। साधनाव्यापक का अर्थ है जो हेतु के अधिकरण में रहने वाले अभाव का प्रतियोगी है। जैसे 'पर्वत धूमवान् है वह्निमत्त्व के कारण' यहाँ आर्द्र इन्धन संयोग उपाधि है; जहां धुआं है वहां आर्द्र ईंधन संयोग है। यह साध्य व्यापकत्व हुआ। जहां वह्नि है वहाँ आर्द्र ईंधन संयोग नहीं है जैसे—आग से लाल गर्म लोहे के गोले में—यह साधनाव्यापकता हुई। इस प्रकार साध्य व्यापक और साधन के अव्यापक होने से आर्द्र ईंधन संयोग उपाधि हुआ। सौपाधिक होने से वह्निमत्त्व व्याप्यात्वासिद्ध हुआ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(त. दी.)—असिद्धं विभजते—असिद्ध इति ॥ आश्रयासिद्धमुदाहरति—गगनेति ॥ स्वरूपासिद्धमुदाहरति—शब्देति ॥ व्याप्यत्वासिद्धस्य लक्षणमाह—सोपाधिक इति । उपाधिलक्षणमाह—साध्येति । उपाधिश्चतुर्विधः—केवल-साध्यव्यापकः, पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकः, साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकः, उदासीनधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकश्चेति । आद्य आर्द्रेन्धनसंयोगः । द्वितीयो यथा—'वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात्' इत्यत्र बहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्नप्रत्यक्षत्वव्यापक-मुद्भूतरूपवत्त्वम् । तृतीयो यथा—'प्रागभावो विनाशी जन्यत्वात्' इत्यत्र जन्यत्वा-वच्छिन्नानित्यत्वव्यापकं भावत्वम् । चतुर्थो यथा—'प्रागभावो विनाशी प्रमेयत्वात्' इत्यत्र जन्यत्वावच्छिन्नानित्यत्वव्यापकं भावत्वम् ॥

असिद्ध

गौतम ने असिद्ध को साध्यसम कहा है। अर्थात् जो साध्य के समान हो। अर्थ यह हुआ कि जिस प्रकार साध्य संदिग्ध होता है उसी प्रकार जहां हेतु भी संदिग्ध हो वह साध्यसम है। असिद्धि का अर्थ है सिद्धि न होना अर्थात् साध्य व्याप्य हेतु का पक्ष में न होना। इस प्रकार असिद्धि परामर्श में बाधा डालती है। परामर्श के तीन भाग हैं—व्याप्ति पक्षता और पक्षधर्मता या हेतुता। जहां पक्ष में कोई दोष हो वहां आश्रयासिद्ध, जहां हेतु में दोष हो स्वरूपासिद्ध, और जहां व्याप्ति में दोष हो वहाँ व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास होता है।

अन्नम्भट्ट ने असिद्ध का कोई लक्षण नहीं दिया। आश्रयासिद्ध का लक्षण है—पक्षतावच्छेदकाभाववत्पक्षकः अर्थात् जहाँ हेतु पक्ष को अवच्छिन्न न करे। उदाहरणतः—गगनारविंद सुगन्धित है क्योंकि वह अरविंद है। अब यहां गगनारविंद ही नहीं है अर्थात् अरविन्द को जिस गगनीयत्व से विशिष्ट बतलाया जा रहा है, वह गगनीयत्व अरविन्द मे रहता ही नहीं। इस प्रकार यहाँ गगनीयत्व पक्षतावच्छेदक धर्म है क्योंकि यह गगनारविंद का धर्म है और वह अरविंद में नहीं है। जब विशेष्य विशिष्ट में न रह सके तो फिर उसे विशेषण में मान लिया जाता है—सति विशेष्ये बाधे विशिष्टा बुद्धिर्विशेषणमुपसंक्रामति। वर्तमान उदाहरण में यद्यपि आश्रय अरविन्द असिद्ध नहीं है किन्तु उसमें गगनीयत्व असिद्ध है। एक ऐसा असिद्ध भी हो सकता है जहां पक्ष की

१. गौतमसूत्र, १.२.८

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सत्ता ही न हो। दीपिका में सिद्ध साधन भी आश्रयासिद्ध है। नव्यनैयायिक इसे निग्रहस्थान मानते हैं।

स्वरूपासिद्ध इस कारण स्वरूपासिद्ध कहलाता है क्योंकि इसमें हेतु स्वय ही असिद्ध होता है। उदाहरणतः यदि कोई शब्द को चाक्षुष होने के कारण नित्य कहे तो यह हेतु स्वरूपासिद्ध होगा क्योंकि चाक्षुषत्व शब्द में रहता ही नहीं। आश्रयासिद्ध में आश्रय ही असिद्ध होता है जबकि स्वरूपासिद्ध में आश्रय तो वास्तविक होता है किन्तु उसमें हेतु नही होता। इस सम्बन्ध में स्वरूपासिद्ध, सहव्यभिचार, सत्प्रतिपक्ष और बाधितता का पूरक है। सहव्यभिचार सपक्ष सत्त्व, विपक्ष व्यावृत्ति में बाधा पड़ने पर होते हैं जबकि सत्प्रतिपक्ष और बाधित अन्तिम दो शर्तों असत्प्रतिपक्षत्व तथा अबाधितत्व के पूरा न होने पर होते हैं। स्वरूपासिद्ध पहली शर्त अर्थात् पक्ष-धर्मत्व के न होने पर होता है। यहाँ हेतु वास्तविक है किन्तु उसमें पक्षधर्मता नहीं है।

व्याप्यत्वासिद्ध वहां होता है जहां लिंग सोपाधिक हो। जब हेतु साध्य के साथ व्याप्त नहीं होता तो वह व्याप्यत्वासिद्ध कहलाता है। स्वरूपासिद्ध हेतु पक्ष में नही रहता जबकि व्याप्यत्वासिद्ध हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति नहीं होती। स्वरूपासिद्ध हेतु से पक्षधर्मता दुष्ट होती है, व्याप्यत्वासिद्ध हेतु से व्याप्ति। उदाहरणतः—पर्वतो धूमवान् वह्निमत्त्वात् व्याप्यत्वासिद्ध है।

प्राचीन और नव्य नैयायिकों का मतभेद

ऊपर जो उदाहरण दिया है वहां कांचनमय विशेषण केवल व्यर्थ ही नहीं है, वह हेतु को दुष्ट भी बना लेता है। यदि हम पर्वतो वह्निमान् नीलधूमात् कहते तो यद्यपि नील विशेषण व्यर्थ है किन्तु इससे हेतु दुष्ट नहीं हो जाता नव्यनैयायिक इसे हेत्वाभास नहीं मानेंगे प्रत्युत भाषा का एक अधिक नामक दोष मानेंगे। किन्तु प्राचीन नैयायिकों के अनुसार यह व्याप्यत्वासिद्ध का उदाहरण है क्योंकि नीलधूमत्व व्याप्यत्वावच्छेदक धर्म नहीं है।

व्याप्ति की यह असिद्धि या तो तब होती है जबकि उस व्याप्ति की सिद्धि न हो सके या उपाधि या किसी शर्त के लग जाने से उस व्याप्ति की साधुता अप्रमाणित हो जाए। इस प्रकार व्याप्यत्वासिद्ध दो प्रकार का है—(१) साध्येनासहचरितः (२) सोपाधिकसाध्यसंबन्धः अर्थात् या तो किसी

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

साध्य के साथ व्याप्ति न हो या साध्य के साथ व्याप्ति हो तो सोपाधिक ही हो। उदाहरणतः—शब्दः क्षणिकः सत्त्वात्। यद्यत्सत्तत्क्षणिकं यथा घनः। यहां सत्त्व और क्षणिकत्व की व्याप्ति सिद्ध नहीं हो सकती। ऊपर जो कांचनमय धूम का उदाहरण दिया है वह भी इसी प्रकार का है। सोपाधिक अनुमान का उदाहरण है—पर्वतो धूमवान् वह्नेः यहां वह्नि धूमव्याप्य नहीं है। किन्तु वह एक शर्त पूरा करे तो धूमव्याप्य होती है। वह शर्त है—आर्द्रेन्धनसंयोगे सति अर्थात् जहां वह्नि के साथ आर्द्र ईंधन होगा तभी वहां धूम होगा। इस प्रकार आर्द्र ईंधन का संयोग एक शर्त हो गई है। इन दोनों ही स्थानों पर व्याप्यत्वासिद्ध दोष है। अन्नम्भट्ट ने व्याप्यत्वासिद्ध को सोपाधिक हेतु कहा है। वस्तुतः सोपाधिक व्याप्यत्वासिद्ध का एक प्रकार ही है। ऊपर जो कांचनमय धूम वाला उदाहरण है वहां यह लक्षण लागू नहीं होता। इसलिए नीलकंठ ने तो इसे व्याप्यत्वासिद्ध का लक्षण नहीं माना है। किन्तु स्वयं अन्नम्भट्ट ने दीपिका में इसे व्याप्यत्वासिद्ध का ही लक्षण कहा है—व्याप्यत्वासिद्धस्य लक्षणमाह सोपाधिक इति। अतः मानना तो इसे व्याप्यत्वासिद्ध का लक्षण ही होगा। या तो उपर्युक्त उदाहरण में कांचनमय धूम को सोपाधिक मान ले या इसे कोई दूसरा हेत्वाभास मानें। किन्तु दोनों ही स्थितियां आंशिक रूप में सत्य हैं। कांचनमय धूम वाले उदाहरण में संसार में कांचनमय धूम होता ही नहीं अतः यह स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। किन्तु इस सम्बन्ध में अन्नम्भट्ट की परिभाषा गंगेश आदि अन्य नैयायिकों से मेल नहीं खाती। एक अन्य सम्प्रदाय के नैयायिक सोपाधिक को असिद्ध न मानकर सव्यभिचार मानते हैं। उनका कहना है कि उपाधि व्याप्ति को दुष्ट बनाकर परामर्श को असंभव कर देती है। अतः उपाधि व्याप्ति का व्यभिचार करने के कारण सव्यभिचार है।

असिद्ध और सव्यभिचार मे आखिर भेद क्या है? व्याप्यत्वासिद्ध और साधारण सव्यभिचार का भेद और भी सूक्ष्म है। व्यभिचार विधिपरक है, व्याप्यत्वासिद्ध निषेधपरक। व्यभिचार में व्याप्ति वस्तुतः बाधित होती है, असिद्ध में व्याप्ति का केवल अभाव होता है। व्यभिचार में व्याप्ति मिथ्या होती है, असिद्ध में इस सम्बन्ध में सन्देह रहता है कि वह सत्य है या मिथ्या। अतः व्यभिचार अधिक स्पष्ट दुष्ट हेतु है। असिद्ध का दोष उतनी सरलता से नहीं पकड़ा जा सकता। बहुत स्थानों पर हमें असिद्ध का आभास तो हो जाता है किन्तु वहां हम उपाधि नहीं खोज पाते।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सोपाधिकं जानने के लिये उपाधि का जानना आवश्यक है। उदयन ने उपाधि का अर्थ दिया है—उप समीपवर्तिनि आदधाति संक्रामयति स्वीयं धर्ममित्युपाधिः। अर्थात् जो अपने गुणों को अपने निकटवर्ती पदार्थ में संक्रामित कर दे। जैसे जपाकुसुम स्फटिक में अपनी लालिमा को प्रतिबिंबित कर देता है यद्यपि स्फटिक वस्तुतः लाल नहीं होता। तो यह कुसुम उपाधि हुआ। इस प्रकार उपाधि परिस्थिति या शर्त है जोकि किसी पदार्थ को थोड़ी देर के लिए हमें किसी और रूप में दिखला देती है। जैसे धुआँ साधारणतः तो अग्नि से ही उत्पन्न होने वाला मालूम होता है, किन्तु इसके उत्पादन का वास्तविक कारण गीला ईंधन है। अतः गीला ईंधन उपाधि हुआ। किन्तु यह नियम नहीं है कि जहाँ अग्नि हो वहां गीला ईंधन हो ही। उदाहरणतः प्रतप्त लोहे के गोले में गीला ईंधन नहीं होता। दीपिका में चार प्रकार की उपाधि हैं—(१) जो साध्य के साथ सदा रहती हैं (२) जो पक्षधर्मावच्छिन्न साध्य के साथ केवल रहती हैं (३) जो साधनावच्छिन्न साध्य के साथ रहती हैं (४) जो उदासीनधर्मावच्छिन्न साध्य के साथ रहती हैं। गीले ईंधन का संयोग प्रथम प्रकार की उपाधि है क्योंकि जहां साध्य धुआँ होगा वहाँ गीला ईंधन जरूर होगा। दूसरे प्रकार की उपाधि का उदाहरण है—वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात्। यहाँ उद्भूत रूपवत्त्व होने पर ही प्रत्यक्ष हो सकता है किन्तु मानस प्रत्यक्ष में यह उद्भूत रूपवत्त्व नहीं होने पर भी प्रत्यक्षत्व होता है। अतः उद्भूत रूपवत्त्व केवल बाह्य पदार्थ सम्बन्धी प्रत्यक्ष के लिये ही आवश्यक है। इस प्रकार उद्भूत रूपवत्त्व एक उपाधि है जोकि केवल बाह्य द्रव्य के प्रत्यक्ष के लिये ही आवश्यक होती है और यह बहिर्द्रव्य-प्रत्यक्षत्व पक्ष, वायु, में रहता है।

तीसरा भेद थोड़ा जटिल है। इसका उदाहरण है—ध्वंसो विनाशी जन्यत्वात् यहाँ भावत्व उपाधि है क्योंकि 'यद्यज्जन्यं तत्तद्विनाशि यह व्याप्ति भाव पदार्थों के बारे में ही सत्य है, और इसके साथ 'भावत्वे सति' की शर्त है। जो पदार्थ अनित्य हो उसके लिए भावत्व की शर्त जरूरी है। यह वहीं है जहाँ कि पदार्थ जन्य है। क्योंकि प्रागभाव भाव वस्तु नहीं है किन्तु अजन्य और अनित्य है। अतः भावत्व जन्य पदार्थों के अनित्यत्व की ही उपाधि है, अजन्य पदार्थों के अनित्यत्व की नहीं। किन्तु ऊपर के उदाहरण में जन्यत्व साधन है और अनित्यत्व साध्य है। इस प्रकार भावत्व साधनावच्छिन्नसाध्य व्यापक है। इसी प्रकार गर्भस्थो मित्रातनयः श्यामः, मित्रातनयत्वात्, मित्रा-तनयवत् में शाकपाकजत्व उपाधि है। क्योंकि श्याम वर्ण पुत्र वही हैं जिनके

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

गर्भ में होने पर मित्रा ने वनस्पति खाई हैं, दूध इत्यादि नहीं। मित्रा के दूसरे पुत्र जिन्हें मित्रा ने दूध इत्यादि का भोजन करते हुए जन्म दिया, काले नहीं हैं।

'प्रागभावो विनाशी प्रमेयत्वात्' चौथी प्रकार की उपाधि का उदाहरण है। यहां भावत्व उपाधि है क्योंकि वही प्रमेय पदार्थ जो भाव रूप हैं, विनाशी हैं। किन्तु भावत्व अनित्यत्व की उपाधि है और वह भी वहीं जहां पदार्थ जन्य हों अर्थात् यह जन्यत्वावच्छिन्नानित्यत्व की उपाधि है। यहाँ जन्यत्व न साधन है, न पक्षधर्म प्रत्युत एक उदासीन धर्म है।[1]

यस्य साध्याभावः प्रमाणान्तरेण निश्चितः स बाधितः। यथा-'वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वात्' इति। अत्रानुष्णत्वं साध्यं, तदभाव उष्णत्वं स्पार्शनप्रत्यक्षेण गृह्यत इति बाधितत्वम्॥

जिस हेतु के साध्य का अभाव प्रमाणान्तर से निश्चित हो वह हेतु बाधित है। जैसे वह्नि अनुष्ण है द्रव्यत्व के कारण। यहां साध्य है अनुष्णत्व उसका अभाव उष्णत्व स्पर्श प्रमाण से ही सिद्ध है अतः यह बाधित हुआ

(त. दी.)—बाधितस्य लक्षणमाह—यस्येति। अत्र बाधस्य ग्राह्याभावनिश्चयत्वेन, सत्प्रतिपक्षस्य विरोधिज्ञानसामग्रीत्वेन साक्षादनुमितिप्रतिबन्धकत्वम्। इतरेषां तु परामर्शप्रतिबन्धकत्वम्। तत्रापि साधारणस्याव्यभिचाराभावतया, विरुद्धस्य सामानाधिकरण्याभावतया, व्यापकत्वासिद्धस्य विशिष्टव्याप्त्यभावतया-ऽसाधारणानुपसंहारिणोर्व्याप्तिसंशयाधायकत्वेन च व्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धकत्वम्। आश्रयासिद्धस्वरूपासिद्धयोः पक्षधर्मताज्ञानप्रतिबन्धकत्वम्। उपाधिस्तु व्यभिचारज्ञानद्वारा व्याप्तिज्ञानप्रतिबन्धकः। सिद्धसाधनं तु पक्षताविघटतया आश्रयासिद्धेऽन्तर्भवतीति प्राञ्चः। निग्रहस्थानान्तरमिति नवीनाः।

बाधित

बाधित हेत्वाभास वहां होता है जहां साध्याभाव किसी अन्य प्रमाण से निश्चित हो जाये। यहाँ वह प्रमाणान्तर, जिससे साध्याभाव निश्चित हो,

---

१. विस्तार के लिए देखिए न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, कारिका १३८-१३९ पर

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

साध्य के साधक प्रमाण से बलवत्तर होना चाहिये, क्योंकि यदि दोनों प्रमाण तुल्यबल होंगे तो सत्प्रतिपक्ष होगा बाधित नहीं। प्राचीन नैयायिकों के अनुसार प्रमाणान्तर से जो साध्याभाव का ज्ञान हो, वह प्रमात्मक होना चाहिये, किन्तु नव्य नैयायिकों के अनुसार यह आवश्यक नहीं है।

'कपिसंयोगवानयं वृक्षः'—यहां कपिसंयोग अव्याप्यवृत्ति धर्म है, अर्थात् वृक्ष के एक भाग में ही कपिसयोग है पूर्णवृक्ष में नहीं, अतः यदि यहां वृक्ष के किसी अन्य भाग में कपिसयोगाभाव भी किसी प्रमाणान्तर से सिद्ध हो जाये, तो भी बाधित दोष नहीं होगा। बाधित तभी होगा जब कि कपिसंयोगाभाव पूर्ण वृक्ष में सिद्ध हो। इसीलिये बाधित का पूर्ण लक्षण 'पक्षनिष्ठानवच्छिन्न-साध्याभाववान्' है।

उपसंहार

यहाँ दीपिकाकार ने यह बताया है कि कौन-कौन सा हेत्वाभास कौन-कौन सा दोष उत्पन्न करता है। बाधित तो साध्याभाव का निश्चय कराने के कारण तथा सत्प्रतिपक्ष विरोधी ज्ञान कराने के कारण अनुमिति में साक्षात् प्रतिबन्धक है। शेष हेत्वाभास परामर्श में प्रतिबन्धक हैं। इनमें भी साधारण, विरुद्ध, तथा व्यापकत्वासिद्ध व्याप्तिज्ञान में प्रतिबन्धक हैं। आश्रयासिद्ध तथा स्वरूपासिद्ध पक्षधर्मता ज्ञान में प्रतिबन्धक हैं। उपाधि भी व्याप्तिज्ञान में ही प्रतिबन्धक है।

उपमितिकरणमुपमानम्। संज्ञासंज्ञिसंबन्धज्ञानमुपमितिः। तत्करणं सादृश्यज्ञानम्। अतिदेशवाक्यार्थस्मरणमवान्तरव्यापारः। तथा हि—कश्चिद् गवयशब्दार्थमजानन् कुतश्चिदारण्यकपुरुषात् 'गोसदृशो गवयः' इति श्रुत्वा, वनं गतो वाक्यार्थं स्मरन् गोसदृशं पिण्डं पश्यति। तदनन्तरम् 'असौ गवयशब्दवाच्यः' इत्युपमितिरुत्पद्यते॥

उपमिति का करण उपमान कहलाता है (पद और पदार्थ का) वाच्यवाचक भावरूप सम्बन्ध का ज्ञान उपमिति है। उस (उपमिति का) करण सादृश्य ज्ञान है। इसका अवान्तर व्यापार प्रामाणिक व्यक्ति के कहे हुए वाक्य के अर्थ का स्मरण है। जैसे कोई गवय शब्द के अर्थ को नहीं जानता और किसी वनेचर से 'गवय गौ के समान होता है' ऐसा सुनकर वन में जाता है और वहां उस वाक्य का अर्थ स्मरण करते हुए गौ के सदृश शरीर पिण्ड को देखता है इसके अनन्तर यह गवय का वाच्य है यह उपमिति उत्पन्न होती है।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(त.दी.)—उपमानं लक्षयति—उपमितीति ॥

उपमान

प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के अनन्तर उपमान का स्थान आता है। उपमान समानता के आधार पर जो ज्ञान होता है उसका तात्कालिक कारण है। उपमिति का अर्थ है संज्ञा और संज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान। इस ज्ञान का कारण गो और गवय जैसे पदार्थों की समानता है। अतः यह उपमान है। उपमिति की प्रक्रिया यह है कि जिस व्यक्ति ने कभी गवय नहीं देखा वह किसी प्रामाणिक वनवासी द्वारा यह सुनने पर कि गवय गाय के समान होता है, वन में जाता है। वहाँ वह जिस पशु को देखता है वह गौ के समान है। उस समानता को देखकर वह अतिदेशवाक्य अर्थात् वनवासी द्वारा कहे गये पुराने वाक्य को स्मरण करता है। उस स्मरण को वर्तमान प्रत्यक्ष से मिलाने पर वह निर्णय करता है कि यह पशु गवय है। यह ज्ञान कि यह गवय है, उपमिति है। क्योंकि यह गवय-संज्ञा और गवय-पद-वाच्य संज्ञी का सम्बन्ध बतलाता है। अर्थात् गवय और गवय पदार्थ में वाच्य-वाचक-भाव है। यही संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध है जिसे उपमिति भी कहते हैं। उपमिति के लिए अतिदेश वाक्य के अर्थ का ज्ञान और गऊ इत्यादि के समान पशु का प्रत्यक्ष दोनों अनिवार्य हैं।

उपमान के लिए ये दोनों तो आवश्यक हैं किन्तु इन दोनों में भी यह प्रश्न बना रहता है कि करण कौन है और सहकारी कौन ? अर्थात् किस कारण से तो उपमिति ज्ञान अनिवार्य रूप से होता है और कौन-सा कारण सहायक बनता है। इस सम्बन्ध में नव्यनैयायिकों का दृष्टिकोण यह है कि अतिदेश वाक्यार्थ ज्ञान सहकारी है और सादृश्य ज्ञान कारण। प्राचीन नैयायिकों का दृष्टिकोण ठीक इसके विपरीत है। इस विषय में सभी सहमत हैं कि अतिदेशवाक्यार्थ व्यापार है। अन्नम्भट्ट नव्यनैयायिकों को मानते हैं। उन्होंने उपमान को सादृश्य ज्ञान माना है, अर्थात् उनके अनुसार गवयनिष्ठ-गोसादृश्यज्ञान उपमिति का करण है। किन्तु वे उपमिति को गवयो गवयपदवाच्यः मानते हैं असौ गवयपदवाच्यः नहीं। इन दोनों में यह भेद है कि प्रथम ज्ञान में तो एक विशेष गवय का ही ज्ञान होता है, जबकि दूसरे

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ज्ञान में गवय जाति का अनुमान होता है। विश्वनाथ ने इस सम्बन्ध में नव्यनैयायिकों का दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है—न त्वयं गवयपदवाच्य इत्युपमितिः। गवयान्तरे शक्तिग्रहाभावप्रसङ्गात्।[1] यद्यपि यहां उपमिति को सादृश्य ज्ञान माना है किन्तु जैसा सिद्धान्तचन्द्रोदय में कहा है, उपमान वस्तुतः तीन प्रकार से हो सकता है—(१) सादृश्य द्वारा (२) वैधर्म्य द्वारा और (३) असाधारण धर्म द्वारा। गवय गो के सदृश है—यह प्रथम प्रकार का उपमान है। उष्ट्रो नाश्वादिवत्समानपृष्ठग्रीवशरीरः—यह दूसरे प्रकार का उपमान है। नासिकालसदेकशृङ्गः खड्गमृगः—यह तीसरे प्रकार का उपमान है। अतः यहां सादृश्य का अर्थ उपलक्षण से लेना चाहिए।

उपमान और शब्द को अन्नम्भट्ट ने गौतम के मत का अनुसरण करते हुए स्वतन्त्र प्रमाण माना है। वैशेषिक[2] और सांख्य[3] ऐसा नहीं मानते। वे उपमान को अनुमान का ही एक प्रकार मानते हैं। यह अनुमान इस प्रकार होगा—अयं पिण्डो गवयपदवाच्यः। गोसादृश्यात्। यत्र यत्र गोसादृश्यं तत्र गवयपदवाच्यत्वम्। किन्तु उपमिति ज्ञान के बाद 'अनुमिनोमि' ऐसा अनुव्यवसाय न होकर 'उपमिनोमि' ऐसा अनुव्यवसाय होता है। अतः उपमान को प्रमाणान्तर ही मानना उचित है। और फिर उपमान संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध का ज्ञान कराने के कारण भी स्वतन्त्र ही प्रमाण है।[4]

आप्तवाक्यं शब्दः। आप्तस्तु यथार्थवक्ता। वाक्यं पदसमूहः। यथा 'गामानय' इति। शक्तं पदम्। अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरसंकेतः शक्तिः॥

शब्द (प्रमाण) आप्त व्यक्ति का वाक्य है। आप्त यथार्थवक्ता को कहते हैं। वाक्य पदसमूह कहलाता है, जैसे 'गाय लाओ'। शक्ति युक्त पद कहलाते हैं। 'इस पद से यह अर्थ जानना चाहिए'—यह जो ईश्वर का संकेत है वह शक्ति है।

---

१. न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, कारिका ८० पर (पृ० १९२)
२. प्रस्तुत प्रसंग पर नीलकण्ठी टीका.
३. सांख्यतत्त्वकौमुदी, कारिका ५ (पृ ३०)
४. न्यायकुसुमांजलि, ३.१० (पृ० ३७७)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(त.दी.)—शब्दं लक्षयति—आप्तेति । वाक्यलक्षणमाह—वाक्यमिति । पदलक्षणमाह—शक्तमिति । अर्थस्मृत्यनुकूलः पदपदार्थसंबन्धः शक्तिः । सा च पदार्थान्तरमिति मीमांसकाः । तन्निरासार्थमाह—अस्मादिति । डित्थादीनामिव घटादीनामपि संकेत एव शक्तिः, न तु पदार्थान्तरमित्यर्थः ॥ गवादिशब्दानां जातावेव शक्तिः, विशेषणतया जातेः प्रथममुपस्थितत्वात्; व्यक्तिलाभस्त्वाक्षेपादिना इति केचित्—तन्न; 'गामानय' इत्यादौ वृद्धव्यवहारात्सर्वत्रानयनादेर्व्यक्तावेव संभवेन जातिविशिष्टव्यक्तावेव शक्तिकल्पनात् । शक्तिग्रहश्च वृद्धव्यवहारेण । व्युत्पित्सुर्बालो 'गामानय' इत्युत्तमवृद्धवाक्यश्रवणान्तरं मध्यमवृद्धस्य प्रवृत्तिमुपलभ्य गवानयनं च दृष्ट्वा मध्यमवृद्धप्रवृत्तिजनकज्ञानस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां वाक्यजन्यत्वं निश्चित्य 'अश्वमानय, गां बधान' इति वाक्यान्तरे ,आवापोद्वापाभ्यां 'गोपदस्य गोत्वविशिष्टे शक्तिः 'अश्व' शब्दस्याश्वत्वविशिष्टे शक्तिरिति व्युत्पद्यते । ननु सर्वत्र कार्यपरत्वाद् व्यवहारस्य कार्यवाक्य एव व्युत्पत्तिर्न सिद्धे इति चेत्—न; 'काञ्च्यां त्रिभुवनतिलको भूपतिः' इत्यादौ सिद्धेऽपि व्यवहारात्, 'विकसितपद्मे मधूनि पिबति मधुकरः' इत्यादौ प्रसिद्धपदसमभिव्यवहारात्सिद्धेऽपि मधुकरादिपदे व्युत्पत्तिदर्शनाच्च ॥ लक्षणापि शब्दवृत्तिः । शक्यसंबंधो लक्षणा । 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र 'गङ्गा' पदवाच्यप्रवाहसंबन्धादेव तीरोपस्थितौ तीरेऽपि शक्तिर्न कल्प्यते । सैन्धवादौ लवणाश्वयोः परस्परसंबन्धाभावान्नानाशक्तिकल्पनम् ॥ लक्षणा त्रिविधा—जहल्लक्षणाऽजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा चेति । यत्र वाच्यार्थस्यान्वयाभावस्तत्र जहती । यथा—मञ्चाः क्रोशन्तीति । यत्र वाच्यार्थस्यान्वयस्तत्राजहती । यथा—छत्रिणो गच्छन्तीति । यत्र वाच्यैकदेशत्यागेनैकदेशान्वयस्तत्र जहदजहती । यथा—तत्त्वमसीति । गौण्यपि लक्षणैव लक्ष्यमाणगुणसंबन्धरूपा । यथा—अग्निर्माणवक इति ॥ व्यञ्जनापि शक्तिलक्षणान्तर्भूता । अर्थशक्तिमूला चानुमानादिनान्यथासिद्धा ॥

तात्पर्यानुपपत्तिर्लक्षणाबीजम् । तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वं तात्पर्यम् । तात्पर्यज्ञानं च वाक्यार्थज्ञाने हेतुः । नानार्थानुरोधात्तु प्रकरणादिकं तात्पर्यग्राहकम् । 'द्वारम्' इत्यादौ 'पिधेहि' इति शब्दाध्याहारः । नन्वर्थज्ञानार्थत्वाच्छब्दस्यार्थमविज्ञाय शब्दाध्याहारासंभवादर्थाध्याहार एव युक्त इति चेत्,—न; पदविशेषजन्यपदार्थोपस्थितेः शाब्दज्ञानहेतुत्वात् । अन्यथा 'घटः कर्मत्वमानयनं कृतिः' इत्यत्रापि शाब्दज्ञानप्रसङ्गात् ॥

पङ्कजादिपदेषु योगरूढिः । अवयवशक्तियोगः । समुदायशक्तती रूढिः । नियत-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पदत्वज्ञानार्थं समुदायशक्तिः। अन्यथा कुमुदेऽपि प्रयोगप्रसङ्गः। 'इतरान्विते शक्तिः' इति प्राभाकराः। 'अन्वयस्य वाक्यार्थतया भानसंभवादन्वयांशेऽपि शक्तिर्न कल्पनीया' इति गौतमीयाः॥

शब्द

चौथा और अन्तिम प्रमाण शब्दप्रमाण है। शब्दप्रमाण का अर्थ है आप्तवाक्य। आप्तवाक्य द्वारा हमें पदार्थ का यथार्थ ज्ञान होता है। जिस शब्द द्वारा यह यथार्थ ज्ञान हो वही शब्द प्रमाण है और यथार्थ वक्ता ही आप्त है। वाक्यविवृतिकार का कहना है कि जो शब्द द्वारा वह शाब्दिक ज्ञान करवाये जो वास्तव में पदार्थ का स्वभाव हो वह आप्त है—प्रकृतवाक्यार्थविषयकयथार्थ-शाब्दबोधविषयकतात्पर्यवान्। आप्त और यथार्थ की ये परिभाषाएं इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं कि इनमें वक्ता पर इतना बल नहीं दिया गया जितना बल शब्द के पदार्थ के साथ तालमेल पर दिया गया है। आप्त की परिभाषा देने के बाद अन्नम्भट्ट ने वाक्य को शब्दसमूह के रूप में परिभाषित किया है और शब्द उसे कहा है कि जिसमें अर्थ बतलाने की शक्ति हो।

ये दोनों परिभाषाएं महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि यहां नैयायिकों में और मीमांसकों में मतभेद है। नैयायिकों का मत है—पदानामन्वय एव शक्तिः। जबकि मीमांसकों का मत है—पदानामन्वयविशिष्टे शक्तिः। मीमांसकों का सिद्धान्त और वैयाकरणों का सिद्धान्त एक ही है। दोनों के अनुसार वाक्य में क्रिया प्रधान होती है। क्रिया ही शब्दों के परस्पर सम्बद्ध होने में कारण होती है। यदि कोई केवल देवदत्तः ग्रामम् कहे, तो ये शब्द परस्पर सम्बद्ध नहीं होते। किन्तु गच्छति कहते ही इनमें परस्पर सम्बन्ध जुड़ जाता है। अर्थात् देवदत्त का ग्राम के प्रति गमन। यहाँ गमन की क्रिया विशेष्य है। देवदत्त और ग्राम उसके विशेषण हैं। गच्छति का अर्थ है गमन। देवदत्त कहने से वह क्रिया एक विशेष व्यक्ति की है, यह सीमा बन जाती है। ग्राम कहने से वह क्रिया एक विशेष स्थान के प्रति है, यह सीमा बन जाती है। वाक्य का पूरा अर्थ होता है—देवदत्तकर्तृक—ग्रामकर्मक—गमनक्रिया। स्पष्ट है कि यहां विशेष्य क्रिया ही है। वाक्य के सब शब्द अन्योन्याश्रित होते हैं। किन्तु वे तब तक कोई अर्थ नहीं देते, जब तक क्रिया न आये। घट का कोई अर्थ नहीं है। किन्तु जब हम उसके साथ आनय लगा देते हैं, तो घटम् का अर्थ आनयनक्रियानिरूपितकर्मव्यक्ति हो जाता है। इस प्रकार प्रत्येक शब्द क्रिया के साथ जुड़ कर ही कुछ अर्थ

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

देता है। अन्नम्भट्ट ने दीपिका के अन्त में इसे ही इतरा (क्रिया) न्विते शक्तिरिति प्राभाकराः कहकर स्पष्ट किया है। दीपिकाकार ने यह भी बतलाया है कि नैयायिक इस प्रकार वाक्य में जुड़ने से पहले शब्दों का अर्थ जानने की कोई आवश्यकता नहीं मानते। इस प्रकार नैयायिकों के मत में शक्ति अन्वय में होती है, अन्वित पदों में नहीं। जब वे पद जो आकांक्षा, संनिधि और योग्यता से रहित होते हैं वाक्य में अन्वित होते हैं तभी वे शाब्दबोध कराते हैं। वाक्य शक्त पदों का संमूह है। और ये यदि ऐसे शक्त पद एकसाथ हों तो क्रियावाचक शब्द के न होने पर भी अर्थबोध होता है। उदाहरणतः काञ्च्यां त्रिभुवनतिलको भूपतिः। यहां क्रिया नहीं है किन्तु अर्थ का बोध हो रहा है। इसी प्रकार त्रयः कालाः कहने पर भी बिना क्रिया के ही अर्थ का बोध हो जाता है। वस्तुतः यहां 'सन्ति' या 'ज्ञायन्ते' क्रिया लगाई ही नहीं जा सकती। क्योंकि 'सन्ति' भूत और भविष्य के बारे में कहा ही नहीं जा सकता और मनुष्य तीनों कालों को जान भी नहीं सकते। अतः त्रयः कालाः में कोई क्रियान्वय नहीं होता। मीमांसक और वैयाकरणों के अनुसार चैत्रस्तण्डुलं पचति का अर्थ होगा—चैत्रकर्तृक-तण्डुलकर्मक-पाकक्रिया। अर्थात् क्रिया विशेष्य होगी शेष विशेषण होगा। किन्तु ऊपर जैसे उदाहरणों में क्रिया न होने से ऐसा नहीं हो सकता। वहाँ वाक्य प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यक होगा अर्थात् ऊपर के वाक्य का अर्थ होगा—चैत्रनिष्ठकृतिजन्यपाकजन्यफलशाली तण्डुलः। इसका फल यह होता है कि मीमांसक केवल क्रियाबोधक वाक्य को ही वाक्य मानते हैं जबकि सिद्धार्थबोधक वाक्य को वे अर्थवाद कहते हैं, जिसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और जो क्रियाबोधक वाक्य का अंग होकर ही सार्थक होता है। नैयायिक दोनों प्रकार के वाक्यों की स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं। अतः परिभाषा में वाक्य को पदसमूह कहा है जिसकी वाक्यविवृति में इस प्रकार व्याख्या की है—पदसमूहादेव शाब्दबोधो नैकस्मादिति भावः। अर्थात् केवल क्रियाबोधक पद ही शाब्दबोध नहीं कराते प्रत्युत सभी पद शाब्दबोध कराते हैं।

वाक्य में कर्त्ता, कर्म और क्रिया तीनों रहते हैं। क्रिया कर्तृनिष्ठ होती है और कर्त्ता और कर्म में सम्बन्ध बतलाती हैं। उदाहरणतः देवदत्तः गच्छति से गमनशील देवदत्त का बोध होता है।

पद का लक्षण दिया है शक्ति। किन्तु शक्ति का अर्थ है वह ईश्वरेच्छा जिसके अनुसार एक शब्दविशेष का एक अर्थविशेष होता है। इसके अनु-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सार भाषा का उद्भव ईश्वर से हुआ । यह प्राचीन नैयायिकों का मत है। नव्यनैयायिक इच्छामात्र को शक्ति कहते हैं। अर्थात् किसी शब्द में मनुष्य की इच्छा से ही शक्ति उत्पन्न हो सकती है। प्राचीन नैयायिक भी इस प्रकार के शब्दों को मानते हैं किन्तु वे इन्हें पारिभाषिक या रूढ़ शब्द कहते हैं। वास्तविक अर्थों में तो वे ही पद शक्त हैं जिनका अर्थ ईश्वरेच्छा से निर्धारित हुआ है। किन्तु वस्तुतः पारिभाषिक या इतर शब्दों में कोई मौलिक भेद तो है नहीं। जिस प्रकार घट से घट का बोध होता है उसी प्रकार देवदत्त भी एक व्यक्ति का बोध कराता है। अतः बाद के लेखकों ने पारिभाषिक शब्दों को भी ईश्वर संकेत से ही शाब्दबोध कराने वाला मान लिया है। तर्कप्रकाश का कहना है कि वेद १२वें दिन नामकरण संस्कार का आदेश देता है और पिता उस श्रुति प्रमाण से बालक का नामकरण करता है। अतः यह भी ईश्वरेच्छा का ही फल है[1]। किन्तु यह कुशकाशावलम्बन हुआ। अर्थात् एक निर्बल बात का समर्थन करने के लिये दूसरे निर्बल तर्क का सहारा लेना हुआ। मनुष्य तो नये-नये पदार्थों के लिए नए-नए शब्द घड़ता ही रहता है। अतः सभी शब्द ईश्वरेच्छा द्वारा शाब्दबोध कराते हैं, यह नहीं कहा जा सकता। अतः अन्नम्भ ट्ट ने दीपिका में शक्ति का लक्षण अर्थस्मृत्यनुकूलः पदपदार्थसंबन्धः शक्तिः माना है। इसका अर्थ है कि शक्ति, पद और पदार्थों में वह सम्बन्ध है जोकि उस शब्द का उच्चारण करने पर हमें उस पदार्थ का बोध करा देती है। नीलकंठ का कहना है कि यह लक्षण जानबूझकर ऐसा बनाया गया है कि मीमांसक और नैयायिक दोनों के मतों से मेल खा सके। मीमांसक शक्ति को पृथक् पदार्थ मानते हैं और नैयायिक उसे केवल इच्छा मानते है। मीमांसकों का कहना है कि शक्ति द्रव्य नहीं है क्योंकि उसमें गुण रहते हैं। यह गुण और कर्मों से भी पृथक् है और सामान्य आदि में रहती है। अतः यह पृथक् पदार्थ मानी जानी चाहिए। नैयायिक इसका खण्डन करते है। उनका कहना है कि पकज, कुमुद, इत्यादि पृथक्-पृथक् शब्द हैं किन्तु उनका अर्थ एक ही है। यदि उन पृथक्-पृथक् शब्दों की पृथक्-पृथक् शक्ति को पृथक-पृथक् पदार्थ मान लेंगे तो गौरव होगा। अतः शक्ति शब्द की शक्ति है जोकि उस शब्द में मनुष्य या ईश्वर की इच्छा से होती हैं।

किन्तु तब भी यह प्रश्न बना रहता है कि यह संकेत रूप शक्ति कहां

---

१. अथल्ये और बोडास, पृ० ३३३ पर उद्धृत

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रहती है। अर्थात् घट से घट का ज्ञान होता है या घटत्व का या दोनों का। यह महत्त्वपूर्ण है। इस विषय में अनेक मत हैं किन्तु उनमें से चार प्रधान हैं—(१) केवल जाति (२) केवल व्यक्ति (३) जाति विशिष्ट व्यक्ति और (४) अपोह। प्रथम मत मीमांसकों का है, दूसरा नव्यनैयायिकों का, तीसरा प्राचीन नैयायिकों का और चौथा बौद्धों का।[1] ये चारों मत एक ही शब्द की भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या करते हैं। उदाहरणतः जब घटमानय कहा जाता है तो वक्ता घट चाहता है घटत्व नहीं। अतः घट के द्वारा घट का बोध होना चाहिए, घटत्व का नहीं। नव्यनैयायिकों के अनुसार घट घट व्यक्ति को बतलाता है। अर्थ क्रियाकारित्व व्यक्ति में होता है, अतः संकेत व्यक्ति में ही होना चाहिए। किन्तु इस मत के मानने में कुछ आपत्तियाँ हैं। यदि घट का अर्थ घट व्यक्ति है तो जितने घट हैं उतने ही घट शब्दों में पृथक्-पृथक् संकेत मानना होगा। अतः घट शब्द का अर्थ है—कम्बुग्रीवादिमद्वस्तु जिससे किसी भी घट को हम ले सकते हैं। जिसका भी उस प्रकार का आकार है, वह घट कहलाएगा। दूसरी आपत्ति यह है कि घट केवल व्यक्ति को ही यदि बतलाकर रह जाए तो फिर वह यह कैसे बतलाएगा कि अमुक घट घटत्व जाति से सम्बद्ध है। इसके अतिरिक्त घट घट व्यक्ति को पट आदि से पृथक् भी करता है। इस प्रकार घट कहने पर तीन बोध होते हैं। घट व्यक्ति का, वह घट घटत्व से सम्बद्ध है—इसका और वह पट वृक्ष आदि से पृथक् है—इसका। अर्थात् वह व्यक्ति जाति और वैशिष्ट्य तीनों को बतलाता है—जातौ व्यक्तौ वैशिष्ट्ये च पदानां शक्तिः। प्राचीन नैयायिकों का यही मत है और अन्नम्भट्ट ने इसी का अनुसरण किया है।

नव्यनैयायिक यह मानते हैं कि पद केवल व्यक्ति को बतलाता है और उसकी विशेषताएं तो लक्षणा से आ जाती हैं। मीमांसकों के अनुसार पद केवल जाति को बतलाता है। इस केवल व्यक्ति और केवल जाति के मतों के बीच नव्यनैयायिकों का जातिविशिष्टव्यक्तिवाद है। दीपिका में केवल जातिवाद के खण्डन में यह कहा गया है कि घटमानय इत्यादि में लाने की क्रिया केवल व्यक्ति के सम्बन्ध में ही सम्भव है क्योंकि घटत्व तो लाया नहीं जा सकता। किन्तु मीमांसकों का कहना है कि घट घटत्व को बतलाकर अविनाभाव सम्बन्ध से घट को भी बतला देता है। यह जातावेव

---

१. झलकीकरटीका, काव्यप्रकाश, सूत्र १० (पृ० ३८)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शक्तिव्यक्तिलाभस्त्वाक्षेपात् का मत मीमांसक, वैयाकरण और काव्यशास्त्री मानते हैं किन्तु अन्नम्भट्ट नहीं।

ऊपर जो हमने चौथा मत अपोह का बतलाया है वह बौद्धों को मान्य है। अर्थात् जब हम घट कहते हैं तो वह शेष सब पदार्थों का निषेध करके घट को बतलाता है। अर्थात् जब हम घट कहते हैं तो न वह घट को बतला सकता है न घटत्व को। जाति तो केवल हमारे मन की कल्पना है। जब हम घट कहते हैं तो हमें केवल यह ज्ञान होता है कि वह पट या वृक्ष नहीं है। इस प्रकार हमें पदार्थों का निषेधपरक ज्ञान ही होता है। इसलिए पदों का अर्थ भी निषेधपरक ही होता है। वेदान्तियों का कहना है कि ऊपर जो भी मत बतलाये हैं उन सभी मे आंशिक सत्य है। उनका कहना है कि पद, जाति और व्यक्ति दोनों को बतलाता है। वह जाति को अभिधा द्वारा बतलाता है और व्यक्ति को लक्षणा द्वारा। वेदान्त परिभाषा में कहा गया है—गवादिपदानां व्यक्तौ शक्तिः स्वरूपसती न तु ज्ञाता। जातौ तु सा ज्ञाता हेतुः[1] अर्थात् शब्द का प्रधान अर्थ तो जाति ही होता है किन्तु जाति से सम्बद्ध होने के कारण वह व्यक्ति को भी बतलाता है। अर्थात् हस्ती एक सूंड वाले प्राणी का सामान्य ज्ञान करवाता है। किन्तु यह ज्ञान तभी सम्भव होता है जबकि सूंड वाला प्राणी वस्तुतः देखने में आता है।

यहां यह विचारणीय है कि मिल जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने डिनोटेशन और कोनोटेशन का जो भेद बतलाया है उसकी ओर भारतीय विचारकों का ध्यान नहीं गया। केवल व्यक्तिवाद में शब्द केवल डिनोटेटिव और केवल जातिवाद में केवल कोनोटेटिव मान लिए जाते हैं। जातिविशिष्टवाद में वे दोनों माने जाते हैं। अपोह में केवल वे भेद को कोनोट करते हैं।

पद शक्त को कहा जाता है। किन्तु पद में केवल शक्ति ही नहीं होती, लक्षणा भी होती है। लक्षणा और अभिधा के साथ जो शब्द का सम्बन्ध है वह वृत्ति कहलाता है। अभिधा शब्द के साथ सदा लगा रहने वाला अर्थ है; लक्षणा अभिधा पर निर्भर करने वाला शब्द के प्रासंगिक प्रयोग से प्राप्त होने वाला अर्थ है। अतः जब हम पद को शक्त कहते हैं तो लाक्षणिक पदों में अव्याप्ति नहीं होती क्योंकि लाक्षणिक पद भी शक्त तो होते ही हैं। अभिधा भी तीन प्रकार से शब्दों के अर्थ को बताती है। पाचक जैसे शब्द यौगिक हैं और ये अपना अर्थ धातु और प्रत्यय द्वारा बतला देते हैं। घट जैसे शब्द

---

१. वेदान्तपरिभाषा, पृ० १६४

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रूढ़ हैं क्योंकि इनकी धातुएं या तो हमें ज्ञात नहीं हैं और यदि ज्ञात हैं भी तो उस ओर हमारा कोई ध्यान नहीं जाता। पंकज जैसे शब्द जिनका धात्वर्थ स्पष्ट है किन्तु जो अपने सम्पूर्ण यौगिक अर्थ को बतलाते नहीं हैं, योग-रूढ़ कहलाते हैं। पंकज का शब्दार्थ तो कीचड़ में उत्पन्न होने वाला है किन्तु यह शब्द केवल कमल का ही बोध कराता है। मछली इत्यादि का नहीं। कुछ लोग यौगिक रूढ नाम के चौथे प्रकार को भी मानते हैं, जहां यह विकल्प रहता है कि चाहे हम उस शब्द का अर्थ रूढि से लें चाहे योग से जैसे उद्भिज।

ये सभी प्रकार के शब्द अपना सांकेतिक अर्थ देने के लिए वृद्ध-व्यवहार की अपेक्षा रखते हैं। वैसे किसी शब्द का अर्थ आठ साधनों से जाना जा सकता है—

शक्तिग्रहो व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सांनिध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

सर्वप्रथम शब्द का अर्थ व्याकरण से जाना जा सकता है। दूसरे सादृश्य द्वारा, तीसरे कोश द्वारा, चौथे आप्तवाक्य द्वारा, पांचवें वृद्ध व्यवहार द्वारा, छठे प्रसंग द्वारा, सातवें व्याख्या द्वारा, आठवें सान्निध्य द्वारा। कुछ लोग इसमें हावों का सकेत इत्यादि भी नवां कारण मानते हैं।

दूसरी वृत्ति लक्षणा है जिसका अर्थ है—स्वशक्य सम्बन्ध अर्थात् अपने शक्य अर्थ से सम्बद्ध। जब मुख्यार्थ में बाधा होती है तब इसका प्रयोग होता है। उदाहरणतः गंगायां घोषः। गंगा का अर्थ जल की धारा है और उस पर तो घोष हो नहीं सकता। अतः गंगा का अर्थ धारा से जुड़ा हुआ गंगा का तट है। अन्नम्भट्ट शक्ति के सम्बन्ध में प्राचीनन्याय का अनुसरण करते हैं और लक्षणा के सम्बन्ध में नव्यन्याय का। प्राचीनन्याय के अनुसार लक्षणा के लिए अन्वय की अनुपपत्ति होना आवश्यक है। किन्तु काकेभ्यो दधि रक्ष्यतां अर्थात् कौओं से दही की रक्षा करो, यहां अन्वय में कोई अनुपपत्ति नहीं। किन्तु वक्ता केवल कौओं से ही दही की रक्षा नहीं चाहता, कुत्ते, बिल्ली इत्यादि से भी चाहता है। अतः दीपिका में अन्वय की अनुपपत्ति को लक्षणा का कारण न मानकर तात्पर्य की अनुपपत्ति को लक्षणा का कारण माना है। नव्यनैयायिक लक्षणा के तीन भाग करते हैं—जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था तथा जहदजहत्स्वार्था। जहल्लक्षणा में मुख्यार्थ सर्वथा छोड़ दिया जाता है जैसे—

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मंचाः क्रोशन्ति में मंच अपना अर्थ बिल्कुल नहीं देता, प्रत्युत मंच पर बैठा हुआ व्यक्ति अर्थ होता है। अजहत्स्वार्था में मुख्यार्थ नहीं छूटता जैसे ऊपर जो उदाहरण हमने दिया है वहां केवल कौओं से ही दही की रक्षा तो अभिप्रेत नहीं है, किन्तु कौओं से भी दही की रक्षा अवश्य अभिप्रेत है। जहदजहत्स्वार्था का उदाहरण है—सोऽयं देवदत्तः अथवा तत्त्वमसि। यहां अंशतः मुख्यार्थ बना रहता है और अंशतः छूट भी जाता है। सोऽयं देवदत्तः में सः का अर्थ है—तत्कालिक देवदत्त और अयं का अर्थ है एतत्कालिक देवदत्त। दोनों को एक बतलाने के लिए तत्कालिक और एतत्कालिक विशेषण तो छूट जाएंगे पर देवदत्त विशेष्य बना रहेगा। इसी प्रकार तत्त्वमसि में तत् का अर्थ है—निर्गुणब्रह्म और त्वम् का अर्थ सगुण जीव। यहां निर्गुण और सगुण की विशेषता छोड़ दी जाती है और तब दोनों में तादात्म्य स्थापित होता है। न्यायबोधिनी के अनुसार वेदान्ती एक चौथी प्रकार की लक्षित लक्षणा भी मानते हैं। उदाहरणतः द्विरेफ शब्द का प्रधान अर्थ तो 'भ्रमर' शब्द है किन्तु जिस पदार्थ का यह बोध कराता है वह भौंरा है।

लक्षणा को रूढि और शुद्धा तथा गौणी और प्रयोजनवती प्रकारों में भी बांटा गया है। ऊपर जो हमने उदाहरण दिये हैं वे शुद्धा के हैं। गौणी में लक्षणा का आश्रय इसलिए लिया जाता है कि हमें कुछ प्रयोजन बतलाना होता है जैसे—गंगायां घोषः में घोष की शीतलता और पवित्रता बतलानी अभिप्रेत है। अलंकारशास्त्री ऐसे स्थानों पर व्यजना मानते हैं। वे व्यंजना के ही दो प्रकार मानते हैं—शाब्दी और आर्थी। शाब्दी तो ऊपर के उदाहरण में है और आर्थी का उदाहरण है—

गच्छ गच्छसि चेत्कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान्॥

नैयायिक का कहना है कि शाब्दी व्यंजना तो गौणी लक्षणा के साथ ही होती है। अतः उसे पृथक् मानना आवश्यक नहीं है। दीपिका का कहना है कि आर्थी व्यंजना भी अनुमान द्वारा व्यर्थ हो जाती है। ऊपर के उदाहरण में 'आपके जाने के बाद मैं मर जाऊंगी यह अर्थ अनुमान द्वारा ही निकल आता है, आर्थी व्यजना की आवश्यकता नहीं पड़ती। अतः नैयायिक केवल अभिधा और लक्षणा को ही मानते हैं।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आकाङ्क्षा योग्यता संनिधिश्च वाक्यार्थज्ञानहेतुः । पदस्य पदान्तर-व्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमाकाङ्क्षा । अर्थाबाधो योग्यता । पदानामविलम्बेनोच्चारणं संनिधिः ॥

वाक्य के अर्थ को जानने में आकांक्षा, योग्यता और संनिधि (ये तीन) कारण हैं। एक पद का दूसरे अर्थ के बिना प्रयुक्त होने पर शाब्दबोध करवाने की असमर्थता आकांक्षा है। अर्थ में बाधा का अभाव योग्यता है। पदों का बिना विलम्ब के उच्चारण संनिधि है।

(त. दी.)—आकाङ्क्षेति। आकाङ्क्षादिज्ञानमित्यर्थः। अन्यथाऽऽकाङ्क्षादि-भ्रमाच्छाब्दभ्रमो न स्यात्। आकाङ्क्षां लक्षयति—पदस्येति॥ योग्यतालक्षणमाह—अर्थेति॥ संनिधिलक्षणमाह—पदानामिति। अविलम्बेन पदार्थोपस्थितिः संनिधिः। उच्चारणं तु तदुपयोगितया युक्तम्॥

आकाङ्क्षादिरहितं वाक्यमप्रमाणम्। यथा गौरश्वः पुरुषो हस्तीति न प्रमाणम् आकाङ्क्षाविरहात्। अग्निना सिञ्चेत् इति न प्रमाणम्, योग्यताविरहात्। प्रहरे प्रहरेऽसहोच्चारितानि 'गामानय' इत्यादिपदानि न प्रमाणम्, सांनिध्याभावात्॥

आकांक्षा आदि से रहित, वाक्य अप्रमाण है जैसे 'गौ अश्व पुरुष हाथी' यह प्रमाण नहीं है, क्योंकि इसमें आकांक्षा नहीं है। 'आग से सींचे' यह भी प्रमाण नहीं है क्योंकि इसमें योग्यता नहीं है। एक-एक प्रहर के बाद 'गौ' 'लाओ' इत्यादि पद भी प्रमाण नहीं हैं क्योंकि इनमें सानिध्य नहीं है।

(त. दी.)—गौरश्व इति। 'घटः कर्मत्वम्' इत्यनाकाङ्क्षोदाहरणं द्रष्टव्यम्॥

आकांक्षा, योग्यता और संनिधि

वाक्य शब्दों का समूह है किन्तु 'घटः पटः गोः भित्तिः' जैसे शब्दों के समूह से वाक्य नहीं बनता। वाक्य बनने के लिए उन शब्दों में आकांक्षा, योग्यता और संनिधि तीनों होनी चाहिएं।

आकांक्षा का अर्थ है—अभिधानापर्यवसानम् अर्थात् किसी शब्द के न आने से किसी शब्द का पूर्ण अर्थ न दे पाना। अन्नम्भट्ट कहता है कि पद पूरा अर्थ नहीं दे सकता जब तक कि उसके साथ दूसरा पद न हो। उदाहरणतः

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

'घट' कहने से आकांक्षा बनी रहती है। उस आकांक्षा की पूर्ति 'आनय' कहने पर होती है। 'अन्य पद को जानने की यह इच्छा ही आकांक्षा है। घटमानय में चार अर्थ निहित हैं—घट जिसका अर्थ है घड़ा, अम्प्रत्यय जिसका अर्थ है कर्मत्व, आनी—जिसका अर्थ है लाना और मध्यमपुरुष एकवचन लोट् लकार जिसका अर्थ है—आदेश। इन चारों में से यदि एक भी अनुपस्थित हो तो अर्थ पूर्ण नहीं होता। किन्तु यही भाव घटः कर्मत्वम् आनयनं कृतिः कहकर अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता क्योंकि घटमानय में जो जो अर्थ है वह इसमें नहीं है।

योग्यता का अर्थ है पदार्थों में अविरोध। हम कह सकते हैं कि वह्निना सिञ्चति यहां आकांक्षा तो है किन्तु योग्यता नहीं। क्योंकि वह्नि और सिंचन का परस्पर विरोध है।

संनिधि का अर्थ है दो या दो से अधिक पदों का बिना अन्तराल कहना। वाक्यार्थ अनेक पदों के समूह से बनता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि जब तक हम दूसरे पद को सुनें तब तक पहले पद के अर्थ का संस्कार समाप्त नहीं हो जाना चाहिए। किन्तु यदि लम्बा अंतराल हो जाए, तो पहला संस्कार समाप्त हो जाएगा और इस प्रकार अर्थ अधूरा बना रहेगा। दीपिका का कहना है कि संनिधि का अर्थ शब्दों का निरन्तर बोध है। उसके लिए वास्तविक रूप में शब्द का उच्चारण आवश्यक नहीं है। उदाहरणतः मुद्रित पुस्तक में बिना उच्चारण भी हम वाक्य का अर्थ समझ ही लेते हैं। यह भी कहना ठीक नहीं है कि वाक्य का पूरा अर्थ समझने के लिए आकांक्षा, योग्यता और संनिधि का होना आवश्यक है। अपने आप में वे आवश्यक नहीं हैं; हमें उनका ज्ञान होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति किसी वाक्य में ग़लती से ये तीनों मान ले तो वह उस वाक्य का अर्थ समझ ही जाएगा। किन्तु इसके विपरीत यदि किसी वाक्य में ये तीनों हों भी, किन्तु श्रोता उन्हें समझ न पाए, तो वह उस वाक्य का अर्थ नहीं समझ पाएगा।

विश्वनाथ ने तात्पर्य ज्ञान भी आवश्यक माना है।[1] उदाहरणतः—सैन्धवमानय वाक्य में दो अर्थ हैं—नमक लाओ और घोड़ा लाओ। यहां आकांक्षा, योग्यता और संनिधि तीनों के होने पर भी जब तक तात्पर्य का ज्ञान न हो, यह नहीं कहा जा सकता कि इन दोनों में से कौन-सा अर्थ अभिप्रेत है। अतः तात्पर्य ज्ञान भी आवश्यक है। उपर्युक्त वाक्य का कहने वाला

१. आसत्तियोग्यताकांक्षातात्पर्यज्ञानमिष्यते—भाषापरिच्छेद ८२

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यदि भोजन कर रहा है तो वह नमक मांग रहा है और यदि बाहर जाने के के वस्त्रों में है तो वह घोड़ा मंगवा रहा है। अतः उसका तात्पर्य ज्ञान वातावरण और परिस्थिति से होता है। जो लोग तात्पर्य ज्ञान को नहीं मानते वे इसे योग्यता द्वारा ही मान लेंगे।

अन्नम्भट्ट ने तात्पर्य ज्ञान का उल्लेख नहीं किया। लक्षणा के प्रसंग में उन्होंने तात्पर्य के सम्बन्ध में यह परिभाषा दी है—तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वम्, जोकि शुद्ध नहीं है। जो शब्द हम कहते हैं वे उसी अर्थ का अभिप्राय लेकर सदा नहीं कहे जाते जोकि वक्ता के मन में होता है। मूर्ख कभी-कभी ऐसे शब्द भी कह देता है जो उसकी स्वयं की समझ में नहीं आते, किन्तु जो दूसरे लोग समझ जाते हैं। तोते के शब्द भी ऐसे ही होते हैं। कहा जा सकता है कि यह तो शब्दाभास हैं, शब्द नहीं। किन्तु यदि कोई वेद मन्त्रों को बिना समझे बोले, तो हम क्या कहेंगे? वहां वक्ता का तो कोई तात्पर्य होता नहीं। यह भी हो सकता है कि अध्यापक किसी ग्रन्थ का अशुद्ध अर्थ बतलाये। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वेद में वक्ता अर्थात् ईश्वर का तात्पर्य समझना चाहिए। क्योंकि जैसाकि वेदान्तपरिभाषा में कहा गया है कुछ लोग ईश्वर को नहीं मानते किन्तु फिर भी वेद का अर्थ समझ लेते हैं। अतः वेदान्तपरिभाषा में तात्पर्य का यह लक्षण दिया गया है—तत्प्रतीति-जननयोग्यत्वे सति तदन्यप्रतीतीच्छया नोच्चरितत्वं तात्पर्यम्।[1] अर्थात् शब्दों की विशेष अर्थ बतलाने की वह शक्ति जोकि किसी भिन्न अर्थ को बतलाने के अभिप्राय से न हो। यह जो बाद की शर्त है यह सैन्धवमानय जैसे उदाहरणों में अव्याप्ति न हो, इसलिए है, क्योंकि सैंधव से तो दोनों ही अर्थ हो सकते हैं किन्तु वक्ता के मन में एक ही अर्थ रहता है।

वाक्यं द्विविधम्—वैदिकं लौकिकं च। वैदिकमीश्वरोक्तत्वात्सर्वमेव प्रमाणम्। लौकिकं त्वाप्तोक्तं प्रमाणम्। अन्यदप्रमाणम्॥

वाक्य दो प्रकार का है—वैदिक और लौकिक। वैदिक ईश्वरोक्त होने से सभी प्रमाण है। लौकिक तो आप्त व्यक्ति का प्रमाण है शेष अप्रमाण।

(त दी.) वाक्यं विभजते—वाक्यमिति। वैदिकस्य विशेषमाह—वैदिकमीश्वरोक्तत्वादिति। ननु वेदस्यानादित्वात्कथमीश्वरोक्तत्वमिति चेत्—

---

१. तुलनीय वेदान्तपरिभाषा, पृ० १८८

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

न; 'वेदः पौरुषेयो वाक्यसमूहत्वाद्भारताविवत्' इत्यनुमानेन पौरुषेयत्वासिद्धेः। न च स्मर्यमाणकर्तृत्वमुपाधिः। गौतमादिभिः शिष्यपरंपरया वेदेऽपि कर्तृस्मरणेन साधनव्यापकत्वात्। "तस्मात्तेऽपानात् त्रयो वेदा अजायन्त" इति श्रुतेश्च ॥

ननु वर्णा नित्याः, 'स एवायं गकारः' इति प्रत्यभिज्ञाबलात्। तथा च कथं वेदस्यानित्यत्वम्?' इति चेत्—न; 'उत्पन्नो गकारः, नष्टो गकारः' इति प्रतीत्या वर्णानामनित्यत्वात् 'सोऽयं गकारः' इति प्रत्यभिज्ञायाः 'सेयं दीपज्वाला' इतिवत्साजात्यावलम्बनत्वात्, वर्णानां नित्यत्वेऽप्यानुपूर्वीविशिष्टवाक्यस्यानित्यत्वाच्च। तस्मादीश्वरोक्तो वेदः ॥ मन्वादिस्मृतीनामाचाराणां च वेदमूलकतया प्रामाण्यम्। स्मृतिमूलवाक्यानामिदानीमनध्ययनात्तन्मूलभूता काचिच्छाखोच्छिन्नेति कल्प्यते। ननु पठ्यमानवेदवाक्योत्सादस्य कल्पयितुमशक्यतया विप्रकीर्णवादस्यायुक्तत्वान्नित्यानुमेयो वेदो मूलमिति चेत्,—न; तथापि वर्णानुपूर्वीज्ञाताभावेन बोधकत्वासंभवात्॥

वाक्य

वाक्य दो प्रकार के होते हैं—वैदिक और लौकिक। वैदिक वाक्य भी चार प्रकार के हैं—श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराण। जिनमें से पूर्वपूर्वतर अधिक प्रामाणिक है। जो परिभाषा तर्कसंग्रह में दी गई है वह केवल वेद पर ही लागू होगी। क्योंकि स्मृति, इतिहास और पुराण तो मनुष्यकृत हैं। श्रुति का अर्थ संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् है। जब श्रुति मौन हो या श्रुति में विरोध हो तो स्मृति प्रमाण होती है।[1] इतिहास और पुराण तभी प्रमाण होते हैं जब न श्रुतिप्रमाण मिले, न स्मृतिप्रमाण।

यहां जो वैदिक वाक्यों को प्रामाणिक कहा है वह यह मानकर कि आप्त वाक्य की सभी शर्तें वेद में पूरी होती हैं।

यहां दीपिका में मीमांसक और नैयायिकों के पारस्परिक शास्त्रार्थ का उल्लेख है। पहला विवाद का विषय यह है कि वेद नित्य हैं या ईश्वर के बनाये हुए। मीमांसक और नैयायिक दोनों ही वेदों को अपौरुषेय तो मानते ही हैं किन्तु अपौरुषेय का अर्थ क्या है? मीमांसकों का कहना है कि अपौरुषेय का अर्थ है नित्य। प्रथम तो वेदों का कोई कर्त्ता बतलाया ही

१. मीमांसासूत्र, १.३.३

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नहीं जान्ना । ऋषि तो मन्त्रद्रष्टा हैं, कर्त्ता नहीं । दूसरे स्वयं वेद में हीं वेदवाणी को नित्य कहा है—'वाचा नीरूपनित्यया' 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः । नैयायिक इन युक्तियों का खण्डन यह कह कर करते हैं कि वेदों में वेदों के सृजन का उल्लेख है—'इदं सर्वमसृजत ऋचो यजूंषि सामानि' । किन्तु इससे भी बढ़कर वे यह अनुमान करते हैं—वेदवाक्यरचना वक्तृयथार्थवाक्यार्थज्ञानपूर्वा वाक्यरचनात्वात्, अस्मदादिवाक्य-रचनावत् । किन्तु मीमांसकों का कहना है कि इस अनुमान में स्मर्यमाणकर्तृ-कत्व की उपाधि है अर्थात् यह हेतु सोपाधिक है । उपर्युक्त अनुमान वहीं लागू होगा जहां हमें लेखक का ज्ञान हो । नैयायिकों का कहना है कि वेदों के ऋषि इत्यादि हमें परम्परा से ज्ञात ही हैं । इसके अतिरिक्त यदि वेद नित्य होते तो उनके वर्णों में आनुपूर्वी न होती और उसके बिना न आकांक्षा होती न शाब्दबोध । अतः उनका कर्त्ता अवश्य होना चाहिए । वेदान्तियों का कहना है कि वेद सर्ग के आदि में उत्पन्न होता है और प्रलय काल में विनष्ट । मध्य में उसकी उत्पत्ति या नाश नहीं होता ।[1] यही बात श्रुति के इस वाक्य में कही गई है—धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।

वेद नित्य हैं इस प्रश्न का एक पक्ष यह भी है कि शब्द नित्य है या नहीं। आकाश नित्य है, अतः उसका गुण शब्द भी नित्य होना चाहिए। भेरी और दण्ड का संयोग तो केवल उस शब्द को प्रकट करने में निमित्त बनता है । नैयायिक शब्द को अनित्य मानते हैं । उनका अनुमान इस प्रकार है—शब्दोऽनित्यः । सामान्यवत्त्वे सति बहिरिन्द्रियजन्यलौकिकप्रत्यक्षविषयत्वात्, लौकिकप्रत्यक्षविशेष्यत्वाद्वा घटवत् । गौतम ने शब्द के अनित्य होने के तीन कारण माने हैं—पहला, इसका प्रारम्भ होता है, दूसरा ये इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होता है, तीसरा इससे कार्य की विशेषताएं पाई जाती हैं ।[2] हम एक शब्द को पहचान जाते हैं, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह शब्द नित्य है क्योंकि एक दीपशिखा को अनित्य होने पर भी सादृश्य के आधार पर हम पहचान लेते हैं ।

वाक्यार्थज्ञानं शाब्दज्ञानम् । तत्करणं शब्दः ॥

वाक्य के अर्थ का ज्ञान ही शाब्दज्ञान है । उसका करण शब्द है ।

---

१. तुलनीय वेदान्तपरिभाषा, पृ० २०२

२. आदिमत्त्वादैन्द्रियकत्वात्कृतकवदुपचाराच्च—न्यायसूत्र, २.२.१३

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(स. वी.)—ननु 'एतानि पदानि स्वस्मारितार्थसंसर्गवन्ति आकाङ्क्षादिमत्पदकदम्बकत्वात्,सद्वाक्यवत्' इत्यनुमानादेव संसर्गज्ञानसंभवाच्छब्दो न प्रमाणान्तरमिति चेत्,—न; अनुमित्यपेक्षया शाब्दज्ञानस्य विलक्षणस्य 'शब्दात् प्रत्येमि' इत्यनुव्यवसायसाक्षिकस्य सर्वसंमतत्वात् ॥

नन्वर्थापत्तिरपि प्रमाणान्तरमस्ति, 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति दृष्टे श्रुते वा पीनत्वान्यथानुपपत्त्या रात्रिभोजनमर्थापत्त्या कल्प्यत इति चेत्,—न; 'देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात्' इत्यनुमानेनैव रात्रिभोजनस्य सिद्धत्वात्। 'शते पञ्चाशत्' इति संभवोऽप्यनुमानमेव । 'इह वटे यक्षस्तिष्ठति' इत्यैतिह्यमज्ञातमूलवक्तृकः शब्द एव । चेष्टापि शब्दानुमानद्वारा व्यवहारहेतुरिति न मानान्तरम् । तस्मात्प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाश्चत्वार्येव प्रमाणानि ॥

सर्वेषां ज्ञानानां तद्वति तत्प्रकारकत्वं स्वतो ग्राह्यं परतो वेति विचार्यते। तत्र विप्रतिपत्तिः । ज्ञानप्रामाण्यं तदप्रामाण्याग्राहकत्वावज्ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यं न वा? । अत्र विशिकोटिः स्वतस्त्वम्, निषेधकोटिः परतस्त्वम् ॥ अनुमानग्राह्यत्वेन सिद्धसाधनतावारणाय यावदिति । 'इदं ज्ञानमप्रमा' इति ज्ञानेन प्रामाण्यग्रहाद्बाधवारणाय—अप्रामाण्याग्राहकेति । 'इदं ज्ञानमप्रमा' इत्यनुव्यवसायनिष्ठप्रामाण्याग्राहकस्याप्रामाण्याग्राहकत्वाभावात्स्वतस्त्वं न स्यादतस्तदिति । तस्मिन्प्रामाण्याश्रयेऽप्रामाण्यग्राहक इत्यर्थः । उदाहृतस्थले व्यवसायेऽप्रामाण्यग्राहकस्याप्यनुव्यवसाये तदग्राहकत्वात्स्वतस्त्वसिद्धिः ॥ ननु स्वत एव प्रामाण्यं गृह्यते, 'घटमहं जानामि' इत्यनुव्यवसायेन घटघटत्वयोरिव तत्संबन्धस्यापि विषयीकरणात्, व्यवसायरूपप्रत्यासत्तेस्तुल्यत्वात्, पुरोवर्तिनि प्रकारसंबन्धस्यैव प्रमात्वपदार्थत्वादिति चेत्,—न; स्वतःप्रामाण्यग्रहे 'जलज्ञानं प्रमा न वा?' इत्यनभ्यासदशायां प्रमात्वसंशयो न स्यात्; अनुव्यवसायेन प्रामाण्यस्य निश्चितत्वात् । तस्मात्स्वतोग्राह्यत्वाभावात्परतो ग्राह्यत्वम् । तथा हि—प्रथमं जलज्ञानानन्तरं प्रवृत्तौ सत्यां जललाभे सति पूर्वोत्पन्नं 'जलज्ञानं प्रमा, समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा भ्रमा' इति व्यतिरेकिणा प्रमात्वं निश्चीयते । द्वितीयादिज्ञानेषु पूर्वज्ञानदृष्टान्तेन तत्सजातीयत्वलिङ्गेनान्वयव्यतिरेकिणाऽपि गृह्यते ॥

प्रमाया गुणजन्यत्वमुत्पत्तौ परतस्त्वम् । प्रमाऽसाधारणकारणं गुणः । अप्रमाऽसाधारणकारणं दोषः । तत्र प्रत्यक्षे विशेषणवद्विशेष्यसंनिकर्षो गुणः, अनुमितौ व्याप्यपक्षवति व्याप्यज्ञानम्, उपमितौ यथार्थसादृश्यज्ञानं, शाब्दज्ञाने यथार्थयोग्यताज्ञानम् इत्याद्यूहनीयम् । पुरोवर्तिनि प्रकाराभावस्य व्यवसायेनानु-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पस्थितत्वादप्रमात्वं परत एव गृह्यते । पित्ताविद्योषजन्यत्वादुत्पत्तौ परतस्त्वम् ॥

ननु सर्वज्ञानानां यथार्थत्वादयथार्थज्ञानमेव नास्ति । न च 'शुक्ताविदं रजतम्' इति ज्ञानात्प्रवृत्तिदर्शनादन्यथाख्यातिसिद्धिरिति वाच्यम् । रजतस्मृति-पुरोवर्तिज्ञानाभ्यामेव प्रवृत्तिसंभवात्, उपस्थितेष्टभेदाग्रहस्यैव सर्वत्र प्रवर्तकत्वेन 'नेदं रजतम्' इत्यादावतिप्रसङ्गाभावादिति चेत्,—न; सत्यरजतस्थले पुरोवर्ति-विशेष्यकरजतत्वप्रकारकज्ञानस्य लाघवेन प्रवृत्तिजनकतया शुक्तावपि रजतार्थि-प्रवृत्तिजनकत्वेन विशिष्टज्ञानस्यैव कल्पनात् ॥

शाब्द

शाब्दबोध चौथे प्रकार का ज्ञान है । इस ज्ञान का असाधारण कारण है—शब्द । नव्यनैयायिकों का कहना है कि शाब्दबोध का करण पद नहीं, प्रत्युत पद-ज्ञान है । विश्वनाथ का भी यही मत है—

पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः ।
शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी ॥[1]

यदि शब्द को शाब्दबोध का कारण मानें तो मूक व्यक्ति द्वारा शाब्द-बोध नहीं होगा अतः शब्द नहीं, शब्द का ज्ञान ही शाब्दबोध का कारण है । इस विवाद का कोई विशेष महत्त्व नहीं है । यद्यपि इससे इस ऐतिहासिक तथ्य की ओर संकेत होता है कि प्रारम्भ में ज्ञान मौखिक परम्परा से चलता था अतः शब्द का महत्त्व था, जब लेखन परंम्परा चली तो शब्द ज्ञान का महत्त्व हो गया । अन्नम्भट्ट के अनुसार शब्द करण है और शब्द से यहाँ वाक्य अभिप्रेत है ।

दीपिका में यह कहा गया है कि वैशेषिक शब्दप्रमाण को अनुमान के अन्तर्गत ही मानते हैं, पृथक् नहीं मानते । शब्द और अर्थ के बीच जो सम्बन्ध है, वह इस अनुमान से जाना जा सकता है—एते पदार्थाः परस्परसंसर्गवन्तः । आकांक्षायोग्यतासत्तिमत्पदस्मारितत्वात् । दण्डेन गामानयेतिपदस्मारितपदार्थवत् । अर्थात् इस अनुमान में पद या पदार्थ पक्ष है । इस अनुमान से शाब्दबोध नहीं हो सकता है क्योंकि शब्द द्वारा जो ज्ञान होता है वह अनुमान द्वारा होने वाले ज्ञान से भिन्न है । शाब्दबोध से जो ज्ञान होता कि 'मैं

---

१. भाषापरिच्छेद, ८१. इस पर न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली भी देखिए ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शब्दों द्वारा जानता हूं', वह 'मैं अनुमान करता हूं' इस बोध से भिन्न है। किन्तु इस तर्क से वैशेषिकों का उतना सबल खण्डन नहीं होता। कुसुमांजलि में उदयन ने इसका अधिक प्रबल खंडन इस प्रकार किया है—उनका कहना है कि इस अनुमान का निर्णय या तो निश्चित है या एक संभावना है। यदि वह निश्चित है, तो यहां अनेकांतिक हेत्वाभास है, क्योंकि निश्चित निर्णय का अनुमान नहीं होता और यदि वह केवल संभव है तो साध्य सिद्ध नहीं होता और शाब्दबोध नहीं हो सकता। अतः शाब्दबोध को पृथक् प्रमाण ही मानना चाहिए।

यहां चार प्रभाणों का विवेचन समाप्त हो गया है, अतः दीपिका यहां इस विषय पर चर्चा करती है कि अनुमान आदि के अतिरिक्त क्या और प्रमाण भी हैं। चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को मानता है. वैशेषिक, बौद्ध और जैन केवल प्रत्यक्ष और अनुमान को, सांख्य, योग, धर्मशास्त्र और वेदान्ती प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द को, नैयायिक उपमान को भी मानते हैं, मीमांसक और वेदान्त का एक संप्रदाय अर्थापत्ति और अनुपलब्धि को भी मानता है। पौराणिक संभव और ऐतिह्य को भी प्रमाण मानते हैं। तांत्रिक चेष्टा को भी प्रमाण मानते हैं। कुछ मीमांसक परिशेष को भी परिमाण मानते हैं। संभव, ऐतिह्य और चेष्टा में से संभव तो अनुमान के अन्तर्गत आ जाता है, ऐतिह्य और चेष्टा शब्द प्रमाण में अन्तर्भूत हो जाते हैं, अनुपलब्धि की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं, जहांकि हमने यह देखा कि अनुपलब्धि अभाव का ज्ञान कराने में सहायक होती है।

अर्थापत्ति के सम्बन्ध में सबसे अधिक विवाद है। नैयायिक इसे अनुमान के अन्तर्गत मानते हैं जबकि मीमांसक इसे स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। अर्थापत्ति का उदाहरण है—पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते (अर्थात् रात्रौ भुङ्क्ते) अर्थात् देवदत्त मोटा है और दिन में नहीं खाता। इसका अर्थ यह है कि वह रात को खाता है। अब मोटापन बिना खाए तो हो नहीं सकता (नीलकंठ ने रोग या अलौकिक शक्ति को इसका अपवाद अवश्य माना है।) यहां यह देखना है कि प्रभाकर मीमांसकों के अनुसार अर्थापत्ति दो प्रकार की है—दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति। जब हम सचमुच देवदत्त को दिन में न खाते हुए देखते हैं तो यह दृष्ट अर्थापत्ति है, जब हम केवल ऐसा सुनते हैं तो यह श्रुत अर्थापत्ति है।

---

१. न्यायकुसुमाञ्जलि, ३.१३

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नैयायिकों के अनुसार ये दोनों ही अनुमान में आ जाती हैं। अनुमान का प्रकार केवलव्यतिरेकी होता है—देवदत्तो रात्रिभोजनकर्त्ता, दिवाभुंजानत्वे सति पीनत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा रात्रावभोजी यज्ञदत्तः। अतः अर्थापत्ति के सभी उदाहरण केवलव्यतिरेकी अनुमान में आ जाते हैं। नैयायिकों और मीमांसकों के बीच जो विवाद है उसका आधार लाघव है। मीमांसकों का कहना है कि केवलव्यतिरेकी अनुमान की आवश्यकता नहीं, अर्थापत्ति मानने से ही गुजारा चल जाता है। नैयायिकों का कहना है कि केवलव्यतिरेकी अनुमान मानने से अर्थापत्ति का अन्तर्भाव भी उसी में हो जाता है। अब प्रश्न यह है कि लाघव किस में है? यह मानना होगा कि एक अतिरिक्त प्रमाण मानने की अपेक्षा अनुमान का ही एक अन्य भेद मान लेने में लाघव है। किन्तु केवलव्यतिरेकी अनुमान को मानने से जो बाधाएं हैं, उनका भी हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं।

स्वतःप्रमाण और परतः प्रमाण

दीपिका में स्वतः प्रमाण और परतः प्रमाण की चर्चा की गई है और यह चर्चा प्रमाणों के प्रसंग में बहुत महत्वपूर्ण है। जब हम जानते हैं कि यह घट है तो यह कैसे निर्धारित किया जाए कि हमारा यह ज्ञान प्रमा है या नहीं। हमें वस्तुतः घट दिखाई पड़ता है या घट का भ्रम ही होता है यह निश्चय करना आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना प्रवृत्त्यादि नहीं हो सकती। यही चर्चा स्वतः प्रमाण और परतः प्रमाण की चर्चा है जिसे मध्वाचार्य ने निम्न श्लोकों में सार रूप में दे दिया है—

प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः सांख्याः समाश्रिताः।
नैयायिकास्ते परतः सौगताश्चरमं स्वतः॥
प्रथमं परतः प्राहुः प्रामाण्यं वेदवादिनः।
प्रमाणत्वं स्वतः प्राहुः परतश्चाप्रमाणताम्॥[1]

भाव यह है कि सांख्य प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को स्वतः मानते हैं। नैयायिक दोनों को परतः, बौद्ध अप्रामाण्य को स्वतः, प्रामाण्य को परतः, मीमांसक प्रामाण्य को स्वतः और अप्रामाण्य को परतः। क्योंकि हमारा

१. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० २७९

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

विषय यहां प्रमा के सम्बन्ध में है अतः नैयायिकों के परतः प्रमाण और मीमांसकों के स्वतः प्रमाण की ही चर्चा हम यहां विशेष रूप से करेंगे। दीपिका में पहले मीमांसा का पूर्व पक्ष दिया है और बाद में नैयायिकों का सिद्धान्त पक्ष।

प्रामाण्य के स्वतः होने का अर्थ है—तदप्रामाण्याग्राहकयावज्ज्ञानग्राहक-सामग्रीग्राह्यत्वम्। यहां तीन शर्तें हैं—पहली शर्त है कि सत्य का ज्ञान उसी करण से होता है जिस करण से ज्ञान होता है। दूसरी शर्त है कि करण में, ज्ञान की उत्पत्ति में जो भी साधन हैं, सभी शामिल हैं और तीसरी शर्त है कि उसमें कोई भी ऐसी चीज शामिल नहीं है, जो ज्ञान की सत्यता में बाधक बने। अन्तिम दो शर्तों की आवश्यकता दीपिका ने बतलाई है। इस लक्षण में समस्त कारण सामग्री ली गई है ताकि इसमें वह अनुमान भी आ सके जो उसका प्रामाण्य सिद्ध कर सके चाहे हम उसे आप्त वाक्य से पहले भी क्यों न जान चुके हों और यह इदं ज्ञानमप्रमा के ज्ञान का भी बहिष्कार करता है जोकि प्रामाण्य के जानने में बाधक हो सकता है। हां, यह आवश्यक है कि यह बाधक ज्ञान के सम्बन्ध में ही हो, अनुव्यवसाय के सम्बन्ध में नहीं। इसके अतिरिक्त नैयायिक स्वयं भी अंशतः स्वतः प्रामाण्य को मान ही लेते हैं। क्योंकि वे यह मानते हैं यह घट घटत्व और उनका सम्बन्ध अनुव्यवसाय द्वारा जाना जाता है। अतः वे उनकी प्रामाणिकता को भी उसी अनुव्यवसाय द्वारा जान लेंगे। किन्तु नैयायिक इसे नहीं मानते। नैयायिकों का कहना है कि स्वतः प्रामाण्य मानने पर संदेह का कोई स्थान ही न रह जाएगा। यदि प्रामाण्य स्वतः ही जान लिया गया तो फिर सन्देह का अवकाश नहीं है। अतः प्रामाण्य तो केवल व्यतिरेकी अनुमान द्वारा जाना जाता है। पहले हम जल देखते हैं, तब हममें इच्छा होती है और तब प्रवृत्ति। यदि प्रवृत्ति सफल हो जाए, तो हमारा ज्ञान प्रामाणिक होता है। अतः ज्ञान की प्रामाणिकता का आधार प्रवृत्ति की सफलता है। इसी प्रकार शाब्द ज्ञान भी यथार्थ होने पर ही प्रामाणिक होता है।

परतः प्रामाण्यवादियों का कथन है कि प्रमा गुणजन्य है। अप्रमा किसी दृष्टिदोष आदि दोषविशेष से उत्पन्न होती है। स्वतः प्रामाण्यवादियों के अनुसार प्रमा के लिये गुणविशेष की आवश्यकता नहीं केवल दोषाभाव ही प्रमा को उत्पन्न करता है। स्वतः प्रामाण्यवादी का कहना है कि यदि

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

एक प्रमा के लिये प्रमाणान्तर आवश्यक हो तो फिर उस प्रमाण के लिये दूसरा प्रमाण चाहिये और इस प्रकार अनवस्था दोष होगा।[1]

यह शास्त्रार्थ वेद के विषय में विशेष महत्त्वपूर्ण है। मीमांसकों के अनुसार वेद स्वतः प्रमाण है, जबकि नैयायिकों के अनुसार वे ईश्वर के वाक्य होने के कारण प्रमाण है। बौद्ध वेदों को प्रमाण मानते ही नहीं, नैयायिक उनके प्रामाण्य को ईश्वराधीन मानते हैं अतः मीमांसक नैयायिकों को अर्ध-वैनाशिक कहते हैं। मीमांसकों में भी प्रभाकर सम्प्रदाय वाले सभी ज्ञान को प्रमाण मानते हैं, अतः उनके अनुसार किसी ज्ञान के अप्रमा होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

अयथार्थानुभवस्त्रिविधः—संशय—विपर्यय—तर्कभेदात्। एकस्मिन्धर्मिणि विरुद्धनानाधर्मवैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानं संशयः। यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति। मिथ्याज्ञानं विपर्ययः। यथा शुक्ताविदं रजतमिति। व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः। यथा यदि वह्निर्न स्यात्तर्हि धूमोऽपि न स्यादिति॥

अयथार्थ अनुभव तीन प्रकार का है—संशय, विपर्यय और तर्क। एक धर्मी का (परस्पर) विरुद्ध नाना धर्मों से विशिष्ट होने का ज्ञान संशय है। जैसे 'यह स्थाणु है या पुरुष'। मिथ्या ज्ञान विपर्यय कहलाता है जैसे सीप में 'यह चांदी है' यह ज्ञान। व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप तर्क है। जैसे यदि वह्नि न होती तो धूम भी न होता।

(त. दी.)—अयथार्थानुभवं विभजते—अयथार्थेति। स्वप्नस्य मानसविपर्ययरूपत्वान्न त्रैविध्यविरोधः॥ संशयलक्षणमाह—एकस्मिन्निति। 'घटपटौ' इति समूहालम्बनेऽतिव्याप्तिवारणाय–एकेति। 'घटो द्रव्यम्' इत्यादावतिव्याप्तिवारणाय–विरुद्धेति। 'पटत्वविरुद्धघटत्ववान्' इत्यत्रातिव्याप्तिवारणाय नानेति॥ विपर्ययलक्षणमाह—मिथ्येति। तदभाववति तत्प्रकारकनिश्चय इत्यर्थः॥ तर्कं लक्षयति—व्याप्येति। यद्यपि तर्को विपर्ययेऽन्तर्भवति तथापि प्रमाणानुग्राहकत्वाद् भेदेन कीर्तनम्॥

---

१. सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० २८०-२८७
एवम् वेदान्तपरिभाषा, पृ० २३८

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अप्रमा

यथार्थ ज्ञान के बाद अयथार्थ अनुभव का उल्लेख किया गया है। अयथार्थ अनुभव जो पदार्थ जैसा न हो, उसे वैसा मानना है। अप्रमा दो प्रकार की होती है—भ्रम और संशय। भ्रम में अयथार्थ ज्ञान निश्चित होता है, संशय में अनिश्चित। भ्रम भी दो प्रकार का है—आहार्य, जिसे जानबूझ कर पैदा किया जाए और अनाहार्य, जो इच्छाविशेषजन्य न हो। इनमें आहार्य तर्क है और अनाहार्य विपर्यास। संशय सदा अनाहार्य ही होता है।

इस प्रकार अप्रमा तीन प्रकार की है—संशय, विपर्यय और तर्क। कुछ लोग तर्क को विपर्यय में ही मानते हैं क्योंकि यद्यपि तर्क में जान-बूझकर पदार्थों का अयथार्थ वर्णन रहता है किन्तु इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि अयथार्थता तो दोनों दशाओं में रहती ही है। किन्तु अन्नम्भट्ट ने तर्क और विपर्यय को अलग-अलग ही गिनाया है क्योंकि कभी-कभी तर्क तो किसी पदार्थ के यथार्थ ज्ञान में सहायक हो भी सकता है, जबकि विपर्यय के साथ यह बात नहीं है। स्वप्न का अन्तर्भाव मानसविपर्यय में ही हो जाता है।

संशय का लक्षण है एक धर्मी में नाना विरुद्ध धर्मों का ज्ञान। दीपिका का कहना है कि संशय के लिए तीन शर्तें हैं। प्रथम तो नाना धर्मों का ज्ञान होना चाहिए, दूसरे वे धर्म परस्पर विरुद्ध होने चाहिएँ और तीसरे ये धर्म एक ही धर्मी में होने चाहिएँ। किन्तु यहां 'विरुद्ध' शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं है। हम किन धर्मों को परस्पर विरुद्ध कहेंगे। सामान्यतः जो दो धर्म एक धर्मी में एक साथ न दीखें, वे विरुद्ध हैं जैसे अश्वत्व और मनुष्यत्व एक ही पदार्थ में नहीं होते। किन्तु किसी किन्नर जैसे व्यक्ति में ये दोनों गुण एक साथ पाये भी जा सकते हैं क्योंकि उनका मुख अश्व के समान और शेष शरीर मनुष्यों के समान हो सकता है और यदि यह मान लें कि किन्नर जाति नहीं होती तब भी संशय का लक्षण उस जाति पर लागू होगा ही। किन्तु इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि ऐसी जाति सर्वथा काल्पनिक है और विरुद्ध धर्म एक व्यक्ति में नहीं रह सकता। अतः यह परिभाषा अधिक उत्तम है—एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाकोटिकं ज्ञानम्। कोटि का अर्थ है विकल्प और विरुद्ध कोटि का अर्थ है उसका निषेध। उदाहरणतः शब्दो नित्यो न वा यहाँ दो कोटियां हैं—नित्यत्व और अनित्यत्व। और ये दोनों कोटियां होने से ये द्विकोटिक संदेह है—अयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा में चतुष्कोटिक संदेह है क्योंकि यहाँ चार संभावनाएं हैं—अयं स्थाणुः, अयं न स्थाणुः, अयं पुरुषः और अयं न पुरुषः।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

विपर्यय मिथ्या ज्ञान है। तर्क किसी बात को सिद्ध करने के लिए उसके विपरीत ऐसी बात को मान लेना, जोकि स्वतः ही मिथ्या सिद्ध हो रही हो, कहलाता है। तर्कसंग्रह में तर्क का लक्षण स्पष्ट नहीं है। इस लक्षण का अर्थ है—व्याप्य के आरोप से व्यापक का आरोप। किन्तु उसका उदाहरण ठीक नहीं है। वह्न्यभाव व्याप्य है और धूमाभाव व्यापक। अतः हम धूमाभाव से वह्न्यभाव का अनुमान करते हैं। उदाहरणतः यदि वह्निर्न स्यात्तर्हि धूमोऽपि न स्यात् जिसका अर्थ है कि वह्न्यभाव से धूमाभाव अनुमित होता है। यही व्याप्यारोपेण व्यापकारोपणम् कहलाता है। पर अन्नम्भट्ट के अनुसार यही तर्क है। किन्तु वह्न्यभाव से धूमाभाव का अनुमान होता है यह कहना तो बिल्कुल ठीक है, और यह तर्क अप्रमा के अन्तर्गत कैसे आएगा ? वस्तुतः तर्क न तो किसी गलत कल्पना द्वारा गलत परिणाम निकाल लेना है और न किसी व्याप्ति के आधार पर कोई अनुमान निकालना है।

तर्क की प्रक्रिया यह है। कल्पना कीजिए कि कोई पर्वत पर धूम देख कर अग्नि का अनुमान करना चाहता है और कहता है कि पर्वत में धूम होने के कारण वह्नि है क्योंकि जहां-जहां धूम होता है, वहां-वहां वह्नि भी होती है। किन्तु उसका विरोधी इस व्याप्ति को न माने तो क्या किया जाए ? व्याप्ति के दोनों पक्षों द्वारा माने बिना अनुमान हो नहीं सकता। अतः तर्क का आश्रय लिया जाता है। तब वह कहता है कि तर्क के लिए यह मान ही लें कि पर्वत पर अग्नि नहीं है तो फिर पर्वत पर धूम भी नहीं होना चाहिए। किन्तु धूम तो वहां दिखाई ही नहीं पड़ रहा है। अतः जो हमने कल्पना की थी, वह निराधार है। यदि विरोधी यह कहे कि पर्वत वह्निमान नहीं है तो यह तर्क किया जा सकता है कि यदि पर्वत वह्निमान नहीं है तो वहां धूम भी नहीं है। यदि विरोधी इसे न मानें तो फिर उसे वह्नि के अभाव में धूम मिलने का उदाहरण कहीं दिखलाना पड़ेगा। ऐसा कोई उदाहरण न मिलने पर उसे मूल व्याप्ति स्वीकार करनी पड़ेगी। वहां वक्ता व्याप्य को पहले आरोपित करके व्यापक का अनुमान करता है। यही तर्क है। नीलकंठ ने तर्क की यह परिभाषा दी है—आहार्यव्याप्यवत्ता-भ्रमजन्य आहार्यव्यापकवत्ताभ्रमस्तर्कः अर्थात् पक्ष में व्यापक की सत्ता के बारे में भ्रम जब व्याप्य की पक्ष में गलत कल्पना करके दूर किया जाए, तब तर्क होता है।

तर्क और विपर्यय में यह अन्तर है कि तर्क की असत्यता वक्ता को ज्ञात होती है विपर्यय की नहीं। प्राचीन नैयायिकों ने ग्यारह तर्क माने हैं जिनमें आधुनिक नैयायिक केवल पांच स्वीकार करते हैं।—(१) आत्माश्रय, (२)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अन्योन्याश्रय (३) चक्रक, (४) अनवस्था (५) प्रमाणबाधितार्थप्रसंग। जो उदाहरण वहां दिया है वह अन्तिम प्रकार का तर्क है। इनमें प्रथम चार सव्यभिचार और असिद्धहेत्वाभास के कारण होते हैं। तर्क और केवलव्यतिरेकी अनुमान उन चीजों को सिद्ध करने में सहायक होते हैं जिन्हें 'विधिमुख से सिद्ध नहीं किया जा सकता। सम्भवतः धर्म के वे तथ्य जो किसी और प्रकार सिद्ध नहीं किए जा सकते, इसी प्रकार के तर्क से सिद्ध किए जा सकते हैं। इसीलिए मनु ने—यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः—कहा है।

स्मृतिरपि द्विविधा–यथार्थाऽयथार्था च। प्रमाजन्या यथार्था। अप्रमाजन्याऽयथार्था॥

स्मृति भी दो प्रकार की है—यथार्थ और अयथार्थ। प्रमा से उत्पन्न यथार्थ है। अप्रमा से उत्पन्न अयथार्थ।

(त. दी.)—स्मृतिं विभजते—स्मृतिरिति॥

स्मृति

स्मृति की परिभाषा पहले दी जा चुकी है। प्रमा और अप्रमा का विवेचन करने के बाद स्मृति का भी उसी प्रकार विभाजन किया गया है। किन्तु अनुभव तो यदि बाह्य पदार्थ से मेल खाए तो यथार्थ होता है अन्यथा अयथार्थ, जबकि स्मृति की यथार्थता और अयथार्थता मूल अनुभव की यथार्थता और अयथार्थता पर निर्भर करती है। यथार्थानुभव से यथार्थ स्मृति और अयथार्थानुभव से अयथार्थ स्मृति होती है। इसका कारण यह है कि स्मृति ज्ञान का सीधा साधन नहीं होती। स्मृति प्रायः उस स्थान पर और समय पर भी नहीं होती जहां और जब हम उस पदार्थ को देखते हैं। अतः प्रामाण्य का आधार प्रमिति है। जब हम जल देखते हैं तो उसे छू कर देख सकते हैं कि हमारा ज्ञान सत्य है या नहीं। किन्तु जब हम जल की स्मृति करते हैं तो उसकी यथार्थता या अयथार्थता को नहीं जान सकते। इसलिए यहां उसकी यथार्थता दूसरी प्रकार से जाननी होती है। अनुमिति की यथार्थता परामर्श की यथार्थता पर आधृत है जबकि शाब्दबोध की यथार्थता वाक्य की यथार्थता पर आधृत है। इसी प्रकार स्मृति की यथार्थता अनुभव की यथार्थता पर आधृत है।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सर्वेषामनुकूलतया वेदनीयं सुखम् ॥

जो सबको अनुकूल प्रतीत हो वह सुख है।

(त. दी.)—सुखं लक्षयति—सर्वेषामिति । 'सुख्यहम्' इत्याद्यनुव्यवसाय-गम्यं सुखत्वादिकमेव लक्षणम् । यथाश्रुतं तु स्वरूपकथनमिति द्रष्टव्यम् ॥

सर्वेषां प्रतिकूलतया वेदनीयं दुःखम् ॥

जो सबको प्रतिकूल प्रतीत हो वह दुख है।

इच्छा कामः । क्रोधो द्वेषः । कृतिः प्रयत्नः । विहितकर्मजन्यो धर्मः । निषिद्धकर्मजन्यस्त्वधर्मः ॥

काम इच्छा है । क्रोध द्वेष है । कृति प्रयत्न है। विहित कर्मों से उत्पन्न (अदृष्ट) धर्म है । निषिद्ध कर्मों से उत्पन्न (अदृष्ट) अधर्म है।

सुख दुख आदि गुण

सुख उसे कहा जाता है जो सबको अनुकूल प्रतीत हो। दुख वह है जो सब को प्रतिकूल प्रतीत हो । यह परस्पर एक दूसरे का अभाव नहीं हैं और साथ-साथ भी रह सकते हैं। नीलकंठ ने सुख-दुख की परिभाषा में कुछ परिवर्तन किया है—मूलं सुखादिलक्षणपरं न संभवति, परद्रव्योपभोगादि-जन्यसुखे साधूनां द्वेषदर्शनादव्याप्तेरित्याशङ्कायां सुख्यहमित्याद्यप्रत्यक्षप्रसिद्धं सुखत्वादिकमेव लक्षणम् । सभी तरह से कुछ बाह्य पदार्थों को दुःखजनक कहना ठीक नहीं होगा । क्योंकि एक ही पदार्थ उसके लिए सुखकारक और कुछ के लिए दुःखजनक हो सकता है । अतः इस सम्बन्ध में व्यक्ति का अनुभव ही प्रमाण है। किन्तु यह प्रश्न आता है कि किस प्रकार का व्यक्तिगत अनुभव सुखकारक है और किस प्रकार का दुखजनक। अतः न्यायबोधिनी में सुख की परिभाषा यह दी है—इतरेच्छानधीनेच्छाविषयः। अर्थात् सुख स्वयं अपने लिए ही अभीष्ट होता है किसी अन्य पदार्थ की इच्छा के लिए नहीं । अभिप्राय यह है कि सुख स्वयं लक्ष्य है, किसी लक्ष्य का साधन नहीं। इसी प्रकार दुख भी स्वयं ही विद्वेष का कारण है, इसलिए नहीं कि यह किसी अन्य पदार्थ से विद्वेष कराता है । इच्छा और विद्वेष स्वतः स्पष्ट हैं।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रयत्न वास्तविक क्रिया नहीं है यह वस्तुतः किसी कार्य को करने के लिए मन की तैयारी और उसका प्रयत्न है। उदाहरणतः मरणासन्न व्यक्ति बोलने का प्रयत्न करता है चाहे वह बोल नहीं सकता।

धर्म और अधर्म अदृष्ट के ही प्रकार हैं जो सामान्यतः पुण्य और पाप कहलाते हैं। पुण्य वह है जो श्रुतिसम्मत कार्यों के करने से होता है। और पाप श्रुति में निषिद्ध कर्म करने से होता है। उदाहरणतः—ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत श्रुति की आज्ञा है। अतः ज्योतिष्टोम से पुण्य होगा। 'न कलञ्जं भक्षयेत्' श्रुति का निषेध है, अतः कलञ्ज खाने में पाप होगा।

बुद्ध्यादयोऽष्टावात्ममात्रविशेषगुणाः॥

बुद्धीच्छाप्रयत्ना द्विविधाः—नित्या अनित्याश्च। नित्याः ईश्वरस्य। अनित्या जीवस्य॥

बुद्धि आदि आठ केवल आत्मा में रहने वाले विशेष गुण हैं।

बुद्धि, इच्छा और प्रयत्न दो प्रकार के हैं—नित्य और अनित्य। नित्य ईश्वर के, अनित्य जीव के।

आत्मगुण

बुद्धि से लेकर अधर्म तक जो आठ गुण हैं वे आत्मा के विशेष गुण हैं, अर्थात् वे केवल आत्मा में ही रहते हैं। इन गुणों में परस्पर कारण-कार्य सम्बन्ध है और ये इसी क्रम में गिनाये भी गए हैं। इनमें से प्रत्येक अपने से पूर्ववर्ती का कार्य और परवर्ती का कारण है। समस्त आन्तरिक अनुभवों का बुद्धि मूल है। इनमें सुख और दुख वे हैं जो हमें अभीप्सित हैं या अनभीप्सित। सुख और दुख का भाव इच्छा और द्वेष उत्पन्न करते हैं। इच्छा और द्वेष प्रयत्न उत्पन्न करते हैं। अच्छे प्रयत्न से धर्म और बुरे प्रयत्न से क्रमशः अधर्म उत्पन्न होता है। धर्म और अधर्म संस्कार उत्पन्न करते हैं और यही संस्कार जन्म-मरण का कारण हैं।

इन आठ गुणों में से बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, तथा द्वेष, प्रयत्न, और अदृष्ट आत्मा के विशेष गुण हैं। यहां 'मात्र' कहने का यह अभिप्राय है कि ये केवल आत्मा में ही रहते हैं। दीपिका में आगे चलकर विशेष गुण उसे बताया है जो एक समय में एक ही पदार्थ में रहे, दो या दो से अधिक में नहीं जैसे कि संख्या।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

संस्कारस्त्रिविधः—वेगो भावना स्थितिस्थापकश्चेति। वेगः पृथिव्यादिचतुष्टयमनोवृत्तिः। अनुभवजन्या स्मृतिहेतुर्भावनाऽऽत्ममात्रवृत्तिः। अन्यथा कृतस्य पुनस्तदवस्थापादकः स्थितिस्थापकः कटादिपृथिवीवृत्तिः॥

संस्कार तीन प्रकार के हैं। वेग, भावना और स्थिति स्थापक। वेग पृथ्वी आदि चार (पृथ्वी, जल, तेज और वायु) और मन में रहता है। अनुभव से उत्पन्न और स्मरण के हेतु भावना केवल आत्मा में रहती है। अन्यथा की हुई को फिर उसी अवस्था में ला देनेवाला स्थितिस्थापक गुण कटादि पृथ्वी में रहता है।

(त. दी.) संस्कारं विभजते—संस्कार इति। संस्कारत्वजातिमान्संस्कारः। वेगस्याश्रयमाह—वेग इति। वेगत्वजातिमान्वेगः। भावनां लक्षयति—अनुभवेति। आत्मावावर्तिव्याप्तिवारणाय—अनुभवेति। अनुभवध्वंसेऽतिव्याप्तिवारणाय—स्मृतीति। स्मृतेरपि संस्कारजनकत्वं नवीनैरुक्तम्॥ स्थितिस्थापकं लक्षयति—अन्यथेति॥ संख्यादयोऽष्टौ नैमित्तिकद्रवत्ववेगस्थितिस्थापकाः सामान्यगुणाः। अन्ये रूपादयो विशेषगुणाः। द्रव्यविभाजकोपाधित्रयसमानाधिकरणावृत्ति-द्रव्यकर्मावृत्ति-जातिमत्त्वं विशेषगुणत्वम्॥

संस्कार

संस्कार का लक्षण देना कठिन है। वस्तुतः संस्कार के जो तीन भेद बतलाये गये हैं, वे परस्पर इतने भिन्न स्वभाव के हैं कि उनमें किसी समान गुण का छांट लेना कठिन है। दीपिका में इसलिए कोई शाब्दिक परिभाषा के अतिरिक्त परिभाषा नहीं दी गई। सिद्धान्तचन्द्रोदय में सामान्यगुणात्मविशेषगुणोभयवृत्तिगुणत्वव्याप्यजातिमान् अर्थात् जिस में संस्कारत्व हो, और जो गुणत्व जाति से दूसरे नम्बर पर हो और जो आत्मा के सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के गुणों में रहता हो, वह संस्कार है। गुण दो प्रकार के हैं—सामान्य और विशेष। किन्तु संस्कार दोनों गुणों में समान है क्योंकि वेग और स्थितिस्थापक सामान्य हैं जबकि भावना विशेष गुण है। तार्किक रक्षा में संस्कार की यह परिभाषा दी है—'यज्जातीयः समुत्पाद्यस्तज्जातीयस्य कारणम्। स्वयं यस्माद्विजातीयः संस्कारः स गुणो भवेत्।'[1] अर्थात् जिस गुण से वह कारण उत्पन्न होता हो, जोकि उसी जाति का हो जिस जाति का कार्य है, यद्यपि

---

१. तार्किकरक्षा, ५.४८ अथल्ये और बौडास, तर्कसंग्रह में उद्धृत

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वह स्वयं विजातीय होता है, तो वह संस्कार होता है। इसका अर्थ है कि जब भी कोई गुण या कर्म उसी प्रकार का कार्य उत्पन्न कर दे, तो वह संस्कार होता है जोकि किसी बाह्य सहायता के बिना आन्तरिक शक्ति से ही यह कार्य करता है।

संस्कार तीन प्रकार के हैं—वेग भावना और स्थितिस्थापक। इनमें वेग मूर्त पदार्थों में भी रहता है क्योंकि वेग तब तक नहीं रह सकता जब तक कि गति न हो और गति सीमित पदार्थों की ही हो सकती है। भावना वह है जो अनुभव से उत्पन्न होती है और स्मृति को जन्म देती है। स्थिति-स्थापक वह शक्ति है जो पदार्थ को अपने पूर्व रूप में ले आती है। यह चटाई जैसे पदार्थों में पाई जाती है। इनमें भावना ही वस्तुतः संस्कार है। शेष दो, वेग और स्थितिस्थापक, साक्षात् संस्कार नहीं हैं। बेलेन्टाइन का विचार है कि इन तीनों संस्कारों में बाह्य कारण की अपेक्षा किये बिना स्वयं ही कार्य करने की क्षमता समान है।

चलनात्मकं कर्म। ऊर्ध्वदेशसंयोगहेतुरुत्क्षेपणम्। अधोदेश-संयोगहेतुरपक्षेपणम्। शरीरसंनिकृष्टसंयोगहेतुराकुञ्चनम्। विप्र-कृष्टसंयोगहेतुः प्रसारणम्। अन्यत्सर्वं गमनम्। पृथिव्यादिचतु-ष्टयमनोमात्रवृत्ति॥

चलनात्मक कर्म है। ऊर्ध्व देश से संयोग का हेतु उत्क्षेपण है। अधोदेश से संयोग का हेतु अपक्षेपण है। शरीर के समीप संयोग का हेतु आकुंचन है (शरीर से) दूर संयोग का हेतु प्रसारण है। शेष सब गमन है। ये (कर्म) पृथ्वी आदि (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) तथा मन में रहते हैं।

(त. दी.)—कर्मणो लक्षणमाह—चलनेति। उत्क्षेपणादीनां कार्यभेद-माह—ऊर्ध्वेति। शरीरेति। वक्रत्वसंपादकमाकुञ्चनम्। ऋजुतासंपादकं प्रसारणमित्यर्थः॥

नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्। द्रव्यगुणकर्मवृत्ति। तद् द्वि-विधम्—परापरभेदात्। परं सत्ता। अपरं द्रव्यत्वादि॥

नित्य एक (किन्तु) अनेकों में अनुगत सामान्य है। यह द्रव्य, गुण और कर्म में रहता है। पर सामान्य सत्ता है। अपर द्रव्यत्व आदि है।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(त. दी.)—सामान्यं लक्षयति—नित्यमिति । संयोगादावतिव्याप्तिवारणाय नित्यमिति । परमाणुपरिमाणादावतिव्याप्तिवारणाय—अनेकेति । अनुगतत्वं समवेतत्वम् । घटात्यन्ताभावो घटाद्यनुगतोऽप्यसमवेत इति नाभावादावतिव्याप्तिः ॥

नित्यद्रव्यवृत्तयो व्यावर्तका विशेषाः ॥

नित्य द्रव्य में रहने वाले व्यावर्तक विशेष हैं।

(त. दी.)—विशेषं लक्षयति—नित्येति ॥

नित्यसंबन्धः समवायः । अयुतसिद्धवृत्तिः । ययोर्द्वयोर्मध्य एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ । यथाऽवयवावयविनौ, गुणगुणिनौ, क्रियाक्रियावन्तौ, जातिव्यक्ती, विशेषनित्यद्रव्ये चेति ॥

नित्य सम्बन्ध समवाय है । यह अयुतसिद्ध पदार्थों में रहता है । जिन दो के बीच एक जब तक नष्ट न हो, दूसरे पर ही आश्रित होकर रहे वे अयुतसिद्ध होते हैं, जैसे अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति तथा विशेष और नित्य द्रव्य ।

(त. दी.)—समवायं लक्षयति—नित्येति। संयोगेऽतिव्याप्तिवारणाय—नित्येति । आकाशादावतिव्याप्तिवारणाय—संबन्ध इति । अयुतसिद्धलक्षणमाह—ययोरिति । 'नीलो घटः' इति विशिष्टप्रतीतिर्विशेषणविशेष्यसंबन्धविषया विशिष्टप्रत्ययत्वाद्दण्डीति प्रत्ययवदिति समवायसिद्धिः । अवयवावयविनाविति । द्रव्यसमवायिकारणमवयवः । तज्जन्यद्रव्यमवयवि ॥

कर्म से लेकर समवाय तक के विषयों की चर्चा हम प्रारम्भ में ही विस्तृत रूप में कर चुके हैं। (देखिये पृ० १२–२१)

अनादिः सान्तः प्रागभावः । उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य । सादिरनन्तः प्रध्वंसः । उत्पत्त्यनन्तरं कार्यस्य । त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽत्यन्ताभावः । यथा भूतले घटो नास्तीति । तादात्म्यसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽन्योन्याभावः । यथा घटः पटो न भवतीति ॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जिसका आदि न हो वह प्रागभाव है। उत्पत्ति के पूर्व कार्य का प्राग-भाव होता है। जिसका आदि हो अन्त न हो वह प्रध्वंस है। उत्पत्ति के अनन्तर कार्य का प्रध्वंसाभाव होता है। जिस अभाव की प्रतियोगिता संसर्ग से अनवच्छिन्न हो और जो तीनों कालों में रहे वह अत्यन्ताभाव है। जैसे भूतल पर घड़ा नहीं है। जिसकी प्रतियोगिता तादात्म्य सम्बन्ध से अवच्छिन्न हो वह अन्योऽन्याभाव है। जैसे घट पट नहीं है।

(त. दी.)—प्रागभावं लक्षयति—अनादिरिति। आकाशादावतिव्याप्ति-वारणाय–सान्त इति। घटादावतिव्याप्तिवारणाय–अनादिरिति। प्रतियोगि-समवायिकारणवृत्तिः प्रतियोगिजनको भविष्यतीति व्यवहारहेतुः प्रागभावः॥ प्रध्वंसं लक्षयति—सादिरिति। घटादावतिव्याप्तिवारणाय–अनन्त इति। आकाशादावतिव्याप्तिवारणाय—सादिरिति॥ प्रतियोगिजन्यः प्रतियोगिसम-वायिकारणवृत्तिर्ध्वंस्तव्यवहारहेतुर्ध्वंसः॥ अत्यन्ताभावं लक्षयति—त्रैका-लिकेति॥ अन्योन्याभावेऽतिव्याप्तिवारणाय—संसर्गावच्छिन्नेति। ध्वंस-प्रागभावयोरतिव्याप्तिवारणाय–त्रैकालिकेति॥ अन्योन्याभावं लक्षयति—तादात्म्येति। प्रतियोगितावच्छेदकारोप्यसंसर्गभेदादेकप्रतियोगिकयोरप्यत्य-न्ताभावान्योन्याभावयोर्बहुत्वम्। केवलदेवदत्ताभावात् दण्ड्यभाव इति प्रतीत्या विशिष्टाभावः। 'एकसत्त्वे द्वौ न स्तः' इति प्रतीत्या द्वित्वावच्छिन्नोऽभावः। संयोगसंबन्धेन घटवति समवायसंबन्धेन घटाभावः। तत्तद्घटाभावाद्घटत्वा-वच्छिन्नप्रतियोगिताकसामान्याभावश्चातिरिक्तः॥ एवमन्योन्याभावोऽपि। घट-त्वावच्छिन्नः पटो नास्तीति व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावो नाङ्गी-क्रियते। पटे घटत्वं नास्तीति तस्यार्थः। अतिरिक्तत्वे स केवलान्वयी।

सामयिकाभावोऽत्यन्ताभाव एव समयविशेषे प्रतीयमानः। घटाभाववति घटानयनेऽत्यन्ताभावस्यान्यत्र गमनाभावेऽप्यप्रतीतेर्घंटापसरणे सति प्रतीतेः। भूतले घटसंयोगप्रागभावप्रध्वंसयोरत्यन्ताभावप्रतीतिनियामकत्वं कल्प्यते। घटवति तत्संयोगप्रागभावप्रध्वंसयोरसत्त्वादत्यन्ताभावस्याप्रतीतिः। घटापसरणे च संयोगध्वंससत्त्वात्प्रतीतिरिति। केवलाधिकरणादेव नास्तीति व्यवहारोप-पत्तावभावो न पदार्थान्तरमिति गुरवः,—तन्न; अभावानङ्गीकारे कैवल्यस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्। अभावाभावो भाव एव नातिरिक्तः, अनवस्थाप्रसङ्गात्। ध्वंसप्रागभावः प्रागभावध्वंसश्च प्रतियोग्येवेति प्राञ्चः। अभावाभावोऽतिरिक्त एव, तृतीयाभावस्य प्रथमाभावरूपत्वान्नानवस्थेति नवीनाः॥

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अभाव

अभाव का अर्थ है भाव-भिन्न । अभाव के चार भेद पहले ही बतलाये जा चुके हैं । प्रागभाव सान्त किन्तु अनादि होता है । प्रध्वंसाभाव सादि किन्तु अनन्त होता है । अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव अनादि और अनन्त होते हैं । अर्थात् पहले दो अभाव नित्य हैं शेष दो अनित्य । प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव कार्य से सम्बद्ध हैं । प्रागभाव कार्य के उत्पन्न होने से पहले होता है, प्रध्वंसाभाव कार्य नष्ट होने के बाद । किन्तु वह कार्य जो नष्ट होकर दोबारा उत्पन्न हो जाए, क्या यह सिद्ध नहीं कर देगा कि ध्वंस का भी अन्त हो गया ? नैयायिकों का उत्तर है कि नहीं । क्योंकि दूसरा कार्य प्रथम कार्य से भिन्न है । जो नष्ट हो गया वह फिर नहीं उत्पन्न होगा और जो कार्य उत्पन्न हुआ था, वह पहले नहीं था । दीपिका कहती है कि प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव प्रतियोगी के उपादान कारण में रहते हैं । उदाहरणतः घटाभाव मृत् परमाणु में रहता है । दूसरे वे प्रतियोगी के कारण और कार्य के क्रमशः उत्तरदायी हैं । तीसरे उन्हीं के कारण हम यह कह सकते हैं कि यहां यह होगा या यहां यह हो चुका है ।

अत्यन्ताभाव नित्य होता है तथा अत्यन्ताभावी प्रतियोगिता तादात्म्यभिन्नसंसर्गावच्छिन्ना होती है। अन्योन्याभाव भी नित्य है किन्तु इसकी प्रतियोगिता तादात्म्यसंसर्गावच्छिन्ना होती है। उसका प्रतियोगी दो पदार्थों के परस्पर तादात्म्य के सम्बन्ध से नित्य होता है। अत्यन्ताभाव प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव से भिन्न है क्योंकि यह त्रैकालिक है । अत्यन्ताभाव का अर्थ है जो अन्त का अतिक्रमण कर जाए ।

एक पदार्थ जिस सम्बन्ध से दूसरे में रहता है वह संसर्ग कहलाता है। घट अधिकरण में जिस सम्बन्ध से रहता है वह संयोग-सम्बन्ध है और गंध पृथ्वी में समवाय सम्बन्ध से रहती है । ये दोनों ही सम्बन्ध संसर्ग हैं । यदि घट भूतल पर दिखाई दे तो हम घटवद्भूतलम् कहेंगे जिसका अर्थ होगा—संयोगसंबन्धेन घटवत् और भूतले घटो नास्ति का अर्थ संयोगसम्बन्धावच्छिन्न भूतलनिष्ठघटाभाव समझा जायेगा और घटाभावी प्रतियोगिता संयोग-सम्बन्धावच्छिन्ना मानी जायेगी । यहां यह भी ध्यान देने योग्य है कि संयोगेन घटवत्ता बुद्धि संयोगसम्बन्धावच्छिन्नघटाभाववत्ता बुद्धि के प्रति ही विरोधी है न कि समवायावच्छिन्न घटाभाववत्ता बुद्धि के प्रति । जहां भी किसी पदार्थ का अत्यन्ताभाव कहा जाता है वहाँ यह समझा जाता है कि जिस संसर्ग विशेष से

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वह पदार्थ अधिकरण में ज्ञात हुआ था उसी संसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताक-तदभाव।

अन्योन्याभाव अत्यन्ताभाव से भिन्न है क्योंकि यह दूसरे प्रकार के सम्बन्ध पर आधृत है। अन्योन्याभाव में कोई पदार्थ किसी अभाव का प्रतियोगी होता है जो कि किसी दूसरे पदार्थ में तादात्म्य सम्बन्ध से रहता है, संयोग या समवाय सम्बन्ध से नहीं। अत्यन्ताभाव में वह संयोग या समवाय सम्बन्ध से रहता है। संक्षेप में अन्योन्याभाव में हम प्रतियोगी और अनुयोगी में कोई सम्बन्ध नहीं मानते जबकि अन्योन्याभाव में हम केवल दोनों के तादात्म्य सम्बन्ध का ही निषेध करते है। जब हम कहते हैं भूतलं घटो न, तो हम यही कहना चाहते हैं कि वे दोनों एक नहीं हैं। किन्तु जब हम 'भूतले घटो नास्ति' कहते हैं तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि भूतल और घट में केवल तादात्म्य का ही अभाव नहीं है प्रत्युत उनका एक दूसरे से सम्बन्ध भी नहीं है। अत्यन्ताभाव दो पदार्थों में संसर्ग का निषेध करता है, अन्योन्याभाव तादात्म्य का।

सिद्धान्तचन्द्रोदय में अत्यन्ताभाव दो प्रकार का माना गया है—एक तो वह जहां किसी पदार्थ के धर्म को कहीं न माना गया हो जैसे घटत्वाभाव, दूसरा वह जिसका प्रतियोगी अनेक पदार्थों में मिलकर रहता हो जैसे द्वित्वाभाव। किन्तु दीपिकाकार का कहना है कि इस प्रकार तो यह अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव, जितने प्रकार के संसर्ग और तादात्म्य होंगे, उतने ही प्रकार का हो जाएगा।

मीमांसकों में प्रभाकर नैयायिकों का मत नहीं मानते क्योंकि वे अभाव को अधिकरण से भिन्न नहीं मानते हैं। मीमांसक और वेदान्तियों के अनुसार अभाव केवल अधिकरण ही है। दीपिका ने इस मत का यह कहकर खण्डन किया है कि अधिकरण में कैवल्य का निश्चय करना कठिन है किन्तु मीमांसकों का कहना है कि यदि अभाव को पृथक् मानें तो अनवस्था होगी क्योंकि घट का अभाव घटाभाव होगा तो घटाभाव का अभाव एक दूसरा अभाव होगा। अतः प्राचीन नैयायिक घटाभाव के अभाव को घट ही मान लेते हैं। नव्य-नैयायिक इस दूसरे अभाव को न घट मानते हैं न घटाभाव प्रत्युत एक तीसरा अभाव मानते हैं जोकि प्रथम घटाभाव से अभिन्न है। उनका कहना है कि अभाव का तादात्म्य अभाव से ही हो सकता है घट जैसी भाव वस्तु से नहीं। अन्नम्भट्ट प्राचीन मत मानते हैं।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सर्वेषां पदार्थानां यथायथमुक्तेष्वन्तर्भावात्सप्तैव पदार्था इति सिद्धम् ॥

सभी पदार्थों का यथोचित रूप में उक्त पदार्थों में ही अन्तर्भाव हो जाने के कारण सात ही पदार्थ हैं यह सिद्ध होता है ।

कणादन्यायमतयोर्बालव्युत्पत्तिसिद्धये ।
अन्नंभट्टेन विदुषा रचितस्तर्कसंग्रहः ॥

कणाद और न्याय मत में बालकों की कुशलता सिद्ध करने के लिए विद्वान् अन्नम्भट्ट ने तर्क संग्रह बनाया ।

(त. दी.)—ननु 'प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-च्छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः' इति न्यायशास्त्रे षोडशपदार्थानामुक्तत्वात्कथं सप्तैवेत्यत आह—सर्वेषामिति । सर्वेषां सप्तस्वेवान्तर्भाव इत्यर्थः । 'आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धि-मनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्' इति द्वादशविधं प्रमेयम् । प्रवृत्तिर्धर्माधर्मौ । रागद्वेषमोहा दोषाः । राग इच्छा । द्वेषो मन्युः । मोहः शरीरादावात्मभ्रमः । प्रेत्यभावो मरणम् । फलं भोगः । अपवर्गो मोक्षः । स च स्वसमानाधिकरणदुःखप्रागभावासमानकालीनदुःखध्वंसः । प्रयोजनं सुखं दुःखहानिश्च । दृष्टान्तो महानसादिः । प्रामाणिकत्वेनाभ्युपगतोऽर्थः सिद्धान्तः । निर्णयो निश्चयः । स च प्रमाणफलम् । तत्त्वबुभुत्सोः कथा वादः । उभयसाधनवती विजिगीषुकथा जल्पः । स्वपक्षस्थापनहीना वितण्डा । कथा नाम नानावक्तृकः पूर्वोत्तरपक्षप्रतिपादकवाक्यसंदर्भः । अभिप्रायान्तरेण प्रयुक्तस्यार्थान्तरं प्रकल्प्य दूषणं छलम् । असदुत्तरं जातिः । साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्य-विकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यासमा जातयः । वादिनोऽपजयहेतुर्निग्रहस्थानम् । प्रतिज्ञाहानिः, प्रतिज्ञान्तरं, प्रतिज्ञाविरोधः, प्रतिज्ञासंन्यासः, हेत्वन्तरम्, अर्थान्तरं निरर्थकम्, अविज्ञातार्थकम्, अपार्थकम्, अप्राप्तकालं, न्यूनम्, अधिकं, पुनरुक्तम्, अननुभाषणम्, अज्ञानम्, अप्रतिभाविक्षेपः, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षणं, निरनुयोज्यानुयोगः, अपसिद्धान्तः, हेत्वाभासश्च निग्रहस्थानानि । शेषं सुगमम् ॥

ननु करतलानलसंयोगे सत्यपि प्रतिबन्धके सति दाहानुत्पत्तेः शक्तिः पदार्थान्तरमिति चेत्,—न; प्रतिबन्धकाभावस्य कार्यमात्रे कारणत्वेन शक्तेरनुपयोगात् कारणस्यैव शक्तिपदार्थत्वात् । ननु भस्मादिना कांस्यादौ शुद्धिदर्शनादाधेयशक्ति-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

दङ्गीकार्येति चेत्,—न; भस्मादिसंयोगसमानकालीनास्पृश्यस्पर्शप्रतियोगिकयावद्भावसहितभस्मादिसंयोगध्वंसस्य शुद्धिपदार्थत्वात् ॥

स्वत्वमपि न पदार्थान्तरम्, यथेष्टविनियोगयोग्यत्वस्य स्वत्वरूपत्वात् । तदवच्छेदकं च प्रतिग्रहादिलभ्यत्वमेवेति ॥

अथ विधिर्निरूप्यते । प्रयत्नजनकचिकीर्षाजनकज्ञानविषयो विधिः । तत्प्रतिपादको लिङादिर्वा । कृत्यसाध्ये प्रवृत्त्यदर्शनात् कृतिसाध्यताज्ञानं प्रवर्तकम् । न च विषभक्षणादौ प्रवृत्तिप्रसङ्गः । इष्टसाधनतालिङ्गककृतिसाध्यताज्ञानस्य काम्यस्थले नित्यनैमित्तिकस्थले च विहितकालजीवित्वनिमित्तकज्ञानजन्यस्यैव प्रवर्तकत्वात् । न चाननुगमः, स्वविशेषणवत्ताप्रतिसंधानजन्यत्वस्यानुगतत्वादिति गुरवः,—तन्न; लाघवेन कृतिसाध्येष्टसाधनताज्ञानस्यैव चिकीर्षाद्वारा प्रयत्नजनकत्वात् । न च नित्ये इष्टसाधनत्वाभावादप्रवृत्तिप्रसङ्गः, तत्रापि प्रत्यवायपरिहारस्य पापक्षयस्य च फलत्वकल्पनात् । तस्मात्कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमेव लिङाद्यर्थः । ननु "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इत्यत्र लिङा स्वर्गसाधनकार्यं प्रतीयते । यागस्याशुविनाशिनः कालान्तरभाविस्वर्गसाधनत्वायोगात्तद्योग्यं स्थायिकार्यमपूर्वमेव लिङाद्यर्थः ॥ कार्यं कृतिसाध्यम्, कृतेः सविषयत्वात् । विषयाकाङ्क्षायां यागो विषयत्वेनान्वेति । 'कस्य कार्यम् ?' इति नियोज्याकाङ्क्षायां स्वर्गकामपदं नियोज्यपरतयान्वेति । कार्यबोद्धा नियोज्यः । तेन 'ज्योतिष्टोमनामकयागविषयकं स्वर्गकामस्य कार्यम्' इति वाक्यार्थः संपद्यते । वैदिकालिङत्वात् "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्" इति नित्यवाक्येऽप्यपूर्वमेव वाच्यं कल्प्यते । "आरोग्यकामो भैषजपानं कुर्यात्" इत्यादौ लौकिकलिङः क्रियाकार्ये लक्षणेति चेत्,—न; यागस्याप्ययोग्यतानिश्चयाभावेन साधनतया प्रतीत्यनन्तरं तन्निर्वार्यमवान्तरव्यापारतया अपूर्वकल्पनात् । कीर्तनादिनाऽनाशशुतेर्न यागध्वंसो व्यापारः । लोकव्युत्पत्तिबलात्क्रियायामेव कृतिसाध्येष्टसाधनत्वं लिङा बोध्यत इति लिङत्वेन रूपेण विध्यर्थत्वम् । आख्यातत्वेन प्रयत्नार्थकत्वम् । पचति पाकं करोतीति विवरणदर्शनात् "किं करोति?' इति प्रश्ने 'पचती' त्युत्तराच्चाख्यातस्य प्रयत्नार्थकत्वनिश्चयात् । रथो गच्छतीत्यादावनुकूलव्यापारे लक्षणा "देवदत्तः पचति तण्डुलान्, देवदत्तेन पच्यते तण्डुलः" इत्यत्र कर्तृकर्मणोर्नाख्यातार्थत्वम्, किंतु तद्गतैकत्वादीनामेव । तयोराक्षेपादेव लाभः । प्रजयतीत्यादौ धातोरेव प्रकर्षे शक्तिः । उपसर्गाणां द्योतकत्वमेव । न तत्र शक्तिरस्ति ॥

पदार्थज्ञानस्य परमं प्रयोजनं मोक्षः । तथा हि—'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृह.उ. २।४।५) इति श्रुत्या श्रवणादीनामात्म-

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

साक्षात्कारहेतुत्वबोधनात्। श्रुत्या देहादिविलक्षणात्मज्ञाने सत्यप्यसंभावनाऽनिवृत्तेर्युक्त्यनुसन्धानरूपमननसाध्यत्वात् मननोपयोगिपदार्थनिरूपणद्वारा शास्त्रस्यापि मोक्षोपयोगः। तदनन्तरं श्रुत्युपदिष्टयोगविधिना निदिध्यासने कृते तदनन्तरं देहादिविलक्षणात्मसाक्षात्कारे सति देहादावहमभिमानरूपमिथ्याज्ञाननाशे सति दोषाभावात्प्रवृत्त्यभावे धर्माधर्मयोरभावाज्जन्माभावे पूर्वधर्माधर्मयोरनुभवेन नाशे चरमदुःखध्वंसलक्षणो मोक्षो जायते। ज्ञानमेव मोक्षसाधनं मिथ्याज्ञाननिवृत्तेर्ज्ञानमात्रसाध्यत्वात् "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वेता.उ.३।८।६।१५) इति साधनान्तरनिषेधाच्च। ननु "तत्प्राप्तिहेतुर्विज्ञानं कर्म चोक्तं महामुने" (भवसं.उ. १।३२) इति कर्मणोऽपि मोक्षसाधनत्वस्मरणाज्ज्ञानकर्मणोः समुच्चय इति चेत्,—न; "नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्। ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन च पाचयेत्। अभ्यासात्पक्वविज्ञानः कैवल्यं लभते नरः" इत्यादिना कर्मणो ज्ञानसाधनत्वप्रतिपादनात्। ज्ञानद्वारैव कर्म मोक्षसाधनं, न साक्षात्। तस्मात्पदार्थज्ञानस्य मोक्षः परमं प्रयोजनमिति सर्वं रमणीयम्॥

इति श्रीमद्द्वैतविद्याचार्य-श्रीमद्राघवसोमयाजिकुलावतंस-श्रीमत्तिरुमलाचार्यवर्यस्य सूनुनाऽन्नंभट्टेन कृता स्वकृततर्कसंग्रहस्य दीपिका संपूर्णा॥

उपसंहार

दीपिका ने अन्त में गौतम के बतलाये सोलह पदार्थों का तर्कसंग्रह में बतलाये गये सात पदार्थों में कैसे अन्तर्भाव हो जाता है, यह बतलाया है। नैयायिकों में ये १६ पदार्थ माने जाते हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान। दीपिका में इनके लक्षण और भेद संक्षेप में दिखलाये हैं। वस्तुतः ये १६ पदार्थ नहीं हैं प्रत्युत १६ विषय हैं जोकि गौतम के न्यायसूत्र में प्रतिवादी से वाद करते समय प्रयोग में लाने के लिए विवेचित हैं। अतः कणाद के ७ पदार्थों से इनका कोई समन्वय नहीं है। किन्तु कुछ दूसरे दर्शन अन्य पदार्थ भी मानते हैं; उनका भी अन्तर्भाव इन ९ में ही हो जाता है। उदाहरणतः शक्ति, जैसाकि हम पहले ही कह चुके हैं, स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। अग्नि में रहने वाली शक्ति अग्नि ही है। स्वत्व किसी पदार्थ को जिस प्रकार हम चाहें उस प्रकार प्रयोग में लाने की क्षमता का नाम है। सादृश्य भी स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। सादृश्य तो दो

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पदार्थों में भिन्न होने पर भी उनमें एक ही धर्म का होना कहलाता है।[1]

दीपिका में अन्त में यजेत जुहुयात् आदि वैदिक विधियों का अर्थ दिया है। इसका अभिप्राय यह है कि न्याय के ग्रन्थ में भी वेद के वाक्यों पर विचार अभिप्रेत है। विधि का अर्थ है विधायक वाक्य।[2] वेद में तीन प्रकार के वाक्य होते हैं—विधि, अर्थवाद, और अनुवाद। इनमें विधि ही प्रधान है। विधि दो प्रकार की है—नियोग—अर्थात् आज्ञा जैसे—अग्निहोत्रं जुहुयात् और अनुज्ञा अर्थात् अनुमिति जैसे ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत। नियोग में नित्य कर्म का विधान होता है, अनुज्ञा में काम्य कर्म की अनुमति होती है। अन्नम्भट्ट का विधि का लक्षण है—वह वाक्य जिससे ऐसे कार्य करने की इच्छा हो जिससे हम प्रयत्न करें। उदाहरणतः—ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत में यजमान को ज्योतिष्टोम करने की प्रेरणा मिलती है और तब वह उसके लिए प्रयत्न करता है। किन्तु ज्योतिष्टोम से स्वर्ग कैसे मिल सकता है क्योंकि कर्म तो फलायोगव्यवच्छिन्न होता है, अर्थात् वह फल से तुरन्त पहले होना चाहिए। किन्तु यहां यज्ञ करने के बहुत देर बाद फल मिलेगा। अतः यज्ञ और स्वर्ग मिलने के बीच में जो अन्तराल है उसके लिए अपूर्व नाम के व्यापार की कल्पना की गई है।

जीवन का चरम लक्ष्य

न्याय के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य स्वर्ग नहीं, मोक्ष है। दीपिका का कहना है कि पदार्थों का विवेचन यह जानने के लिए है कि पदार्थ और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं। गौतम ने मोक्ष का अर्थ आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्ति माना है जबकि कणाद ने आत्मा का शरीर से पृथक् हो जाना और अदृष्ट के अभाव में उनका फिर न मिल पाना मोक्ष माना है।[3] इन दोनों ही दर्शनों के अनुसार मोक्ष में सुख नहीं, केवल दुःख का अभाव होता है। ज्ञान ही से मोक्ष है, कर्म से नहीं। कर्म मन को निर्मल बनाकर मोक्ष में परम्परया सहायक हो सकते हैं। जब ज्ञान ध्यान द्वारा परिपक्व होता है तो मोक्ष का कारण होता है। गौतम ने दुःख, जन्म, प्रवृत्ति,

---

१. तुलनीय न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, कारिका २ (पृ० १२)

२. तुलनीय न्यायसूत्र, २.१.६३

३. विश्वनाथवृत्ति, वैशेषिकसूत्र, २.१८ अथल्ये और बोडास तर्क संग्रह में पृ० ३७१ पर उद्धृत

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

और मिथ्याज्ञान ये पांच कारण माने हैं जिनमें से उत्तरोत्तर का नाश होने पर पूर्वपूर्व स्वयं ही हो नष्ट जाते हैं[1] अर्थात् मिथ्या ज्ञान न रहे तो दोष, दोष न रहे तो प्रवृत्ति, प्रवृत्ति न रहे तो जन्म, और जन्म न रहे तो दुःख न रहेगा। यही न्याय का अन्तिम लक्ष्य है। इसलिए सर्वप्रथम मिथ्या ज्ञान हटाना चाहिए। इस मिथ्या ज्ञान का कारण हमारा यह अज्ञान है कि हम शरीर और आत्मा को एक ही मान लेते हैं। पदार्थों को यथार्थतः जानने से यह अज्ञान दूर हो जाता है।

यही न्याय का प्रयोजन है। सभी दार्शनिक इस विषय में एकमत हैं। वे आपस में परस्पर भिन्न मत रखते हुए भी ज्ञान के और सत्य के उपासक हैं। अतः ज्ञानान्मोक्षः यह भारतीय दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त है और सभी दर्शनों का मिलनस्थल भी।

---

१. न्यायसूत्र, १.१.२

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परिशिष्ट १

बौद्ध-न्याय

तर्कसंग्रह में दो प्रकार का विवेचन है—प्रमेय पदार्थों का और प्रमाणों का। सभी दर्शनों में ये दोनों ही विवेचन रहते हैं और बौद्धदर्शन भी उसका अपवाद नहीं है। जहां तक प्रमेय का प्रश्न है बौद्ध दर्शन प्रधानतः चार मतों में विभक्त है। अतः प्रमेयों का विवेचन संक्षेप में चारों मतों के अनुसार दिया जाता है।

इन मतों में प्रथम है—वैभाषिक। इनके अनुसार पदार्थ तीन भागों में बांटे जा सकते हैं—(१) पंच स्कंध—इनमें रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान आते हैं। (२) द्वादश आयतन—इसमें चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय तथा मन, ये छह इन्द्रियां जो अध्यात्मायतन कहलाती हैं और उनके छह विषय—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श तथा धर्म जो बाह्य आयतन कहलाते हैं, आते हैं। (३) अष्टादश धातु—इनमें ऊपर के बारह आयतन और छह इन्द्रियों के छह विज्ञान जो धातु कहलाते हैं, आते हैं। ये छह विज्ञान, चक्षुर्विज्ञान धातु, श्रोत्रविज्ञान धातु, घ्राणविज्ञान धातु, जिह्वाविज्ञान धातु, कायविज्ञान धातु तथा मनोविज्ञान धातु हैं। समस्त जगत्, जो इन तीन धातुओं से बना है, वह धर्मों का समुच्चय है। धर्म का अर्थ है–सत्ता। यह दो प्रकार की है—(१) सास्रव और (२) अनास्रव। इनमें सास्रव धर्म हैं–११ रूप धर्म, १ चित्त धर्म, ४६ चैत्त धर्म और १४ भौतिक और मानसिक धर्मों से घटित संस्कार। अनास्रव तीन प्रकार के हैं। प्रथम आकाश है दूसरा प्रतिसंख्यानिरोध—यदि राग का सर्वथा त्याग कर दिया जाए, तो प्रतिसंख्यानिरोध का उदय होता है—तीसरा अप्रतिसंख्यानिरोध अर्थात् जहां प्रज्ञा के बिना निरोध हो। इस प्रकार ७२ सास्रव और ३ अनास्रव मिलकर ७५ धर्म हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु—ये चार भूत हैं जिन के अणु भी चार ही प्रकार के होते हैं—आकाश भूत नहीं है।

सौत्रान्तिक मत के अनुसार भूत तथा भविष्य काल की कल्पना वास्तविक नहीं है। केवल वर्तमान ही सत्य है। क्योंकि वैभाषिक तीनों कालों को सत्य मानते हैं इसीलिए वे सर्वास्तिवादी कहलाते हैं। सौत्रान्तिक ज्ञान को स्वतः

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रमाण मानते हैं। यह बाह्य जगत् को क्षणिक होने के कारण प्रत्यक्षगम्य न मानकर अनुमानगम्य मानते हैं। बाह्यवस्तु सत् अवश्य है, किन्तु वस्तु का आकार कुछ सौत्रान्तिकों के मत में पदार्थ में रहता है, कुछ के अनुसार वह आकार हमारे चित्त द्वारा विनिर्मित है। परमाणुओं के सम्बन्ध में इनका मत है कि परमाणु परस्पर स्पर्श नहीं करते क्योंकि उनका अवयव नहीं होता। अतः यदि स्पर्श मानें तो पूर्ण का पूर्ण के साथ ही होगा और यदि पूर्ण परमाणु का स्पर्श मानें तो फिर उनमें तादात्म्य मानना पड़ेगा। अतः परमाणु के बीच में अन्तर नहीं होता, किन्तु उनका स्पर्श भी नहीं होता। पदार्थ अनित्य नहीं, बल्कि क्षणिक हैं। वस्तु असत् में से आती है और असत् में ही लीन हो जाती है।

सौत्रान्तिक, जिसे विज्ञानवाद भी कहते हैं, ज्ञान को तो मानता ही है, ज्ञेय को नहीं मानता, प्रत्युत ज्ञेय को केवल हमारे विज्ञान का ही प्रतिफलन मानता है।

विज्ञानवाद के अनुसार चित्त ही एकमात्र पदार्थ है, संसार के समस्त पदार्थ उसी का विजृंभण हैं। उपचार दो प्रकार के हैं—आत्मोपचार और धर्मोपचार। आत्मोपचार हैं—जीव, जन्तु, आत्मा और मनुष्य। धर्मोपचार हैं—स्कंध, धातु, आयतन, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान।

शून्यवाद के अनुसार सब शन्य ही है। शून्य का अर्थ है कि जो चार कोटियों से परे हो—अस्ति, नास्ति, तदुभयं तथा नोभयम्। इन चार कोटियों में परम तत्त्व नहीं आता। यही शून्य है। यह शून्य अभाव नहीं है, क्योंकि अभाव सापेक्ष होता है। यह शून्य निरपेक्ष है। यह इन चारों के मध्य में है। अतः इस सिद्धान्त को मानने वाले माध्यमिक कहलाते हैं। यह समस्त संसार इस शून्य का ही विवर्त्त है। नागार्जुन दो प्रकार की सत्यता मानते हैं—पारमार्थिक तथा सांवृत्तिक। संवृत्ति माया है। इससे स्वभाव का आवरण होता है और असद् पदार्थ स्वरूप का आरोपण। परमार्थ इससे विलक्षण है। इसका दर्शन केवल योगियों को ही हो सकता है। इस प्रकार माध्यमिक दर्शन में नागार्जुन ने नितान्त सूक्ष्म पद्धति से, जोकि अभावात्मक है, गति, इन्द्रिय, स्कंध, धातु, दुःख, संसर्ग, स्वभाव, कर्म, बन्ध, मोक्ष, काल, आत्मा, इन सबको असत् कह दिया है। इस दर्शन के अन्तर्गत सूक्ष्म का विवेचन हुआ और प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण तथा प्रमिति इन सबका खण्डन हो गया। कुमारिल भट्ट ने इस सिद्धान्त का खण्डन किया, मल्लिषेण ने भी इसमें दोष दिखलाया और शंकराचार्य ने इसे सर्व-प्रमाण-प्रतिषिद्ध बतलाया।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रमाण

सब पुरुषार्थ सम्यक् ज्ञान से उत्पन्न होते हैं। यह सम्यक् ज्ञान दो प्रकार का है—प्रत्यक्ष और अनुमान। प्रत्यक्ष वह है जहां न कल्पना है न भ्रांति। कल्पना का अर्थ है—शब्द के कहने पर उस शब्द द्वारा इंगित पदार्थ का जो चित्र हमारे मन में बनता है। प्रत्यक्ष ज्ञान शब्द के द्वारा मन में बनने वाला चित्र नहीं है, प्रत्युत पदार्थ का सीधा साक्षात्कार है। भ्रांतिरहित होने का अर्थ यह है कि जो ज्ञान अंधेरे में या चक्कर आ जाने पर या सिर चकराने इत्यादि से होता है, वह भ्रान्त होता है, ऐसा ज्ञान भी प्रत्यक्ष नहीं कहला सकता। प्रत्यक्ष ज्ञान चार प्रकार का है—इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान इन्द्रिय ज्ञान है, यह पहला प्रत्यक्ष है। दूसरा प्रत्यक्ष मनोविज्ञान है, यह समनन्तर प्रत्ययरूप इन्द्रिय ज्ञान से उत्पन्न होता है। समनन्तर प्रत्ययरूप को समझ लेना चाहिए। किसी ज्ञान के लिए चार प्रत्यय अर्थात् कारण हैं। जैसे घट को देखने में पहला घट, स्वयं ही, कारण है। यह आलम्बन प्रत्यय कहलाता है। दूसरा कारण प्रकाश है। यह सहकारी प्रत्यय है। तीसरा कारण चक्षु है, यह अधिपति प्रत्यय है और चौथा कारण देखने की वह शक्ति है, जिसका यदि हम उपयोग न करें तो देखने पर भी नहीं देखते। यही समनन्तर प्रत्यय है। इसके द्वारा उत्पन्न होने वाला ज्ञान मनोविज्ञान है। तीसरा प्रत्यक्ष है—आत्मसंवेदन जिसका अर्थ है सभी चित्त (अर्थ मात्र को ग्रहण करने वाले) और चैत्तों (विशेष अवस्था को ग्रहण करने वाले सुख आदि) का आत्मा को प्रकट करना। प्रत्येक वस्तु के दो भेद हैं—बाह्य और आन्तर। बाह्य के दो भेद हैं—भूत और भौतिक। आन्तर के दो भेद हैं—चित्त और चैत्त। पृथ्वी आदि चार भूत हैं। रूप और चक्षु आदि भौतिक हैं। चित्त विज्ञान है। रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार—ये पांच स्कंध चैत्तिक हैं। विज्ञान दो हैं—आलय विज्ञान, जो अहम् का ज्ञान कराता है तथा प्रवृत्ति विज्ञान, जो इन्द्रिय से होता है और रूप आदि को ग्रहण करता है। इस प्रकार यह देखेंगे कि न्याय वैशेषिक के अनुसार यद्यपि ज्ञान प्रत्यक्ष का विषय है, किन्तु वह स्वतः प्रत्यक्ष नहीं है। उसका ज्ञान एक अन्य ज्ञान से होता है जिसे अनुव्यवसाय कहते हैं। योगाचार में ज्ञान स्वप्रकाश है। वह दीपक के समान दूसरों को भी प्रकाशित करता है और स्वयं भी प्रकाशित होता है। चौथा प्रत्यक्ष है योगि-प्रत्यक्ष। योगि-प्रत्यक्ष से ही भाव्यमान और अतीत के भी पदार्थों का ज्ञान योगी को हो जाता है। यह

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रत्यक्ष अलौकिक योगजसन्निकर्ष से जन्य है। यह निर्विकल्पक है। प्रत्यक्ष स्वलक्षण है। स्वलक्षण का अर्थ है जिस विषय की समीपता और असमीपता से ज्ञान के प्रतिभास में भेद होता हो। जो स्वलक्षण से भिन्न है, वह अनुमान का विषय है।

अनुमान

अन्य दर्शनों की भांति बौद्ध-न्याय में भी अनुमान दो प्रकार का है—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। परार्थानुमान शब्दात्मक है, स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक। जो ज्ञान त्रिरूप लिंग से उत्पन्न होता है, और जिससे अनुमेय का ज्ञान होता है, वह स्वार्थानुमान है। प्रत्यक्ष की तरह स्वार्थानुमान में भी प्रमाण का फल समझ लेना चाहिए। त्रिरूपता तीन प्रकार की है—लिंग का अनुमेय में होना, लिंग का सपक्ष में होना तथा लिंग का विपक्ष में न होना। अनुमेय वह है, जिसे हम अनुमान द्वारा जानना चाहें। सपक्ष, विपक्ष और पक्ष की वही व्याख्या है, जो हमने ऊपर तर्कसंग्रह में की है।[1] त्रिरूप लिंग के तीन प्रकार हैं—अनुपलब्धि, स्वभाव और कार्य। अनुपलब्धि का उदाहरण है—उस देश में घट नहीं, क्योंकि यद्यपि वहां ज्ञान का लक्षण है किन्तु घट का ज्ञान प्रतिपत्ता को नहीं ज्ञान का जनक घट भी है और चक्षु आदि भी। दृश्य घट के अतिरिक्त प्रत्ययान्तर हैं और उनकी संनिधि है। जिसे यहां अनुपलब्धि कहा है वह ज्ञान का अभाव नहीं है किन्तु वस्तु है, और उसका ज्ञान है। स्वभाव हेतु का उदाहरण है, यह वृक्ष है क्योंकि यह शिंशपा है। यहां यह अर्थ है कि इसके लिए वृक्ष का व्यवहार हो सकता है क्योंकि इसके लिये शिंशपा का व्यवहार हो सकता है। यहां शिंशपात्व, जोकि शिंशपा का स्वभाव है, हेतु है। कार्य हेतु का का उदाहरण है—यहां अग्नि है, क्योंकि यहां धूम है। यहां धूम जोकि हेतु है, अग्नि का कार्य है। इन तीन हेतुओं में स्वभाव और कार्य विधिपरक वस्तु को बतलाते हैं और अनुपलब्धि प्रतिषेध को। अनुपलब्धि के ११ भेद हैं। १. प्रतिषेध्य के स्वभाव की अनुपलब्धि। जैसे—यहां धुआं नहीं है। क्योंकि उपलब्धि के लक्षण प्राप्त होने पर भी अनुपलब्धि है। २. प्रतिषेध के कारणाभाव से कार्य की अनुपलब्धि। जैसे यहां धूमोत्पत्ति का अनुपहत सामर्थ्य रखने वाले कारण नहीं हैं क्योंकि धूम का अभाव है। ३. व्याप्य का जो व्यापक धर्म है, उसकी अनुपलब्धि। जैसे यहां शिंशपा नहीं है क्योंकि व्यापक अर्थात् वृक्ष का अभाव है। ४. प्रतिषेध्य के स्वभाव के विरुद्ध की उपलब्धि।

१ देखिये पृ० १३४–१३६

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जैसे यहाँ शीत का स्पर्श नहीं है क्योंकि यहां अग्नि है। ५. प्रतिषेध्य के जो विरुद्ध है, उसके कार्य की उपलब्धि। जैसे यहाँ शीत का स्पर्श नहीं क्योंकि यहां धूम है। ६. प्रतिषेध्य के जो विरुद्ध है उससे व्याप्त धर्मान्तर की उपलब्धि। जैसे—उत्पन्न हुई वस्तु का नाश अवश्यंभावी है क्योंकि वह हेत्वंतर की अपेक्षा करता है। ७. प्रतिषेध्य का जो कार्य है, उसके जो विरुद्ध है, उसकी उपलब्धि। जैसे—यहां तुषार का स्पर्श नहीं है क्योंकि यहां अग्नि है। ८. प्रतिषेध्य का जो व्यापक है, उसके जो विरुद्ध है, उसकी उपलब्धि। जैसे यहाँ तुषार–स्पर्श नहीं है, क्योंकि यहां अग्नि है। ९. प्रतिषेध्य का जो कारण है उसकी अनुपलब्धि। जैसे यहां धुआं नहीं है, क्योंकि अग्नि नहीं है। १०. प्रतिषेध्य का जो कारण है, उसके जो विरुद्ध है उसकी उपलब्धि जैसे—उसके रोम हर्ष आदि नहीं है क्योंकि उसके पास अग्नि है। ११. प्रतिषेध्य का जो कारण है, उसके जो विरुद्ध है, उसका जो कार्य है, उसकी उपलब्धि। जैसे इस जगह रोम हर्षादि युक्त पुरुष नहीं है क्योंकि यहां धूम है। ये सब कार्य–अनुपलब्धि इत्यादि स्वभावानुपलब्धि में ही आ जाते हैं।

अदृश्यानुपलब्धि

इसका अर्थ है—प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों की निवृत्ति।

परार्थानुमान

परार्थानुमान द्वारा दूसरे को ज्ञान प्रतिपादित किया जाता है। यहां यह हेतु तीन प्रकार से कहा जा सकता है—जहां धूम है, वहां वह्नि है, यह अन्वय है। जहां वह्नि नहीं है, वहां धूम भी नहीं है, यह व्यतिरेक है। यहां वही धूम है जिसका वह्नि के साथ अविनाभाव है, यहां पक्षधर्मत्व है। परार्थानुमान का दो प्रकार से प्रयोग हो सकता है—साधर्म्य के समान और वैधर्म्य के समान साधर्म्य का उदाहरण है—जो कृतक है वह अनित्य है जैसे घटादि। शब्द कृतक हैं अतः वे अनित्य हैं। वैधर्म्य का उदाहरण है—जो नित्य है वह अकृतक है यथा आकाश। किन्तु शब्द कृतक है। अतः वह अनित्य है। अनुपलब्धि स्वभाव हेतु और कार्य हेतु का साधर्म्य तथा वैधर्म्य, दोनों प्रकार से प्रयोग होता है।

अनुपलब्धि का साधर्म्यवान् प्रयोग

(अन्वय) जहां कहीं उपलब्धि लक्षण प्राप्त दृश्य की उपलब्धि नहीं होती, वहां हम उसके लिए असत् का व्यवहार करते हैं।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(दृष्टान्त) यथा जब शशविषाण आदि को जिस दृश्य के लिए हम असत् व्यवहार करते हैं, हम चक्षु का विषय नहीं करते ।

(पक्षधर्मत्व) एक प्रदेश में हम दृश्य घट की उपलब्धि नहीं करते ।

(साध्य) अतः हम उसे असत् व्यवहार योग्य कहते हैं ।

स्वभाव हेतु का साधर्म्यवान् प्रयोग

(अन्वय) जो सत् है वह अनित्य है ।

(दृष्टान्त) यथा घटादि ।

(पक्षधर्मत्व) शब्द सत् है ।

(साध्य) यह क्षण सन्तान है ।

यह निर्विशेषण स्वभाव का प्रयोग है ।

अब हम सविशेषण स्वभाव का प्रयोग बताते हैं ।

(अन्वय) जो उत्पत्तिमत् है वह अनित्य है ।

(दृष्टान्त) यथा घटादि ।

(पक्षधर्मत्व) शब्द उत्पत्तिमत् है ।

(साध्य) शब्द अनित्य है ।

अनुत्पन्न से इसकी व्यावृत्ति है । यहां वस्तु उत्पत्ति से विशिष्ट है । यह स्वभावभूत धर्म है ।

अब कल्पित भेद से विशिष्ट स्वभाव का प्रयोग बताते हैं ।

(अन्वय) जो कृतक है वह अनित्य है ।

(दृष्टान्त) यथा घटादि ।

(पक्षधर्मत्व) शब्द कृतक है ।

(साध्य) शब्द अनित्य है ।

जो स्वभाव की निष्पत्ति के लिए अन्य कारणों के व्यापार की अपेक्षा करता है वह कृतक कहलाता है । इसलिए कृतक का स्वभाव व्यतिरिक्त विशेषण से विशिष्ट है ।

कार्य हेतु का साधर्म्यवान् प्रयोग

यह वह है जहां हेतु कार्य है ।

(अन्वय) जहां धूम है वहां वह्नि है ।

(दृष्टान्त) यथा महानसादि में ।

(पक्षधर्मत्व) यहां धूम है ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(साध्य) यहां वह्नि है।
यह भी साधर्म्यवान् प्रयोग है।।

वैधर्म्यवान् प्रयोग

(अन्वय) जो सत् है उसकी अवश्य उपलब्धि होती है. यदि वह उपलब्धि लक्षण प्राप्त है।

(दृष्टान्त) यथा नीलादि विशेष।

(पक्षधर्मत्व) किन्तु इस प्रदेशविशेष में हम किसी दृश्य-घट को नहीं देखते, यद्यपि उपलब्धि लक्षण प्राप्त है।

(साध्य) अतः यहां घट नहीं है।

अब उस वैधर्म्य प्रयोग को कहेंगे जो स्वभाव हेतु है।

(व्यतिरेक) जो नित्य है वह सत् है, न उत्पत्तिमान् है और न कृतक है।

(दृष्टान्त) यथा आकाशादि।

(पक्षधर्मत्व) किन्तु शब्द सत् है, उत्पत्तिमान् है, कृतक है।

(साध्य) अतः शब्द अनित्य है।

अब कार्य हेतु का वैधर्म्य-प्रयोग बताते हैं।

(व्यतिरेक) जहां अग्नि नहीं है वहां धूम भी नहीं है।

(दृष्टान्त) यथा पुष्करिणी में।

(पक्षधर्मत्व) किन्तु यहां धूम है।

(साध्य) अतः यहां अग्नि है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नैयायिकों ने अनुमान के पांच वाक्य माने जबकि बौद्धों ने प्रतिज्ञा और निगमन को निकाल दिया तथा पक्षधर्मत्व को एक ही बार रखा। इस प्रकार वहां वस्तुतः दो ही वाक्य होते हैं क्योंकि अन्वय और व्यतिरेक से तो एक ही बात कही जाती है। बौद्ध न्याय का एक विशेष योगदान है पक्ष विचार। पक्ष प्रत्यक्ष से निराकृत नहीं होना चाहिए। जैसे—शब्द कर्णेन्द्रिय का विषय नहीं है। यह अनुमान से भी निराकृत नहीं होना चाहिए। जैसे—शशि चन्द्र शब्द का वाच्य नहीं है। यह स्ववचन से भी निराकृत नहीं होना चाहिए जैसे—अनुमान प्रमाण नहीं है।

बौद्धों ने लिंग त्रिरूप मानें हैं और इन त्रिरूपता की न्यूनता से वे हेत्वाभास मानते हैं। यदि हेतु का धर्म में सत्त्व न हो तो वह संदिग्ध है, वह असिद्ध हेत्वाभास है। जब किसी लिंग का विपक्ष में असत्त्व सिद्ध न हो, तो वह

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अनैकांतिक है। इसी प्रकार विरुद्ध का भी बौद्ध-न्याय में वही स्वरूप है, जो नैयायिकों में है। दिङ्नाग ने एक और भी संशय का कारण बताया है, जिसे विरुद्धाव्यभिचारी कहते हैं। किन्तु धर्मकीर्ति ने उसका उल्लेख नहीं किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध न्याय में भी जैन-न्याय की तरह हेतुओं के भेदोपभेदों पर बहुत अधिक बल है और नैयायिकों की अपेक्षा उनका यह वर्णन बहुत विस्तृत है।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परिशिष्ट २

जैन-न्याय

जैसा कि हमने बौद्ध न्याय की चर्चा करते समय कहा है, तर्कसंग्रह में जिन विषयों की चर्चा है उन्हें दो भागों में बांटा जा सकता है—प्रमेय और प्रमाण। तर्क-संग्रह में प्रथम प्रमेयों की चर्चा है जिसमें सात पदार्थ गिनाए गए हैं। इन सात में द्रव्य, गुण और कर्म ही अर्थ हैं। वैशेषिक दर्शन में इन्हें ही सत् भी कहा गया है।[1] जैन दर्शन में सात पदार्थ हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। किन्तु जिन पदार्थों का वर्णन तर्क-संग्रह में है, वे सभी पदार्थ वस्तुतः जैन दर्शन में गिनाए गए, पहले दो जीव और अजीव के अन्तर्गत आ जाते हैं। जीव चेतन है, जो तर्क-संग्रह में आत्मा नाम से कहा गया है और अजीव के अन्तर्गत वे पदार्थ आते हैं जो तर्कसंग्रह में द्रव्य के अन्तर्गत गिनाए गए हैं। द्रव्यों के अन्तर्गत पृथ्वी, अप्, तेज और वायु का विभाजन जैन दर्शन में दूसरे रूप में देखने में आता है। वहाँ पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजोकाय और वायुकाय (तथा वनस्पतिकाय) जीवों के भेद गिनवाये हैं, जिसका तर्कसंग्रह में भी उल्लेख है। आकाश और काल की गणना अजीव के अन्तर्गत है। आकाश और काल के अतिरिक्त धर्म और अधर्म नाम के दो विशेष द्रव्य भी जैन दर्शन में गिनवाये गए हैं। ये धर्म और अधर्म गति और स्थिति के निमित्त कारण हैं। इन्हें तर्कसंग्रह के धर्म-अधर्म नामक गुणों से नहीं मिलाना चाहिए। वस्तुस्थिति यह है कि जैन दर्शन में आकाश अनन्त है किन्तु संसार या लोक एक सीमित प्रदेश में ही है। इस सीमित प्रदेश को लोकाकाश कहते हैं। इस लोकाकाश के बाहर गति नहीं हो सकती। अतः संसार के समस्त पदार्थ इस लोकाकाश में ही रहते हैं, इससे बाहर नहीं जा पाते। इसका कारण यह माना गया है कि गति के लिए निमित्त कारण धर्मास्तिकाय है और क्योंकि वह लोकाकाश में ही है अतः उससे परे गति नहीं हो सकती। जिस प्रकार गति का एक निमित्त कारण है, उसी प्रकार स्थिति का भी एक निमित्त कारण है। वह

---

१. वैशेषिकसूत्र, ८.२.३

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अधर्मास्तिकाय है। किसी दूसरे दर्शन में ये दो द्रव्य नहीं माने गए। यहां द्रव्य के लक्षण के सम्बन्ध में भी कुछ जान लेना चाहिए। द्रव्य वे हैं जो पर्याय और गुण से युक्त हैं[1]—वैशेषिकों ने भी में क्रिया-गुणवत् को द्रव्य बतलाया है।[2] वैशेषिक में 'द्रव्याश्रय्यगुणवान्' कहकर गुण की परिभाषा दी है[3]। तत्त्वार्थसूत्र में भी 'द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः' कहकर गुण का लक्षण किया गया है। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र पर वैशेषिक दर्शन का पर्याप्त प्रभाव है। आकाश के अतिरिक्त काल को जीवों में होने वाले परिणमन का निमित्त कारण माना है। परिणमन का अर्थ है परिवर्तन। यहां यह भी ध्यान देने योग्य है कि जैन दर्शन में शब्द को आकाश का गुण नहीं माना है प्रत्युत उसे एक द्रव्य ही माना है। धर्म-अधर्म, आकाश और काल चारों अरूपी हैं।

जितने रूपी पदार्थ हैं उन्हें पुद्गल कहा जाता है। पुद्गल का लक्षण है—'रूपिणः पुद्गलाः'। किन्तु इसके साथ-साथ पुद्गल में स्पर्श, रस, गंध वर्ण[4], तथा शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, तम, छाया, तप, और द्युति भी रहते हैं।[5]

यहां जैन दर्शन में सत् का क्या रूप है, यह भी समझ लेना चाहिए क्योंकि श्लोकवार्तिक सत् को ही द्रव्य का लक्षण बताया है—'सद् द्रव्यलक्षणम्'।[6] सत् का लक्षण है—जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों हैं, अर्थात् जो बदलते हुए भी अपने मौलिक रूप में वही रहे। तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया हैं कि नित्य वह नहीं है जिसमें परिणमन न होता हो अपितु वह है जिसमें परिवर्तन होने पर भी जो समाप्त न हो जाए।

यहां सत् के इस स्वरूप को जानने के लिए जैनदर्शन का अनेकांतवाद संक्षेप में समझ लेना चाहिए। यह जैन-दर्शन की अपनी मौलिक देन है। अनेकांतवाद का अर्थ यह है कि एक ही वस्तु अनेक दृष्टियों से अनेक रूप में देखी और कही जा सकती है। वस्तु में अनन्त धर्म रहते हैं और हम

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ५.३७
२. वैशेषिकसूत्र १.१.१५
३. उपरिवत्, १.१.१६
४. तत्त्वार्थसूत्र, ५.२३
५. उपरिवत्, ५.२४
६. श्लोकवार्तिक, ५.२९

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उन सब धर्मों को एक-साथ नहीं कह सकते। एक बार में उन अनन्त धर्मों में से कुछ धर्म ही कहे जाते हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि शेष धर्म उस वस्तु में होते ही नहीं। इसी तथ्य को प्रकट करने के लिए किसी वस्तु का निर्देश करते समय हम स्यात् शब्द का अर्थ प्रयोग करते हैं। इसे स्याद्वाद भी कहते हैं। यह वर्णन सात प्रकार से हो सकता है—(१) स्यात् ऐसा है (२) स्यात् ऐसा नहीं है (३) स्यात् ऐसा है भी और नहीं भी है। (४) स्यात् अवक्तव्य है (५) स्यात् ऐसा है और अवक्तव्य है (६) स्यात् ऐसा नहीं है और अवक्तव्य है (७) स्यात् ऐसा है और नहीं है और अवक्तव्य है। यह दृष्टि जैन-दर्शन की मूल दृष्टि है और जैन-न्याय इसी पर खड़ा है। जो हमने ऊपर सत् की परिभाषा दी है वह भी मूलतः स्याद्वाद से ही निकली है। स्याद्वाद जैन दर्शन के किसी भी विषय पर विचार करते समय लगाया जाता है। जब नासदीय सूक्त में 'न सत् था, न असत् था', ऐसा कहा है या जब ईशोपनिषद् में 'वह चलता भी है, वह नहीं भी चलता', ऐसा कहा है, तो इस स्याद्वाद का पूर्वरूप हमें वहां उपलब्ध होता है।

तर्कसंग्रह में हमने परमाणुवाद की चर्चा की है। यहां यह जान लेना चाहिए कि न्यायवैशेषिक में पृथ्वी, जल, तेज, और वायु के परमाणु पृथक्-पृथक् माने गए हैं किन्तु जैनदर्शन में इनके परमाणु एक ही प्रकार के माने गए हैं। उमास्वाति ने परमाणु का जो लक्षण दिया है, उससे यह पता लगता है कि परमाणु स्कंध का (अर्थात् स्थूल पदार्थों का) अन्तिम कारण है। यह सूक्ष्म है, नित्य है, इसमें रस, गंध, वर्ण और स्पर्श रहते हैं और इसका पता कार्य से ही लगता है। इस सम्बन्ध में यह भी जान लेना चाहिए कि न्याय-वैशेषिक के अनुसार कार्य कारण से भिन्न होता है। यह आरम्भवाद है। वहां पृथ्वी परमाणुओं से बनी है। किन्तु परमाणु नित्य हैं और सत् हैं। इस प्रकार न्याय वैशेषिक वस्तुवादी दर्शन हैं। इस सम्बन्ध में वे जैन दर्शन से मेल खाते हैं क्योंकि जैन भी अजीव या जड़ पदार्थों को सद्रूप ही मानता है, वेदान्त की तरह असत् रूप नहीं। ऊपर जो हमने पुद्गल, जीव, आकाश, धर्म और अधर्म का उल्लेख किया, वे पंच अस्तिकाय कहलाते हैं। इन पंचास्ति-कायों के साथ यदि हम काल को भी मिला दें, तो जैन दर्शन के षड्द्रव्य बन जायेंगे।

एक वस्तु को हम द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टियों से देखते हैं। इसी आधार पर किसी पदार्थ को द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टि से

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भी देखा जा सकता है । सत् के हमने तीन धर्म माने हैं—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य । द्रव्यार्थिक दृष्टि ध्रौव्य को प्रधान मानकर चलती है, पर्यायार्थिक दृष्टि उत्पाद और व्यय को प्रधान मानती है । ये दृष्टियां नय कहलाती हैं और जैन दर्शन में इसी दृष्टि से हर समस्या पर विचार किया गया है । इसलिए परमाणुओं को नित्य और अनित्य दोनों कहा गया है ।

न्यायवैशेषिक में आत्मा को मुख्यतः अचेतन ही माना है । मन, इन्द्रिय और पदार्थों से सम्पर्क में आने पर आत्मा चेतनता को प्राप्त होती है । इसलिए अपनी मुक्त अवस्था में जब आत्मा शुद्ध होती है तो उसमें कोई चेतनता नहीं रह जाती । किन्तु जैन दर्शन के अनुसार चेतना आत्मा का अपना स्वाभाविक धर्म है और मुक्त अवस्था में भी बना रहता है । हमने ऊपर जीवों का पृथ्वी आदि होने का उल्लेख किया है । वे पाँच जीव स्वेच्छापूर्वक गति नहीं कर सकते इस लिये वे स्थावर हैं। गति करने वाले जीव दो इन्द्रिय से लेकर पाँच इन्द्रियों वाले तक होते हैं । यह विवेचन जैन दर्शन में बहुत विस्तार से है।

जहां तक कर्म का सम्बन्ध है, जैन दर्शन में कर्म के अन्तर्गत उस विषय की चर्चा है, जिसकी चर्चा न्यायवैशेषिक में धर्म, अधर्म और सस्कार नामक गुणों में की गई है । समवाय के सम्बन्ध में जैन-दर्शन में कोई विशेष चर्चा नहीं है । जैन दर्शन में जो आकाश है वह वस्तुतः न्याय का दिक् है। हां मन की चर्चा जैन दर्शन में की गई है और वह दो प्रकार का माना गया है—द्रव्य मन और भाव मन अर्थात् एक मन भौतिक रूप में है और दूसरा भावात्मक रूप में है ।

इन प्रमेयों की चर्चा के अतिरिक्त जैन दर्शन में प्रमाण की भी विस्तृत चर्चा है—स्व और पर का व्यावसायी ज्ञान प्रमाण कहा गया है। यह प्रमाण दो प्रकार का है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष ज्ञान वह है जो विशद हो और परोक्ष ज्ञान जो विशद न हो ।

यहां प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में यह जान लेना चाहिए कि जैन दर्शन के अनुसार वस्तुतः वही ज्ञान प्रत्यक्ष है जिसे अन्य दर्शनों में योगज प्रत्यक्ष कहा है । जैन दर्शन उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष बतलाता है । जिस ज्ञान को अन्य दर्शन प्रत्यक्ष कहते हैं, जैन दर्शन उसका अन्तर्भाव सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में कर लेते हैं। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का है—एक वह जो इन्द्रिय से होता है और एक वह जो केवल मन से होता है। परोक्ष ज्ञान

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

दो प्रकार के हैं—मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान। जहाँ इन्द्रिय और मन कारण हों, वह मति ज्ञान है। शास्त्रों से होने वाला श्रुत ज्ञान कहलाता है। श्रुत का अर्थ है दूसरे के द्वारा या ग्रन्थ में पढ़कर शब्दों का वाच्यवाचक भाव से ग्रहण कर लेना।

यहां यह जान लेना चाहिए कि जैन दर्शन मन और चक्षु को अप्राप्य-कारी मानता है। अर्थात् उसका यह कहना है कि हम किसी पदार्थ को मन या चक्षु से जानते हैं तो उस पदार्थ और मन का या उस पदार्थ और चक्षु का परस्पर सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं है। मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान के अनेक भेद हैं किन्तु हम इनका यहाँ उल्लेख नहीं करेंगे।

जहां न मन कारण हो, न इन्द्रिय, प्रत्युत केवल आत्मा मात्र का व्यापार अपेक्षित हो, वह पारमार्थिक प्रत्यक्ष है। वह तीन प्रकार का है—अवधि, मनः पर्यय तथा केवल। अवधि ज्ञान आत्मा मात्र की अपेक्षा रखता है और समस्त रूपी द्रव्यों के विषय में होता है। इसके भी ६ भेद हैं–जिनकी चर्चा हम यहां नहीं करेंगे। अवधि ज्ञान एक प्रकार से अलौकिक है। यह उन विषयों को भी जान लेता है जिन्हें सामान्य जन देश और काल का व्यवधान होने के कारण नहीं जान सकते। किन्तु यह केवल रूपी पदार्थों को ही जानता है। मनः पर्ययज्ञान केवल मन का और मन की पर्यायों का साक्षात् ज्ञान करता है। यह केवल मन को जानता है, अन्य पदार्थों को अन्यथा अनुपपत्ति द्वारा अनुमान से जानता है। इसके भी दो भेद हैं—ऋजुमति और विपुल मति। ऋजुमति द्वारा सामान्य मात्र का ग्रहण होता है, विपुलमति द्वारा विशेष का ग्रहण होता है। अवधि ज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान विकल प्रत्यक्ष कहलाते हैं।

केवल ज्ञान सकल प्रत्यक्ष कहलाता है क्योंकि यह समस्त द्रव्यों को पर्यायों सहित साक्षात् जानता है। यह परमात्मावस्था में ही होता है।

हमने ऊपर प्रत्यक्ष ज्ञान की चर्चा की, परोक्ष ज्ञान उसे कहते हैं, जो अस्पष्ट हो। यह पांच प्रकार का है—स्मरण, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान, और आगम। न्यायदर्शन में जिसे उपमान कहा है, उसका अन्तर्भाव जैन-न्याय में प्रत्यभिज्ञा में हो जाता है और शब्दप्रमाण जैन-दर्शन में आगम प्रमाण के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। स्मरण वही है जो न्यायदर्शन में स्मृति है। तर्क यहां एक पृथक् प्रमाण माना गया है।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रत्यभिज्ञा वह ज्ञान है जो अनुभव और स्मृति के हेतु से होने वाला संकलनात्मक देशकृत या कालकृत ज्ञान कराता है। उदाहरणतः यह उस ही प्रकार का गोपिण्ड है, गवय गो के सदृश होता है, यह वही जिनदत्त है, यह वही पदार्थ बतला रहा है, भैंस गऊ से विलक्षण होती है, यह उससे दूर है, यह उसके निकट है, यह उससे ऊंचा या छोटा है। इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाएगा कि प्रत्यभिज्ञा का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इस ज्ञान में तीन शर्तें हैं—पहली, हमें कुछ अनुभव होता है; दूसरी, हमें कुछ स्मृति होती है और तीसरी, हम उस अनुभव और स्मृति को परस्पर मिलाकर कुछ संकलनात्मक ज्ञान प्राप्त करते हैं। जैन नैयायिक उपमान को पृथक् प्रमाण नहीं मानते। उनका कहना है कि यदि सादृश्य के आधार पर गवय गऊ के समान है, यह मानने के लिए उपमान मानना हो, तो फिर भैंस गऊ से विलक्षण होती है, यह मानने के लिए कोई और प्रमाण मानना पड़ेगा। यदि यहां विसदृश्यता में उपमान के बिना काम चल जाता है तो फिर सदृश्यता के प्रसंग में प्रत्यभिज्ञा से भी काम चल जाएगा। जब हम यह सुनते हैं कि जल और दूध में भेद करने वाला हंस होता है तो हम किसी को भी जल और दूध में भेद करते हुए देखकर यह जान लेते हैं कि यह हंस पदवाच्य है। यदि यहां संज्ञा संज्ञी का ज्ञान उपमान के बिना हो जाता तो गवय वाले उदाहरण में भी यह हो जाना चाहिए। यह गवय है—ऐसा ज्ञान होने पर यदि हम उपमान मानें, तो फिर जिसने आमलक का फल देख लिया है, वह बिल्व फल को देखकर जब यह ज्ञान करता है कि यह उससे सूक्ष्म है, तो उसे किसी दूसरे प्रमाण को मानना होगा।

जिसे नैयायिक व्याप्ति ज्ञान कहते हैं, उसे जैन-दर्शन में तर्क कहा है। तर्क का लक्षण है सकल देश काल आदि का अवच्छेद करने के उपरान्त जो साध्य साधन आदि विषयों के बारे में ऊह किया जाता है, वह तर्क है जैसे—जहां धुआं है, वह अग्नि होने पर ही है, अग्नि के बिना नहीं। जब हम वृद्ध प्रयोग द्वारा वाच्यवाचक भाव जानते हैं तब भी तर्क ही होता है। उदाहरणतः यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को गऊ लाओ, ऐसा कहे और फिर गऊ को ले जाओ, घोड़ा लाओ, ऐसा कहे तो पास बैठे बालक को ले जाने लाने की क्रिया द्वारा अन्वय-व्यतिरेक से गऊ और घोड़े का अर्थ ज्ञात हो जाता है। यहां भी तर्क-प्रमाण ही काम देता है। नैयायिक तर्क को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते अपितु विरोधी द्वारा शंका करने पर प्रमाण का सहकारी मात्र मानते हैं।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परोक्ष प्रमाण में अनुमान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। जैन-न्याय में तर्क-संग्रह की तरह अनुमान दो प्रकार का माना गया है—१. परार्थ और २. स्वार्थ।

जैन-न्याय का अनुमान के प्रसंग में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान हेतु के लक्षण के सम्बन्ध में है। वह हेतु का लक्षण निश्चितान्यथानुपपत्त्येक-लक्षणो हेतुः देते हैं। बौद्धों के अनुसार हेतु के तीन लक्षण हैं और नैयायिकों के अनुसार पांच लक्षण। जैन इन दोनों पक्षों का खण्डन करते हैं और उनका यह खण्डन ध्यान देने योग्य है। हेतु की पहली शर्त है पक्ष-धर्मता। यदि यह पक्षधर्मता न हो तो असिद्ध हेत्वाभास माना जाता है। किन्तु हम इन तीन अनुमानों को लें—(१) शकट उदित होगा क्योंकि कृत्तिका का उदय हुआ है (२) ऊपर सूर्य है क्योंकि भूमि पर प्रकाश है (३) आकाश में चन्द्रमा है क्योंकि जल में उसका प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। यहां तीनों अनुमानों में पहले अनुमान में शकट का उदय, तथा दूसरे और तीसरे अनुमान में आकाश पक्ष है। किन्तु इन पक्षों में हेतु नहीं रहता। शकट के उदय में कृत्तिका का उदय नहीं है, प्रकाश भूमि पर है, आकाश में नही; इसी प्रकार चन्द्रमा का बिम्ब जल में है, आकाश में नहीं। अतः यहां पक्षधर्मता तो है नहीं, अतः पक्षधर्मता हेतु के लिए आवश्यक नहीं है। कहीं-कहीं यह पक्षधर्मता हो भी सकती है। किन्तु इससे कोई अन्तर नहीं आता। बाधित विषय में और सत्प्रतिपक्ष में अति-व्याप्ति न हो, इसके लिए नैयायिकों ने हेतु की पांच शर्तें मानी हैं—वे भी ठीक नहीं हैं। उदाहरणतः वह कृष्ण है क्योंकि मैत्री का पुत्र है—इत्यादि अनुमान में पंचरूप लक्षण तो घट आता है, किन्तु फिर भी हेत्वाभास है।

साध्य के स्वरूप की चर्चा करते समय जैन-न्याय में साध्य की तीन शर्तें मानी हैं जो अप्रतीत हो, अनिराकृत और अभीप्सित हो, वह साध्य है। अप्रतीत इसलिए कहा गया कि जिन विषयों के सम्बन्ध में शंका हो, या जिनका विपरीत ज्ञान हो, या जिनका ज्ञान ही न हो, वे सभी साध्य होती हैं। अनिरा-कृत इसलिए कहा गया कि ऐसा विषय साध्य नहीं हो सकता, जो प्रत्यक्ष के विरुद्ध है। अभीप्सित इसलिए कहा गया कि जिसे हम सिद्ध नहीं करना चाहते, वह साध्य नहीं होता।

जैन-न्याय में स्वार्थानुमान के तीन रूप अंग माने हैं—धर्मी, साध्य और साधन। साधन वह है जिसके द्वारा साध्य का अनुमान होता है, और धर्मी वह है जो साध्य के धर्म का आधार होता है। अथवा केवल पक्ष और हेतु,

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ये दो अंग भी माने जा सकते हैं क्योंकि पक्ष में साध्य धर्म तो रहता ही है।

परार्थानुमान पक्ष और हेतु का औपचारिक रूप में अनुमान कराने के लिए प्रयोग करते समय होता है। श्रोता इसी के द्वारा अर्थ का बोध करता है। हेतु का प्रयोग दो प्रकार से हो सकता है—साध्य की तथोपपत्ति दिखलाकर अथवा अन्यथानुपपत्ति दिखलाकर। जैसे पर्वत वह्निमान् है क्योंकि वह्नि होने पर ही धूम उत्पन्न होता है अथवा यदि वह्नि न हो तो धूम की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इन दोनों का प्रयोग एक स्थान पर करना आवश्यक नहीं। एक के ही प्रयोग से काम चल जाता है। परार्थानुमान में नैयायिक जो पांच वाक्यों का प्रयोग आवश्यक मानते हैं, जैनन्याय केवल पक्ष और हेतु का कथन ही पर्याप्त मानता है; यह दूसरी बात है कि मन्द मति लोगों को समझाने के लिए दृष्टान्त इत्यादि का प्रयोग किया जाए। उस दृष्टि से तो फिर पांच वाक्यों की शुद्धि के सम्बन्ध में भी जिसे सन्देह हो वहां उन पांचों की परीक्षा भी पांच वाक्यों में कह देनी चाहिए और इस प्रकार पंचावयव वाक्य के स्थान पर दशावयव वाक्य भी हो सकता है, अन्यथा पक्ष और हेतु, दो के कह देने से ही यदि दूसरे को ज्ञान हो जाए तो पांच अवयव-वाक्यों का प्रयोग आवश्यक नहीं है।

हेतु के प्रकार

हेतु के प्रकार के सम्बन्ध में भी जैन-न्याय का विशेष योगदान है। वे हेतु दो प्रकार के मानते हैं—विधि हेतु और प्रतिषेध हेतु। विधि हेतु दो प्रकार का है—विधि-साधक और प्रतिषेध-साधक। विधिसाधक विधिहेतु छह प्रकार का है—प्रथम व्याप्य, जैसे—शब्द अनित्य है क्योंकि वह प्रयत्न के बिना उत्पन्न नहीं होता, द्वितीय कार्य—जैसे यह पर्वत वह्निमान् है अन्यथा यहां धूमवत्त्व की उपपत्ति नहीं हो सकती। यहां धूम अग्नि का कार्य है और अग्नि के न होने पर स्वयं भी नहीं हो सकता। अतः यह अग्नि का अनुमापक है। तृतीय, कारण—जैसे वृष्टि होगी अन्यथा यह विशेष मेघ नहीं दिखाई दे सकते। यहां मेघ वर्षा का कारण है और अपने कार्य वर्षा का अनुमान कराता है। चतुर्थ, पूर्वचर—जैसे शकट उदित होगा अन्यथा कृत्तिका का उदय नहीं हो सकता। यहां कृत्तिका के उदय होने के एक मुहूर्त बाद नियमित रूप से शकट का उदय होता है। अतः कृत्तिका उदय पूर्वचर हेतु है जो शकटोदय का अनुमान कराता है। पंचम, उत्तरचर—

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जैसे पहले भरणी उदित हुआ था, क्योंकि अब कृत्तिका का उदय है। यहां कृत्तिका का उदय भरणी के उदय के अनन्तर होता है। अतः यह उत्तरचर हेतु है। यह पूर्वचर और उत्तरचर हेतु कार्य-कारण हेतु नहीं कहला सकते, क्योंकि इनमें काल का व्यवधान हो जाता है। षष्ठ हेतु सहचर है जैसे अमुक फल सुन्दर होगा, अन्यथा वह रस वाला नहीं हो सकता। यहाँ रस और रूप दोनों साथ-साथ रहते हैं। अतः रस सहचरित हेतु है। यहां जितने हेतु दिए गए, वे सब भावरूप हैं और जो साध्य है, वह भी भाव रूप ही है।

दूसरा हेतु प्रतिषेध रूप होता है, वह सात प्रकार का है—प्रथम, स्वभाव जैसे—सर्वथा एकांत नहीं होता क्योंकि अनेकांत देखने में आता है। द्वितीय विरुद्ध जैसे—तत्त्व निश्चय नहीं है क्योंकि उसमें संदेह है। तृतीय व्यापक—इसका क्रोध शान्त नहीं हुआ है, मुख विकार आदि होने के कारण। चतुर्थ कारण—इसका वचन असत्य नहीं है क्योंकि इसका ज्ञान रागादि से रहित है। पंचम, पूर्वचर मुहूर्त में पुष्य तारा नहीं होगा क्योंकि रोहिणी का उद्गम हुआ है। षष्ठ, उत्तरचर—एक मुहूर्त पहले मृगशिर उदित नहीं हुआ था क्योंकि पूर्व फाल्गुन का उदय हुआ। सप्तम, उपलब्ध—इसे मिथ्या ज्ञान नही है क्योंकि सम्यक् दर्शन है। यहां प्रथम उदाहरण में अनेकांत जिसका प्रतिषेध करना है, एकांत के स्वभाव से विरुद्ध है। द्वितीय उदाहरण में तत्त्वसन्देह जिसका तत्त्वनिश्चय के प्रतिषेध के रूप में कहना है, विरुद्ध अनिश्चय से व्याप्य है। तृतीय में मुख का विकारादि क्रोध के शांत होने के विरुद्ध कार्य है। चतुर्थ में रागादि से रहित ज्ञान असत्य के विरुद्ध कार्य है। पंचम में रोहिणी का उद्गम पुष्यतारा के उद्गम के विरुद्ध मृग शीर्ष के उदय का पूर्वचर है। षष्ठ में पूर्वफाल्गुनी का उदय मृगशीर्ष के उदय के विरुद्ध मृग के उदय का उत्तरचर है। सप्तम में सम्यक् दर्शन मिथ्याज्ञान के विरुद्ध सम्यक् ज्ञान का सहचर है।

प्रतिषेध रूप हेतु भी दो प्रकार का है—विधि साधक और प्रतिषेध साधक। इनमें पहला पांच प्रकार का है—प्रथम, जैसे इसे बहुत रोग है क्योंकि यह स्वस्थ व्यक्ति के कार्य नहीं कर सकता। द्वितीय इसे कष्ट है, क्योंकि इष्ट का संयोग नहीं है। तृतीय, वस्तु अनेकांतरूप है, क्योंकि एकांतरूप नहीं मिलती। चतुर्थ, यहां छाया है, क्योंकि गर्मी नहीं है। पंचम, इसे मिथ्या ज्ञान है, क्योंकि इसे सम्यक् दर्शन नहीं है।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

दूसरा प्रतिषेध साधक ७ प्रकार का है—प्रथम, पृथ्वी पर कुंभ नहीं है, क्योंकि उसका दृश्य स्वभाव यहां नहीं। द्वितीय, यहां पनस नहीं है, क्योंकि वृक्ष नहीं है। तृतीया, यह बीज अप्रतिहत शक्ति वाला नहीं है, क्योंकि इसका अंकुर दिखाई नहीं देता। चतुर्थ, इसका शांत भाव नहीं है, क्योंकि तत्त्व श्रद्धा का अभाव है। पंचम, मुहूर्त के बाद स्वाति उदित नहीं होगा, क्योंकि चित्रा का उदय दिखाई देता है। षष्ठ, एक मुहूर्त्त पहले पूर्वभद्रपदा उदित नहीं हुआ था, क्योंकि उत्तरभद्रपदा का उद्गम नहीं देखा गया और सप्तम, यहां सम्यक् ज्ञान नहीं है, क्योंकि सम्यक् दर्शन नहीं दीखता।

जैन-न्याय में भी असिद्ध, विरुद्ध, और अनैकांतिक तीन हेत्वाभास माने गए हैं। धर्मभूषण ने अकिंचित्कर नाम का चतुर्थ हेत्वाभास भी माना है किन्तु अधिकतर नैयायिक इसे नहीं मानते।

जैन-दर्शन आगम-प्रमाण को भी मानता है। मीमांसकों के लिए वेद अपौरुषेय होने के कारण प्रमाण हैं, नैयायिकों के लिए ईश्वरकृत होने के कारण प्रमाण हैं, किन्तु जैन आगमों को मनुष्यकृत होने पर भी प्रमाण मानते हैं। उनका कहना है कि या तो व्यक्ति राग द्वेष के कारण प्रामाणिक बात नहीं कहता या अज्ञान के कारण और क्योंकि तीर्थङ्करों में ये दोनों बातें नहीं हैं इसलिये उनका वचन प्रामाणिक है।

प्रमाण सम्पूर्ण वस्तु का ग्राहक है; वस्तु के एकांश का ग्रहण करने वाला नय कहलाता है। ऊपर हमने द्रव्यार्थिक नय तथा पर्यायार्थिक नय की चर्चा की है। द्रव्यार्थिक नय तीन प्रकार का है—नैगम, संग्रह और व्यवहार। पर्यायार्थिक नय चार प्रकार का है—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ तथा एवम्भूत।

१. नैगमनय—इसमें दो पर्यायों, दो द्रव्यों या पर्याय और द्रव्य में एक को मुख्य तथा दूसरे को गौण कर दिया जाता है। उदाहरणतः—सत् चैतन्य रूप आत्मा है। यहां विशेषण होने से सत् गौण तथा विशेष्य होने मे चैतन्य गौण है।

२. संग्रह—इसमें सामान्य का ग्रहण होता है। सत्, ज्ञेय आदि सभी का ग्रहण करते हैं, अतः वे परसंग्रह हैं, मनुष्यत्व आदि अपरसंग्रह हैं।

३. व्यवहार—इसमें विशेष का ग्रहण होता है। यथा मनुष्यत्व का ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व आदि में विभाजन करके ग्रहण करना।

४. ऋजुसूत्र—वर्तमान पर्याय को ग्रहण करने वाली नय ऋजुसूत्र है। यथा

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वह सुखी है। यहां वर्तमान पर्याय को ही प्रधान मानकर उसे सुखी कहा गया है ।

५. शब्दनय—यह नय शब्द के रूप में भेद से भी भेद को ग्रहण करती है। यथा तटः, तटी, तटम् का अर्थ एक ही है किन्तु शब्दनय उनमें भेद मानता है।

६. समभिरूढ़—यह नय पर्यायवाची शब्दों में भी व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को प्रधान मानकर भेद करती है । यथा चमकने वाले (इन्दनात्) को इन्द्र, समर्थ (शकनात्) को शक्र तथा पुरभेदन करने वाले (पुरं दारयति) को पुरन्दर कहना।

७. एवम्भूत—यह नय केवल उसी समय किसी पदार्थ को उस शब्द से अभिहित करती है जिस समय उस पदार्थ में वह गुण या क्रिया वस्तुतः उपलब्ध होती हो, जिसकी इंङ्गित उस शब्द द्वारा की गयी है। यथा चलती हुई (गच्छति) गौ को ही गौ कहा जायेगा, बैठी या सोती हुई गौ को गौ नहीं कहा जायेगा ।

प्रमाण तथा नय के इस विवेचन के अतिरिक्त जैन-न्याय में निक्षेप का विवेचन भी है। निक्षेप का अर्थ है विन्यास प्रयोग। यह चार प्रकार का है—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। नाम निक्षेप का अर्थ है कि हम शब्द को ही पदार्थ के रूप में उपचार से मान लेते हैं। उदाहरणतः इन्द्र शब्द को भी हम 'यह इन्द्र है', ऐसा कह देते हैं, यह नाम निक्षेप है। व्याकरण में ऐसे बहुत से उदाहरण आते हैं । किसी पदार्थ की प्रतिमा या आकारविशेष को जो हम वह पदार्थ मान लेते हैं वह स्थापना निक्षेप है। जैसे इन्द्र की प्रतिमा को इन्द्र कहना। जो भूतकाल में जैसा रह चुका हो, या भविष्य में जैसा हो जाने वाला हो उसे वर्तमान में भी वही कह देना द्रव्य निक्षेप है। उदाहरणतः जो आगे चलकर डाक्टर बनने वाला है, उसे भी हम डाक्टर कह देते हैं या जो अध्यापक के कार्य से निवृत्त हो गया है, उसे भी हम अध्यापक कह देते हैं। भाव निक्षेप का अर्थ है कि वर्तमान में वह क्रिया उसमें पाई जाती है, जैसे जो इंदन की क्रिया में परिणत है उसे भाव इन्द्र कहा जाएगा ।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परिशिष्ट ३

पाश्चात्य-न्यायशास्त्र

ऊपर कहा जा चुका है कि तर्क-संग्रह में जिन विषयों का विवेचन है, वे दो भागों में विभक्त हो सकते हैं—प्रमेय और प्रमाण। प्रमेय के अन्तर्गत पदार्थ आते हैं। तर्क-संग्रह का पदार्थ-विवेचन वैशेषिक दर्शन पर आधारित है। प्रमाण के अन्तर्गत चार प्रमाणों का विवेचन है। यह विवेचन मुख्यतः न्याय-शास्त्र को आधार बनाकर किया गया है।

पाश्चात्य-दर्शन में पदार्थ–विवेचन या प्रमेय-विवेचन तत्त्व-ज्ञान के अन्तर्गत आता है। तत्त्वज्ञान का विषय सर्वथा पृथक् है, अतः यहां अलग से तर्कसंग्रह में दिए गए पदार्थ-विवेचन का पाश्चात्य तत्त्व-दर्शन में किए गए पदार्थ-विवेचन से तुलना करना न बहुत उपयोगी है, न सम्भव। जहां तहां पदार्थों का विवेचन करते समय हमने पाश्चात्य मत और वैज्ञानिक दृष्टिकोण की चर्चा पुस्तक में ही कर दी है। परिशिष्ट में हम उस भाग को छोड़ देते हैं।

पाश्चात्य-दर्शन में प्रमाण-विवेचन पृथक् से हुआ है। प्रमाणों में भी तर्क-शास्त्र के अन्तर्गत अनुमान का विवेचन ही विशेष रूप से है। प्रत्यक्ष के सम्बन्ध में पाश्चात्य दृष्टिकोण की चर्चा हम प्रत्यक्ष के प्रकरण में कर चुके हैं। शब्द-प्रमाण की चर्चा पश्चिम में धर्मशास्त्र (थियोलोजी) का विषय समझा जाता है और उसकी चर्चा दर्शन में नहीं होती। उपमान-प्रमाण की कोई पृथक् सत्ता पश्चिम के दर्शन में नहीं है। अतः यहां हम संक्षेप में पाश्चात्य-अनुमान-पद्धति का ही विवेचन करेंगे।

पश्चिम में अनुमान-पद्धति की दो प्रक्रियाएं हैं—आगमनात्मक और निगमनात्मक। इन दोनों पद्धतियों के मौलिक मतभेद निम्न हैं:

१. आगमन-पद्धति में विशेष से सामान्य का और निगमन-पद्धति में सामान्य से विशेष का ज्ञान होता है।

२. आगमन का सम्बन्ध विचार के विषय वस्तु-पक्ष से है। निगमन का सम्बन्ध विचार के आकार-पक्ष से है।

३. आगमन में विवेचन संश्लेषण-प्रधान होता है। निगमन में विश्लेषण-प्रधान होता है।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

४. आगमन का आधार कारण-कार्य-सम्बन्ध और प्रकृति के नियमों की सार्वभौमिकता है। निगमन का आधार विचार के नियम हैं।

५. निगमन का निर्णय, यदि प्रथम दो वाक्य शुद्ध हों और तर्क पद्धति निर्दोष हो, तो निश्चित रूप से शुद्ध ही होता है। किन्तु आगमन में ऐसी निश्चितता संभव नहीं है।

पाश्चात्य दर्शन में मिल साहब ने कारण कार्य सम्बन्ध के अन्वेषण की पांच विधियां बतलाई हैं। यह कारण-कार्य-परम्परा ही आगमनात्मक अनुमान का मूल आधार है।

इन पांच विधियों में प्रथम अन्वय-विधि है। इसका अर्थ है कि यदि किसी घटना के दो-तीन उदाहरणों में एक ही सामान्य घटक पाया जाए, तो वह परिघटक जिसमें समस्त उदाहरणों की समानता हो, उस घटना का कार्य या कारण होता है। भारतीय अनुमान में जहां-जहां धुआं है, वहां-वहां वह्नि है, वाली प्रक्रिया इस अन्वय-विधि द्वारा ही कार्य-कारण-सम्बन्ध स्थापित करती है। दूसरी विधि अन्वय-व्यतिरेक-विधि है। यदि दो-तीन घटनाओं में कोई एक परिघटक सामान्य हो और किन्हीं दो-तीन उदाहरणों में वे घटनाएं घटित न होती हों, तो वे भावात्मक और अभावात्मक दोनों प्रकार की घटनाएं कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करने में उदाहरण बन जाती हैं। भारतीय न्यायशास्त्र में यह अन्वय-व्यतिरेक-व्याप्ति कहलाती है। तीसरी विधि व्यतिरेक-विधि है जहां भावात्मक उदाहरण न होने पर अभावात्मक उदाहरण से कार्य-कारण-सम्बन्ध स्थापित होता है। उदाहरणतः दो पात्र एक ही धातु से बने हुए एक ही क्षेत्र में रखे हों और दोनों का वजन भी समान हो, किन्तु एक में वायु हो और दूसरे में न हो, और यदि वायु वाले पात्र में शब्द सुनाई पड़े और वायुरहित पात्र में शब्द सुनाई न दे, तो यह अनुमान किया जा सकता है कि शब्द संचार का कारण वायु है। भारतीय अनुमान-पद्धति में यही अविनाभाव सम्बन्ध या अन्यथा उपपत्ति कहलाएगा। जिन उदाहरणों में अभावात्मक उदाहरण भी न मिले, वहां सहचारी वैविध्य विधि द्वारा कार्य-कारण सम्बन्ध का पता लगाया जा सकता है। मिल के अनुसार सहचारी वैविध्य विधि का अर्थ है कि यदि किसी एक घटना में परिवर्तन होने से दूसरी घटना में विशेष प्रकार से परिवर्तन हो, तो उन घटनाओं में कार्य-कारण सम्बन्ध होता है। यह आनुपातिक घटना-बढ़ना चार प्रकार का हो सकता है—१. कारण और कार्य

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

दोनों एक-दूसरे के अनुपात में बढ़ें, जैसे गुड़ और मिठास। २. कारण और कार्य एक दूसरे के अनुपात से घटें, जैसे गुड़ के घटने से मिठास का घटना। ३. कारण बढ़े किन्तु कार्य घटे, जैसे—जैसे-जैसे हम ऊपर चढ़ते हैं, वैसे-वैसे वायु का दबाव कम होता जाता है। ४. कारण घटे किन्तु कार्य बढ़े, जैसे—किसी काम को करने के लिए मजदूरों की संख्या जितनी घटती जाती है कार्य करने की अवधि उतनी बढ़ती जाती है।

यह सहचारी वैविध्य विधि कहीं अन्वय-व्याप्ति के रूप में आती है, कहीं व्यतिरेक-व्याप्ति के रूप में। किन्तु इसकी प्रक्रिया इन दोनों व्याप्तियों से भिन्न है। इसके परिणाम भी अधिक निश्चित होते हैं। पांचवीं विनि अवशेष विधि है। इसके लिए पूर्व ज्ञान की आवश्यकता है। अवशेष विधि का अर्थ है कि यदि पूर्व आगमन के द्वारा यह निर्धारित हो कि किसी घटना के कार्य फल का एक भाग कुछ पूर्ववर्ती परिघटकों द्वारा उत्पन्न होता है, तो उस कार्यफल का एक भाग पूर्ववर्ती परिघटकों के द्वारा उत्पन्न होगा। उदाहरणतः यदि हमें यह ज्ञात हो कि गाड़ी और गन्ने का वज़न तीस मन है और गाड़ी का वज़न दस मन है तो हम अवशेष विधि द्वारा गन्ने का वज़न बीस मन निकाल सकते हैं। अर्थ यह है कि पूर्ण कारण संयोग मालूम हो और कारण का एक अंश ज्ञात हो तो कारण का दूसरा अज्ञात अंश अवशेष विधि द्वारा निकाला जाता है। इस प्रकार कारण-कार्य-सम्बन्ध के बारे में पाश्चात्य न्याय-दर्शन का भारतीय न्याय-दर्शन की अपेक्षा विशेष योगदान है। वस्तुतः भारतीय न्याय-शास्त्र में जो न्याय वाक्य होता है, उसमें आगमन और निगमन दोनों पद्धतियां एक साथ रहती हैं। पश्चिम में अरस्तू ने तो केवल निगमन पद्धति को ही जन्म दिया। किन्तु बेकन ने (१२१४-१२९४ ई०) आगमनात्मक अनुमान पद्धति को जन्म दिया। बेकन के अनुयायी जे० एस० मिल (१८०६-१८७२ ई०) ने इस आगमनात्मक तर्क पद्धति की विस्तृत चर्चा की। इस तर्क-पद्धति का आधार यह है कि हमारे सिद्धान्त वास्तविक घटनाओं के अनुकूल होने चाहिएँ। निगमन पद्धति से जिन सत्यों को हम खोजते हैं, उनकी जांच वास्तविक घटनाओं से मिलान करके की जानी चाहिए। इस प्रकार निगमनात्मक तर्क-पद्धति के आकारवाद में, जो केवल ऊपरी संगति पर आधारित था, आगमनात्मक पद्धति ने बहुत सुधार किया और ऊपर जिस कारण-कार्य सम्बन्ध की हमने चर्चा की है, वह आगमनात्मक अनुमान पद्धति का विशेष योगदान है।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ऊपर हमने आकारवाद की चर्चा की । पाश्चात्य न्याय-शास्त्र की निगमन विधि को समझने के लिए यह आकारवाद भी समझ लेना चाहिए। निगमन पद्धति में कुछ ऐसे आकार निर्धारित किए गए जो अनुमान की शुद्धि और अशुद्धि का बोध कराने में सहायक होते हैं । पाश्चात्य न्याय-शास्त्र में प्रत्येक वाक्य को विश्लेषण करने के बाद यह निर्णय किया गया कि जिन वाक्यों का प्रयोग हम करते हैं, उन्हें चार प्रकार के वाक्यों में से किसी एक प्रकार में अवश्य ढाला जा सकता है। उदाहरणतः जब हम कहते हैं कि सब बंगाली भारतवासी हैं तो यहां बंगाली उद्देश्य है और यह व्याप्त है अर्थात् यह संपूर्ण बंगालियों को व्यक्त करता है । दूसरी ओर भारतवासी विधेय है और यह सब भारतवासियों को व्यक्त नहीं करता। क्योंकि भारतवासी बंगालियों के अतिरिक्त भी हैं। यह संभव है कि ए वाक्यों के कुछ ऐसे भी उदाहरण मिल जाएं, जिनमें विधेय भी व्याप्त हो जैसे—सब मनुष्य विचारशील प्राणी हैं । यहां विधेय विचारशील प्राणी भी सभी विचारशील प्राणियों को व्यक्त करता है। किन्तु विधेय का परिमाण ए वाक्यों में निर्धारित नहीं किया जाता । अतः वे समस्त भावात्मक वाक्य जिनका उद्देश्य व्याप्त हो, और विधेय अव्याप्त, ए वाक्य होते हैं। (चित्र नं० १ तथा २ पृ. २१०) ऐसे निषेधात्मक वाक्य जिनका उद्देश्य विधेय के समस्त अंश से पृथक् होता है, ई वाक्य कहलाते हैं जैसे—कोई भी मनुष्य देवता नहीं है। यहां अभिप्राय यह है कि कोई भी मनुष्य कोई भी देवता नहीं है। इसमें उद्देश्य और विधेय दोनों व्याप्त हैं (चित्र नं० ५) । ऐसे भावात्मक वाक्य जो अंशव्यापी होते हैं, आई वाक्य कहलाते हैं जैसे—कुछ अ ब हैं, या कुछ प्राणी बुद्धिमान् हैं। यहां उद्देश्य तो अव्याप्त है ही, विधेय भी अव्याप्त है । यहां विधेय का परिमाण शब्दशः कहा नहीं गया, किन्तु है वह अव्याप्त। कुछ प्राणी विद्वान् हैं, इसका यह अभिप्राय है कि कुछ प्राणी कुछ विद्वान् हैं। इस प्रकार आई वाक्य में कोई भी पद व्याप्त नहीं (चित्र नं० १, २, ३, ४) चौथा प्रकार ओ वाक्य है, जिसमें वाक्य अभावात्मक और उद्देश्य अंश व्यापी होता है। उदाहरणतः कुछ मनुष्य भारतवासी नहीं हैं। यहां उद्देश्य अव्याप्त है किन्तु विधेय व्याप्त है। हमारा तात्पर्य यह है कि कुछ मनुष्य कोई भी भारतवासी नहीं हैं (चित्र नं० ३, ४) । इन्हीं चार प्रकार के वाक्यों को अट्ठारहवीं शताब्दी में यूलर ने चार वृत्तों द्वारा प्रकट किया था जिन्हें पृष्ठ २१० पर दिया गया है। इन वृत्तों में उ का अर्थ उद्देश्य और वि का अर्थ विधेय है।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

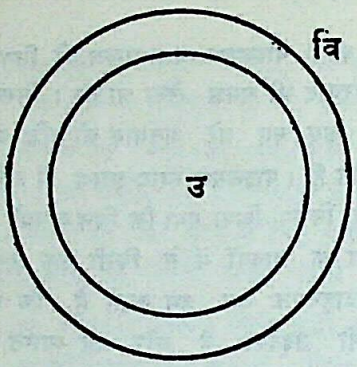

चित्र १ (ए तथा ऐ वाक्य)

चित्र २ (ए तथा ऐ वाक्य)

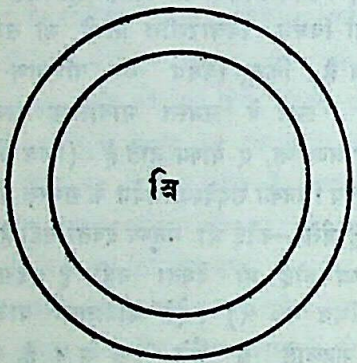

चित्र ३ (ऐ तथा ओ वाक्य)

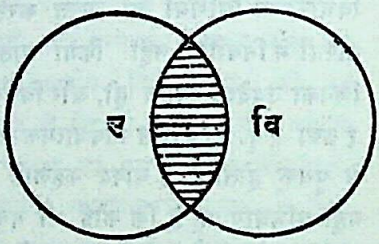

चित्र ४ (ऐ तथा ओ वाक्य)

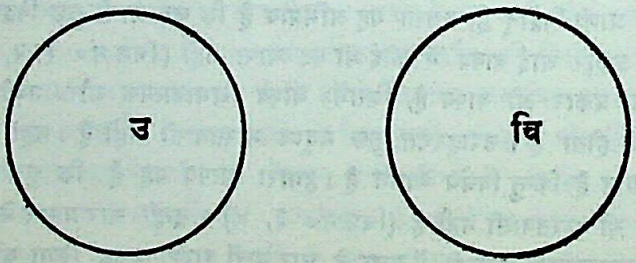

चित्र ५ (ई तथा ओ वाक्य)

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पाश्चात्य न्याय-दर्शन में किसी भी अनुमान की शुद्धि-अशुद्धि जानने से पहले उस वाक्य को न्याय-वाक्य में परिणत किया जाता है। न्याय-वाक्य का आधार यह रहता है कि प्रथम तो वाक्य उद्देश्य और विधेय दो भागों में स्पष्ट रूप से बंट जाए और दूसरे उनकी क्रिया 'होना' क्रिया के 'है' रूप या 'नहीं है' रूप में आ जाए। इसके कुछ उदाहरण भी नीचें दिए गए हैं। न्याय-वाक्य में हेतु भिन्न-भिन्न स्थानों पर रखा जा सकता है। इसी आधार पर न्याय-वाक्य के चार आकार संभव हैं। पहले आकार का उदाहरण ल—

सभी हिन्दू भारतीय हैं।
सभी सनातन धर्मी हिन्दू हैं।
इसलिए सभी सनातन धर्मी भारतीय हैं।

यहां साध्य वाक्य में (प्रथम वाक्य में) हेतु पद उद्देश्य के स्थान पर और द्वितीय वाक्य, जो पक्ष-वाक्य कहलाता है, में हेतु विधेय के स्थान पर किया गया है। यह प्रथम आकार है। दूसरे आकार का उदाहरण है—

कोई जापानी भारतीय नहीं है।
सभी हिन्दू भारतीय हैं।
इसलिए कोई हिन्दू जापानी नहीं है।

यहां पहले दोनों आधार वाक्यों में हेतु विधेय के स्थान पर है। अतः यह दूसरा आकार है।

तीसरे आकार का उदाहरण है—
सभी मनुष्य विचारशील हैं।
सभी मनुष्य जीवधारी हैं।
इसलिए कुछ जीवधारी विचारशील हैं।
यहां हेतु पद दोनों आधार वाक्यों में उद्देश्य के स्थान पर आया है।

चौथे आकार का उदाहरण है—
सभी मनुष्य जीवधारी हैं।
सभी जीवनधारी नाशवान् हैं।
इसलिए कुछ नाशवान् (पदार्थ) मनुष्य हैं।

यहां हेतु पद साध्य वाक्य में विधेय के स्थान पर और पक्ष वाक्य में उद्देश्य के स्थान पर आया है। इन चारों आकारों में हेतु का क्या स्थान होता है यह नीचे दिए गए चिन्नों से स्पष्ट होता है।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

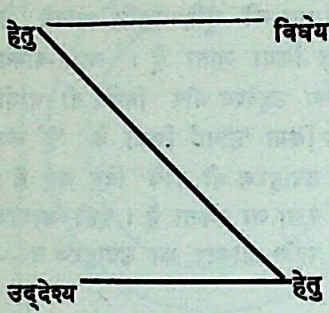

पहला आकार

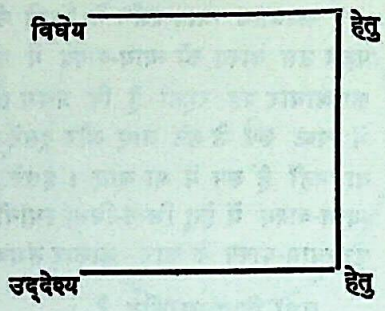

दूसरा आकार

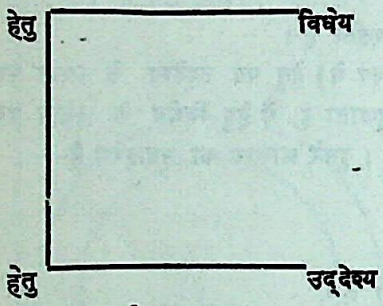

तीसरा आकार

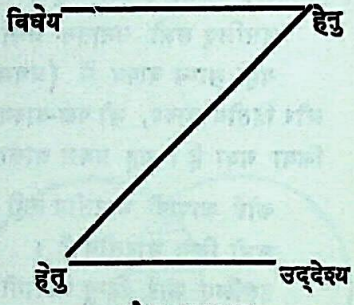

चौथा आकार

न्याय-वाक्य के संयोग :

आधार वाक्यों में जो दो वाक्य हैं, वे ऊपर बतलाये गए चार वाक्यों में से कोई भी एक हो सकते हैं। और इस प्रकार उनके निम्न १६ संभव प्रयोग बनेंगे—

ए ए,	ई ए,	ऐ ए,	ओ ए
ए ई,	ई ई,	ऐ ई,	ओ ई
ए ऐ	ई ऐ,	ऐ ऐ,	ओ ऐ
ए ओ,	ई ओ,	ऐ ओ,	ओ ओ

ये सोलह प्रकार के संयोग चार प्रकार के आकारों में होने से ६४ संयोग संभव होंगे। यदि निष्कर्ष वाक्य में भी ऊपर के चार वाक्य संभव माने जाएं तो पूरे न्याय वाक्य में २५६ प्रयोग संभव होंगे। किन्तु इन २५६ प्रयोगों में से केवल १९ प्रयोग ही प्रामाणिक सिद्ध होते हैं। ये प्रामाणिक संयोग ही वास्तविक संयोग हैं। इस प्रकार प्रत्येक आकार के परीक्षण करने पर जो १९ संयोग सिद्ध होते हैं उनके संकेत सूत्र नीचे दिए जाते हैं—

बेरबेरे, कीलेरीन, डेरैऐ, फीरैओ।
कीसेरी, केमीस्ट्रीस, फीस्टेनो, बेरोको।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

डेरेप्टे, डेटैसे, डैसेमैस, फीलेप्टोन, बोकेर्डो, फीरैसोन ।
ब्रेमेनटैप, केमीनीस, डैमेरैस, फीसेपो, फ्रीसैसोन ।

इन संकेत सूत्रों में व्यंजन को निकाल कर केवल स्वरों को देखने पर न्याय-वाक्य का रूप निकल आता है। उदाहरणतः प्रथम बेरबेरे में से ब और र को निकाल द तो ए ए ए शेष रह जाएगा। जिसका अर्थ यह हुआ कि प्रथम न्याय-वाक्य में दोनों आधार-वाक्य भी ए होंगे और निष्कर्ष भी ए होगा। इन संकेत-सूत्रों में जो व्यंजन हैं, वे भी उपयोगी हैं। यह संभव है कि एक आकार के न्याय वाक्य को किसी भी अन्य आकार के न्याय वाक्य में बदल दिया जाए। इन व्यंजनों में सांकेतिक रूप में वह विधि बतलाई गई है। किन्तु हम विस्तार भय से उस विधि की चर्चा यहां नहीं कर रहे क्योंकि उसमें मानसिक व्यायाम तो अवश्य हो जाता है, किन्तु पाश्चात्य न्याय-दर्शन की कोई ऐसी विशेषता विशेष रूप से सामने नहीं आती, जिसका उपयोग भारतीय न्याय-शास्त्र के अध्येताओं के लिए हो। इसका केवल इतना ही आशय है कि एक अनुमान को हम भाषा में अनेक प्रकार से रख सकते हैं—जो इस सम्बन्ध में विशेष देखना चाहें वे पाश्चात्य न्यायशास्त्र की निगमन विधि की किसी भी प्रारम्भिक पुस्तक में इन नियमों का अध्ययन कर सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पाश्चात्य न्यायशास्त्र में आकार और आकारों के संभव संयोगों पर बहुत विचार हुआ है। भारतीय न्यायशास्त्र में प्रायः सभी अनुमान एक ही प्रकार के आकार में रहते हैं और वह आकार किस प्रकार पाश्चात्य-न्याय शास्त्र के आकार में परिणत किया जा सकता है यह हम पहले ही बतला चुके हैं।

हेत्वाभास :

पाश्चात्य न्याय-शास्त्र में हेत्वाभासों की चर्चा भी विस्तार से हुई है। न्याय के कुछ दोष न्याय से संबद्ध है कुछ विषय में संबद्ध हैं। इनमें पहला दोष भिन्नार्थक दोष है। उदाहरणत :

नवनीत उत्तम भोजन है।
यह पुस्तक नवनीत है।
यह पुस्तक उत्तम भोजन है।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इस न्याय-वाक्य में प्रथम वाक्य में नवनीत का प्रयोग मक्खन के अर्थ में है और दूसरे वाक्य में एक पुस्तक विशेष के अर्थ में। अतः यह अनुमान भिन्नार्थक दोष से युक्त है।

वाक्यों का अर्थ उच्चारण के कारण बदल जाता है। अतः यदि किसी न्याय-वाक्य में हम उच्चारण द्वारा एक शब्द का अर्थ एक जगह कुछ और दूसरी कुछ कर दें तो भी अनुमान दूषित हो जाएगा। यह भ्रामक उच्चारण दोष है। उदाहरणतः—तुम पड़ोसी का वध नहीं करोगे। यहां यदि तुम शब्द पर बल दे दिया जाए, तो यह अर्थ होगा कि वध तुम नहीं करोगे, कोई और कर सकता है। यदि यही बल अपने शब्द पर दे दिया जाए तो अर्थ होगा कि तुम अपने पड़ोसी का वध नहीं करोगे, दूसरे के पड़ोसी का वध कर सकते हो। यदि यही बल पड़ोसी पर हो तो अर्थ होगा कि तुम पड़ोसी का नहीं, किन्तु किसी अन्य मनुष्य का वध कर सकते हो। यदि यही बल वध शब्द पर हो, तो अर्थ यह होगा कि वध नहीं करोगे कुछ और मारना-पीटना कर सकते हो। यदि यही बल 'नहीं करोगे' पर हो तो अर्थ होगा कि तुम्हें पड़ोसी का वध नहीं करना चाहिए। इस प्रकार के वाक्य जहां उच्चारण से इतने अधिक अर्थ संभव हों, ठीक-ठीक अनुमान में सहायक नहीं बन सकते।

कुछ वाक्य ऐसे होते हैं जिनके अनेक अर्थ संभव होते हैं क्योंकि उनकी रचना भ्रामक होती है। जैसे—भागो मत जाने दो। यदि यहां 'भागो' के बाद अर्द्ध विराम हो तो कुछ और अर्थ हो जाएगा और यदि यही अर्द्धविराम 'मत' के बाद हो तो उसके ठीक विपरीत अर्थ होगा। ऐसे भ्रामक वाक्य भी अनुमान में बाधक होते हैं। यह भ्रामक रचना दोष कहलाता है।

यदि एक भार को दस व्यक्ति अलग-अलग न उठा सकें तो यह आवश्यक नहीं कि दसों मिलकर भी उसे न उठा सकें। यदि ऐसा मानें तो उसका अर्थ यह होगा कि हम पृथक् पदार्थ और सामूहिक रूप में पदार्थों की शक्ति में विवेक नहीं कर रहे। उदाहरणतः यदि हम कहें कि क्योंकि इस वकील की प्रत्येक युक्ति से अभियुक्त का अपराध सिद्ध नहीं होता अतः ये समस्त युक्तियां मिलाकर भी उसका अपराध सिद्ध नहीं कर सकतीं, तो यह संग्रह दोष होगा।

संग्रह दोष के ठीक विपरीत विग्रह दोष है। जो बात सबके सम्बन्ध में सामूहिक रूप से है, वह असामूहिक रूप में किसी के लिए सत्य नहीं भी हो

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सकती। उदाहरणतः इस बाग में घनी छाया है अतः इस बाग का बबूल का वृक्ष भी घनी छाया वाला है

जहां शब्दों का आलंकारिक प्रयोग होता है वहां भ्रम हो सकता है। उदाहरणतः महाब्राह्मण उच्च कोटि का ब्राह्मण नहीं, प्रत्युत मृत्यु सम्बन्धी दान ग्रहण करने वाला व्यक्ति कहलाता है जिसे हम कोई उत्कृष्ट व्यक्ति नहीं कह सकते। कोई-कोई शब्द थोड़ा-सा परिवर्तन करने पर बिल्कुल दूसरा अर्थ देने लगते हैं—ऐसे शब्दों का यदि पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयोग किया जाए, तो भी आलंकारिक दोष होगा। उदाहरणतः अभिमानी मनुष्य को कोई भी प्रेम नहीं करता। महाराणा प्रताप बड़े स्वाभिमानी थे। अतः उन्हें कोई भी प्रेम नहीं करता। यहां अभिमानी और स्वाभिमानी को एक ही चीज मान लिया गया है। यद्यपि वे एक दूसरे के सर्वथा विपरीत अर्थ देते हैं। अतः यह आलंकारिक दोष है।

जब कोई दोष उपाधि या आकस्मिक गुणों के सम्बन्ध में कोई सत्य उस वस्तु के सम्बन्ध में सत्य मान लिया जाता है तो वह उपाधि भेद दोष कहलाता है। उदाहरणतः व्यायाम करना स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद है। अतः ज्वरग्रस्त मनुष्य को व्यायाम अवश्य करना चाहिए। यहां व्यायाम सबके लिए लाभप्रद है। यह सामान्य बात है। किन्तु ज्वरग्रस्त मनुष्य के लिए ज्वरग्रस्तता उपाधि है और उस उपाधि की दशा में भी उसके सम्बन्ध में यह सत्य मान लिया गया, अतः यहां उपाधिभेद दोष है।

कभी-कभी प्रतिवादी के पक्ष का खण्डन करते समय वादी उसके कथन का अत्यन्त विरोधी वाक्य स्थापित नहीं करता प्रत्युत ऐसा वाक्य स्थापित करता है जिससे प्रतिवादी की बात का खण्डन ही नहीं होता। यह प्रतिवाद के अज्ञान का दोष है। जब हम किसी बात का खण्डन करने के लिए किसी पर व्यक्तिगत आरोप लगाते हैं, या किसी बहुत बड़े व्यक्ति या ग्रन्थ की दुहाई देते हैं या श्रोताओं को उत्तेजित करने के लिए प्रयत्न करते हैं तो हमारा तर्क दूषित हो जाता है क्योंकि यहां हम तर्क से हटकर भावना के क्षेत्र में आ जाते हैं। यदि हम अपने प्रतिवादी के अज्ञान का लाभ उठाकर पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करते हैं तो भी वह दोष माना जाता है। उदाहरणतः किसी व्यक्ति के कथन में हम यह कहें कि तुम्हारा वाक्य उपाधिभेद से दूषित है, और वह व्यक्ति उपाधिभेद का अर्थ न समझता हो, तो यह भी दोष होगा। शोर मचाकर, तालियां बजाकर या शक्ति के

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रयोग से किसी की युक्तियों का जवाब देना भी दोषपूर्ण है। यदि हम जो प्रस्तुत प्रसंग हो उसे छोड़कर अप्रासंगिक चर्चा करने लगें तो अर्थान्तर दोष होता है। उदाहरणतः यदि अध्यापक पूछे कि तुमने कल वाद-विवाद में भाग क्यों नहीं लिया और विद्यार्थी कहे कि कल का वाद-विवाद बहुत सुन्दर था, उसमें अमुक विद्यार्थी बहुत अच्छा बोला, तो यह अर्थान्तर दोष होगा।

जिसे भारतीय न्याय शास्त्र में अन्योन्याश्रय दोष कहते हैं, पाश्चात्य न्यायशास्त्र में वही आत्माश्रय दोष है। उदाहरणतः सनातनधर्म संसार का सबसे प्राचीन धर्म है क्योंकि वह सनातन धर्म है। यहाँ जो सनातन धर्म होना हतु दिया है, वह सबसे प्राचीन धर्म होने का ही दूसरे शब्दों में कथन है। इसी प्रकार यह कहना कि ईश्वर है, क्योंकि वेदों में ऐसा लिखा है, और वेद ईश्वर के ग्रन्थ हैं, आत्माश्रय दोष होगा। जिस वाक्य को सिद्ध करना हो, उसी को मान लेना प्रथम प्रकार का आत्माश्रय है। किसी विशेष वाक्य को सिद्ध करने के लिए ऐसा सामान्य वाक्य कहना जिसमें वह विशेष वाक्य अन्तर्निहित ही हो, दूसरी प्रकार का आत्माश्रय है। किसी सामान्य वाक्य को सत्य सिद्ध करने के लिए ऐसे विशेष वाक्यों को मान लेना, जिनकी सत्यता पर उन सामान्य वाक्यों की सत्यता निर्भर हो, तीसरी प्रकार का आत्माश्रय दोष है। किसी वाक्य के सत्य सिद्ध करने के लिए उस वाक्य के एक-एक खंड को अलग-अलग सत्य मान लेना चौथी प्रकार का आत्माश्रय है। किसी बात को सिद्ध करने के लिए उसके पारस्परिक विपरीत सम्बन्ध के सत्य होने की कल्पना कर लेना, पांचवीं प्रकार का आत्माश्रय है।

जब हम एक ही साथ बहुत सारे प्रश्न करते हैं और उनमें एक प्रश्न में दूसरे प्रश्न का उत्तर भी अन्तर्निहित होता है तो वह बहुप्रश्नात्मक या मिश्र प्रश्न का दोष कहलाता है। उदाहरणतः यदि हम किसी से कहें कि क्या तुमने चोरी करना अभी नहीं छोड़ा तो यहा इस प्रश्न का उत्तर पहले ही मान लिया गया है कि क्या तुम चोरी करते थे ?

जब दिए हुए आधार वाक्यों में निगमन वाक्य न निकलता हो, तो वह असंबद्धता का दोष कहलाता है। ऐसी स्थिति में चाहे वे आधार वाक्य भी शुद्ध हों, और निगमन वाक्य भी शुद्ध हों किन्तु न्याय दूषित ही माना जाएगा। उदाहरणतः इस अस्पताल में बीमारों की संख्या २०० है। अतः स्वास्थ्य विभाग

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अपना कार्य ठीक रूप में कर रहा है। यहां जो दो वाक्य हैं, वे पृथक्-पृथक् ठीक भी हो सकते हैं। किन्तु उन दोनों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, अतः यहां असंबद्धता का दोष है।

ऊपर के विवेचन से अध्येताओं को इस बात का कुछ अनुमान हो जाएगा कि पाश्चात्य न्यायशास्त्र में भी अनुमान की प्रक्रिया और हेत्वाभासों पर कितनी विस्तार से चर्चा हुई है, इसका कुछ आभास करा देना ही प्रस्तुत परिशिष्ट का प्रयोजन है।

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शब्दानुक्रमणी

अ

अथल्ये—२३, २६, ४०, ४३, १२८ १५५, १७६, १८५
अर्धबौद्ध—९५
अर्धवैनाशिक—९५
अन्नम्भट्ट—२, ३, १४, १७, १९, २०, २७, ३०, ३१, ३६, ३७, ३८, ४५, ४६, ५५, ६४, ६९, ७०, ७४, ७८, ८१, ८५, ८६, ९०, ९४, १०१, १०२, १०३, ११०, ११६, १२१, १२२, १२३, १२८, १२९, १३५, १३७, १३८, १३९, १४४, १४६, १५०, १५१, १५३, १५४, १५५, १५७, १५८, १६०, १६२, १६६, १७१, १७२, १८१, १८२
अनेकान्तवाद—१९६
अरस्तू—४, ५, ११४, २०८
अलंकारशास्त्री—१५९

आ

आगमनात्मक तर्कपद्धति—२०८
आधुनिक नैयायिक—१७२

ई

ईशोपनिषद्—१९७

उ

उदयन—१६७
उदयनाचार्य—१६, २३, ५२
उपस्कारभाष्य—१०, १३, २८, २९, ३१, ३२, ३३, ४१, ४६, ४७, ५६, ६०, ६५, ६७ ६९, १०५, १२७, १२८, १३६, १३७
उमास्वाति—१९७

ऋ

ऋग्वेद—४०

ए

एम्पीडोक्लस—४२

क

कठोपनिषद्—५९
कणाद—४, ५, ९, १०, १२, १५, १७, १८, २०, २३, २५, २६ २७, ३१, ४१, ४३, ४४, ५०, ५६, ५८, १३८, १३९, १८२
कणादरहस्य—७२, ७९
काण्ट—४६, १०६
कादम्बरी—२, ३
काव्यप्रकाश—१५६
काव्य-शास्त्री—१५७
किरणावली—२, ३, १६, २३
कुमारिलभट्ट—१८८
कुसुमांजली—१६७
केशवमिश्र—८९, १०७, १२४

ग

गदाधरी—१३९
गीता—५३
गौतम—५, ६, ४९, ५६, ८३, ८६, १०२, १०३, १२१, १३३, १३८, १४२, १८४, १८५
गौतमदर्शन—५
गौतमसूत्र— ५८, ११४, १३८, १४४
गंगेश—११५, १४६

च

चार्वाक—५१, ५३, १६७

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ज
जैन—१३६, १६७
जैन आगम—२०४
जैन दर्शन—१९५, १९८, १९९, २००, २०४
जैन नैयायिक—३४, २००
जैनन्याय—१३६, १९५, १९९, २०१, २०२, २०४
जैमिनि—२

झ
झलकीकर टीका—१५६

ड
डाल्टन—४३
डेमोक्रिटस—४२

त
तर्ककिरणावली—१६, ६६
तर्ककौमुदी—२९, ४९, ८२, १०१, १०३, १०९, १२१, १३५, १३९
तर्कदीपिका—२, ३४, ३९, ५०
तर्कप्रकाश—१५५
तर्कभाषा—८९, १००, १०१, १०७, ११४, १२४
तर्कशास्त्र—२०६
तर्कसंग्रह—२३, २६, २७ ५५, ७३, ८२, ९६, १०३, ११५, १२७, १३५, १३८, १७२, १७६, १८२, १८४, १८५, १८७, १९५, १९७, २०१, २०६
तर्कामृत—१५
तत्त्वार्थसूत्र—१९६
तत्त्वचिन्तामणि—११६, १२५
तन्त्ररहस्य—५
तार्किकरक्षा—१७६
तीर्थङ्कर—२०४

द
दिङ्नाग—१९४
दिनकरभट्ट—५७
दिनकरी व्याख्या—३७
दीपिका—४, ५, ७, ८, ९, १२, १३, १५, २५, २६, ३७, ४०, ४४, ५१, ५३, ५५, ५७, ६०, ६१, ७३, ८१, ८२, ८५, ८६, ९०, ९१, १०४, १११, ११५, ११७, १२३, १२५, १२८, १३१, १३२, १३५, १३७, १४५, १४६, १४७, १५५, १५८, १५९, १६३, १६६, १६८, १७१, १७५, १७६, १८०, १८१, १८४, १८५
दीपिकाकार—३६, ५१, ११५, १४९, १५४, १८१
दुर्गाधर शर्मा —८
The Sacred Books of the Hindus— २७
The Vaiśeṣika Sūtra of of Kaṇāda— ३७

ध
धर्मकीर्त्ति—१९४
धर्मभूषण—२०४
धर्मशास्त्र—१६७, २०६
धर्मोत्तराचार्य—१२०

न
नव्यन्याय—१०
नव्यनैयायिक— १८, १९, २०, ३६, ३८, ४०, ४६, ५३, ८८, १०६, ११०, ११६, १३३, १४५, १४९, १५०, १५१, १५५, १५६, १५८, १६६
नागार्जुन—१८८
नासदीयसूक्त—१९७
निगमनात्मक तर्कपद्धति—२०८
निर्विकल्पक—१०१
नीलकण्ठ—१४, २६, २७, ४३, ८२, ८७, ९०, १२१, १३७, १४६, १५५, १७२, १७४

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नीलकण्ठी टीका—१५१
नैयायिक—५, ७, ९, १५, २०, २१, २२, २३, २८, ३३, ३४, ३९, ४०, ४१, ४४, ४६, ४७, ४८, ५०, ५३, ५५, ५८, ५९, ६२, ६५, ६७, ६८, ७४, ७६, ७९, ८०, ८६, ८७, ८८, ९३, ९४, ९६, ९७, ९८, १००, १०६, ११०, १११, ११२, ११४, ११६, १२३, १२७, १३३, १३८, १४६, १५३, १५४, १५५, १५९, १६३, १६४, १६७, १६८, १७०, १८०, १८१, १८४, १९३, २००, २०१, २०२, २०४
न्याय—५८, ६९, ११४, ११५, १२४, १२७, १८५, १८६, १८९, १९७, १९८
न्यायकन्दली—८, ५०, ६०
न्यायकुसुमांजली—५२, १५१, १६७
न्यायकोष—३७, ३९, १३९
न्यायदर्शन—२०, ८६, ९७, ११३, ११४, १९९
न्यायबिन्दु—१३६
न्यायबिन्दुटीका—१२०, १३६
न्यायबोधिनी—५, ७, ८, ४४, ७८, ९०, १००, १०२, १०३, ११६, १२०, १३७, १५९, १७४
न्यायबोधिनीकार—४३
न्यायवाक्य—११३
न्याय-वैशेषिक—८०, ९४, ९५, ११३
न्यायशास्त्र—१७, ३७, ५०, १३१
न्यायसिद्धान्त—५७
न्यायसिद्धान्तमुक्तावली—३०, ४१, ४९, ५७, ६०, ६७, १४८, १५१, १६६, १८५
न्यायसूत्र—३, ५, ५३, ५८, ५९, ८६, १२१, १२५, १३३, १४१, १६४, १८५, १८६
न्यूटन—६१

प
पदकृत्य—३
परिणामवाद—९६
पाश्चात्यदर्शन—२०६, २०७
पाश्चात्यन्यायदर्शन—११३, १२६, १२७, २११, २१३
पाश्चात्य न्यायपद्धति—११४
पाश्चात्य न्यायशास्त्र—११४, १३८, २०८, २०९,, २१६, २१७
पिठरपाक—६८
पिठरपाकवादी—६६, ६७
पीलूपाक—६८
पीलूपाकवादी—६६, ६७
पूर्वमीमांसा—२
पौराणिक—१६७
पंचावयववाक्य—१२५, १२६
प्रत्यक्ष—१०१, १०३
प्रभाकरमीमांसक—१६७
प्रशस्तपाद—२७, ३०, ५०, ६१, ६८, १२२, १३८
प्रशस्तपादभाष्य—८, १०, १८, १९, २७, २८, ३०, ३३, ३६, ५२, ६०, ६६, ६८, ७२, ७८, ८३ १२०, १२२, १३८
प्राचीन नैयायिक—३६, ३७, ३८, ३९, ४०, ५३, ८८, ११०, १२४, १२७, १४५, १४९, १५०, १५५, १५६, १७२
प्राचीनन्याय—१५८
प्राभाकर मीमांसक—८, १९, २०
प्रोफेसर फ्लीमिंग—१०६

फ
फॉरमल दोष—१३८

ब
बृहदारण्यकोपनिषद्—५८, १३५
बेकन—२०८
बैलेन्टाइन—१७७

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

बोडास—२३, २५, २६, ४०, ४३, १२८, १३२, १५५, १७६, १८५
बौद्ध—५१, ९४, ९६, १०५, १३८, १५६, १५७, १६७, १६८, १७०, १९०, २०१
बौद्धदर्शन—१८७
बौद्धन्याय—१३६, १९०, १९५
ब्रह्मसूत्र—२१, ४०, ९४

भ
भाट्ट—१९
भाट्ट मीमांसक—२१
भारतीय अनुमान—२०७
भारतीय दर्शन—१८६
भारतीय नैयायिक—९६
भारतीय न्याय—११३, २०७, २०८
भारतीय न्यायपद्धति— ११४, १२६
भारतीय न्यायशास्त्र—१२२, १२५, १२६, २१३, २१६
भारतीय विचारक—१५७
भाषा परिच्छेद—९, ११, १२, १५, २२, ३०, ४४, ४६, ४७, ५३, ६९, ७०, ७३, ७७, ९२, १०३, १०९, ११०, ११६, ११७, १६१, १६६

म
मनु—१७३
मल्लिषेण- १८८
महाभारत—६४
माध्यमिक—१८८, १८९
मायावाद—९६
मिल—१२३, १२८, १५७, २०७,
मीमांसक—५, ८, ३४, ५६, ५७, ८६, ९६, १११, १२६, १२७ १३३, १५३, १५४, १५५, १५६, १६३, १६७, १६८, १६९, १७०, १८१
मीमांसा—४३
मीमांसासूत्र—१६३
मुक्तावली—३०
मैत्रेशास्त्री—३
मैक्समूलर—१२७
मैटीरियल दोष—१३८

य
यूलर—२०९
योगाचार—१८९

र
राइड—१०६

व
वस्तुवादी दर्शन—११२
वाक्यवृत्ति—३, १५, २६, ४३, ४५, ५५, ५६, ६०, ७३, ७८, ८१, ८४, ९१, १५४
वाक्यवृत्तिकार—१५३
वाचस्पति—१२२
वात्स्यायन—११५, १२७,१४२
वात्स्यायनभाष्य—३,२८, १०२,११४, ११५, १२५
विज्ञानवाद—१८८
विवर्त्त—९६
विश्वनाथ—३०, ४५, ४७, ७४, ९२, ११०, १५१, १६१, १६६
विश्वनाथवृत्ति—१८५
वेद—१६४, १७०
वेदान्त—२०, २१, ६९, १६७, १९७
वेदान्तपरिभाषा—५९, १११, १२७, १३३, १५७, १६२, १६४, १७०
वेदान्तदर्शन—८५
वेदान्ती—२१, २३, ३९, ४२, ४३, ५८, ५९, ६२, ८०, ९४, ९७, ९७, १११, ११२, ११३, १५७, १५९
वैभाषिक—१८७
वैयाकरण—१५३, १५४, १५७
वैशेषिक—२०, २६, ५०, ५८, ६६, ६७, ६९, ७४, ७६, ७९, ८३,

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

११०, ११२, १२७, १३२, १३६, १५१, १६६, १६७, १६८, १९५, १९६
वैशेषिक दर्शन—४, ५, ९. १०, १३, १५, १८, १९, २३, २६, ३१, ४१
वैशेषिक सूत्र—५४, ५६, १८५, १९५
वोकेबलरी आफ् फिलासफी—१०६

श
शंकर मिश्र—१०, १३, २६, ३१, ३३, ६०, ६९, १२८, १३७
शंकराचार्य—२७, ४०, ४३, १८८
शांकरभाष्य—२१, ५८, ९४
शून्यवाद—९६, १०५, १८८
श्रीधर—८, ६०, ६१
श्लोकवार्तिक—१९६

स
सत्कार्यवाद—९६, ९७
सप्तपदार्थी—४, ८१
सविकल्प—१०१
सर्वदर्शनसंग्रह—६८, ७०, ८६, ९४, १६८, १७०
सर्वास्तिवाद—१८७
सांख्य—२१, ४२, ८०, ८५, ९४, १५१, १६७
सांख्यकारिका—५, ९५
सांख्यतत्त्वकौमुदी—९५, १२२, १५१
सांख्य दर्शन—५, ४६
सिद्धान्तचन्द्रिका—२८, ३०, १२१
सिद्धान्तचन्द्रोदय—३, ६, १०, १८, २०, २२, २७, २८, ३७, ३८, ४३, ६०, ७३, ८१, ८२, ८६, ८८, ९०, ९१, ९९, १५१, १७६, १८१
सिद्धान्तमुक्तावली—२२, ६९, १०२, ११०, ११५, ११६
सुकरात—११५
सौत्रान्तिक—१८७, १८८
स्याद्वाद—१९७

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उद्धरणानुक्रमणी

अ

अकालत्वे सत्यविशेष—४७
अग्निहोत्रं जुहुयात्—१८५
अत्यन्तव्यावृत्तिः—१७
अथ द्रव्याश्रिता—९
अथ यदा सुषुप्तो—५७
अधीतव्याकरणकाव्यकोशोऽनधीत-न्यायशास्त्रः—३
अनधिगताबाधितार्थविषयत्वम्—८५
अनधिगतार्थगन्तृ—८६
अनन्यथासिद्धत्वे सति—८१
अनुभवत्वव्याप्यजात्यवच्छिन्न०—८९
अनुमानस्य द्वे अङ्गे—११४
अनुमितिचरमकारणलिङ्गपरामर्श-प्रयोजकम्—१२५
अनुमितिप्रतिबन्धकयथार्थ—१३७
अनियतोपाध्युन्नायिका—४७
अनेकैकत्वबुद्धिर्या—६९
अन्त्यावयवित्वे सति—२८
अन्नम्भट्टस्तु-सुखेनानायासेन—३
अन्यत्रान्त्येभ्यो—१८
अपकृत्यावधिमपेक्ष्य—७२
अपेक्षाबुद्धिर्द्वित्वादेरुत्पादिका—७०
अपोद्धारव्यवहारकारणम्—७२
अभावप्रत्यक्षे समवायप्रत्यक्षे—११०
अभिधानापर्यवसानम्—१६०
अभिधेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम्—४
अमूर्तसमवेतद्रव्यत्वापरजातिमत्त्वम्—४९
अयंपिण्डो गवयपदवाच्यः—१५१
अयं स्थाणुः वा—१७१
अर्थस्मृत्यनुकूलः पदपदार्थसम्बन्धः—१५५
अवयवजन्यत्वे—२८
अवयवाश्च त्रय एव—१२७
अविलम्बेन कार्योत्पादकत्वम्—८९
अव्यपदेश्यमव्यभिचारि—१०२
असति क्रियागुण—अर्थान्तरम्—२३
असति ह्यनुमानम्—२
असदकरणाद् उपादानग्रहणात्—९५
असमवायत्वे—२२
अस्य महतो भूतस्य—१६४
अक्षमक्षं प्रतीत्योत्पद्यते—१०२
अक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः—१०१
अत्र नित्यपृथिव्याः—२७
अत्र प्राञ्चो नैयायिकाः—विरहादि-त्याहुः—८२
अत्र समवेतकारणत्वे—५६
अत्रेति शब्दस्य—१६
अज्ञानान्धकार—प्रकाशः सा बुद्धिः—८१

आ

आत्मत्वसामान्यवान्—४९
आत्मनो भोगायतनम्—२८
आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः—५९
आत्मा मनसा संयुज्यते—२८, १०२
आत्मा वा अरे—१३४
आत्माश्रयः प्रकाशः—८१
आत्मेन्द्रियार्थसंनिकर्षे—५६
आदिमत्त्वादैन्द्रियकत्त्वात्कृतकवदुप-चाराच्च—१६४
आद्ये क्षणे निर्गुणम्—७
आर्द्रेन्धनसंयोगे सति—१४६
आनयनक्रियानिरूपितकर्म व्यक्ति—१५३
आप्यतैजसवायवीय—त्वमेव—३२
आसत्तिर्योग्यताकांक्षातात्पर्यज्ञान-मिष्यते—१६१
आहार्यव्याप्यवत्ताऽऽमजन्य—१७२

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इ

इतरा (क्रिया) न्विते शक्तिरिति—१५४
इतरेच्छानधीनेच्छाविषयः—१७४
इदन्तु बोध्यं—बहुत्वजातिर्नातिरिच्यते—६९
इन्द्रियजन्यज्ञानम्—१०२
इन्द्रियार्थप्रसिद्धि—हेतुः—४९
इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था—५९
इह कार्यकारणभावे चतुर्धा—सज्जायत इति—९४
इह भूतले घटो नास्ति—२२
इहेदमिति यतः—२०

उ

उत्क्षेपणमवक्षेप—कर्माणि—१३
उद्भूतस्पर्शवद्द्रव्यम्—११०
उपदर्शितलक्षणचतुष्टये—७३
उपसमीपवर्त्तिनि—१४७
उपादानगोचर—५१
उभयात्मकमत्र मनः—५८
उष्ट्रो नाश्वादिवत्समानपृष्ठ—१५१

ऋ

ऋचो यजूंषि सामानि—१६४

ए

एकत्वादिव्यवहारहेतुः—६८
एकद्रव्यमगुणम्—१३
एकस्मिन् धर्मिणि—१७१
एते च पदार्थाः—२३
एते पञ्चान्यथासिद्धाः—९२
एते पदार्थाः परस्परसंसर्गवन्तः—१६६

क

कपिसंयोगवानयं वृक्षः—१४९
कम्बुग्रीवादिमद्वस्तु—१५६
करणव्यापारः—४९
काञ्च्यां त्रिभुवनतिलको भूपतिः—१५४
कामलादिदोषजन्यः—८६
कारणबहुत्वाच्च—४१
कारणबहुत्वात्—महत्—४१
कारणाभावात् कार्याभावः—५, २३
कार्यत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणम्—७३
कार्यान्नियता (अवश्यम्भाविनी) पूर्ववृत्तिः—९१
कार्यायोजनधृत्यादेः—५२
क्रियावत्त्वम्—६
क्रियावद्द्रव्यत्वम्—४४
केवलान्वयिधर्मसाध्यकः—१४०

ग

गच्छ गच्छसि चेत्कान्त—१५९
गन्धसमवायिकारणम्—२५
गवादिपदानां व्यक्तौ शक्तिः—१५७
गुणभावा एवेति—१०
गुणवत्त्वम्—६
गुणसमानाधिकरण—७

घ

घटमहम्—८१
घटविशेष्यक-घटत्वप्रकारोऽनुभवः—८४
घटज्ञानवानहमस्मि—८१
घटादीनां कपालसमवेतत्वादिकम्—१८
घटाभाववद् भूतलम्—२३
घटे पटत्वं नास्ति—२२
घटः पटो नास्ति—२२
घ्राणजादिप्रभेदेन प्रत्यक्षम्—१०९
घ्राणरसनचक्षुः—भूतेभ्यः—५९

च

चतुर्विधं हि तेजः—३३
'च' शब्दसमुच्चिताश्च—१०
चक्षुराद्यजन्यत्वे सति—८३

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ज

जातावेव शक्तिव्यक्तिलाभस्त्वाक्षेपात्—१५७
जातिरहितत्वे सति—१७
जातौ व्यक्तौ वैशिष्ट्ये—१५६
जानामीत्यनुव्यवसायगम्यज्ञानत्वम्८१
जालसूर्यमरीचिस्थम्—४१
ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत—१७५, १८५

त

तच्च प्रत्यात्मनियतत्वात्—५६
तज्जन्यत्वे सति—८२
ततः परमाणौ श्यामादिनाशः—ततो रक्ताद्युत्पत्तिः—६७
तत्पुनः पृथिव्यादि—२७
तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितम्—१६२
तथा च सत्युपाध्यभावजनित—१२४
तदप्रामाण्याग्राहक—ग्राह्यत्वम्—१६९
तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवः—८४
तत्वर्थन्ते प्रतिपाद्यन्ते—३
तत्र कार्य्यलक्षणः—३६
तत्र प्रथममिन्द्रियार्थसंन्निकर्षः—७०
तत्र रूपं चक्षुर्ग्राह्यम्—६०
तत्रायोनिजमनपेक्ष्य—२८
तादृशव्यवहारजनकतावच्छेदकजातिमत्त्वम्—८१
तेषां गुणानां मध्ये—६०
तैलान्तरे तत्प्रकर्षाद्दहनस्यानुकूलता—७७
त्वगग्राह्य चक्षु—धर्मवत्त्वम्—६०
त्वङ्मनःसंयोगो—५७

द

दूरान्तिकादिधीहेतुः—४७
द्रव्यकर्मभिन्नत्वे—९
द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः—४
द्रव्यत्वजातिमत्त्वम्—६
द्रव्यविभाजकोपाधि—जातिमान्—१२
द्रव्यवृत्तिर्या—६
द्रव्यादिषट्कान्योन्याभावत्वम्—२२
द्रव्यावृत्ति-नित्यवृत्ति—९
द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः—१९६
द्रव्याश्रयी न गुणवान्—९
द्रव्याश्रय्यगुणवान्—१९६
द्रव्येत्तरत्वे सति—८८
द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ—६८

ध

धर्माधर्मावदृष्टम् स्यात्—११
धाता यथापूर्वमकल्पयत्—४०, १६४
ध्वंसो विनाशी जन्यत्वात्—१४७
ध्वंसप्रतियोगित्वम्—२६
ध्वंसाप्रतियोगित्वम्—२६

न

न च वृक्षादीनाम्—३०
न चोत्क्षेपणादीनाम्—१४
न तु कार्याभावात् कारणाभावः—५
न त्वयं गवयपदवाच्य इत्युपमितिः—१५१
न हि फलीभूतज्ञानस्य—१११
नागृहीत विशेषण—१०४, १०५
नामजात्यादिविशेषण-विशेष्य-सम्बन्धावगाहि ज्ञानम्—१०४
नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधानमुद्देशः—३
नासतोऽदृष्टत्वात्—९४
नासिकालसदेकभृङ्ग—१५१
निगम्यन्ते समर्थ्यन्ते—१२५
नित्यत्वे सति स्वाश्रयान्योन्याभाव-१५
नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वम्—१४
नित्यत्वं प्रागभावाप्रतियोगित्वे—२७
नित्यमेकमनेकानुगतम्—१४
नित्यावृत्तिसत्ता—जातिमत्त्वम्—१३
नित्यं विज्ञानमानन्दम्—५३

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नियतान्यथासिद्धभिन्नत्वे सति—९१
नियतोपाध्युन्नायकः—४७
निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुः —२०१
न्यायाद्दोषगतसंख्यामादाय—१३७

प
पटरूपसमवायिकारणीभूत—समवायिसमवायः—९९
पटे घटत्वं नास्ति—२२
पदसमूहादेव शाब्दबोधो—१५४
पदज्ञानं तु करणम्—१६६
पदानामन्वय एव शक्तिः—१५३
पदानामन्वयविशिष्टे शक्तिः—१५३
पक्षतावच्छेदकाभाववत्पक्षकः— १४४
पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नविशेष्यता —११६
पक्षतावच्छेदकावच्छिन्नविषयता— —११६
पक्षनिष्ठानवच्छिन्नसाध्याभाववान्— १४९
परार्थानुमानं शब्दात्मकम्—१२०
परापरव्यक्ति—द्रव्यं कालः—४६
परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः—११५
परिच्छिन्नपरिमाणत्वम् ४४
परिमाणस्य स्वसमान—प्रसङ्गात् ४१
परिमाणं मानव्यवहारकारणम्—६८
परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य—४४
पीनो देवदत्तः—१६७
पृथिव्यादिषु (नवद्रव्येषु)—२६
प्रकरणमनतिवर्त्तमानः—१४२
प्रकारान्तरेण विभजते—२७
प्रकृतवाक्यार्थविषयकयथार्थ—१५३
प्रतिगतमक्षम्—१०१
प्रतिगतमाश्रितमक्षम्—१०२
प्रतियोगिज्ञानाधीनविषयत्वम्—२२
प्रत्यक्षप्रमाकरणम्—१०१
प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य—११५
प्रथमसुषुप्त्यनुकूलमनः—५७
प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे—परतश्चाप्रमाणताम्—१६८
प्रमाणप्रमेयसंशय—तत्त्वज्ञानान्निः— श्रेयसाधिगमः—५
प्रागभावो विनाशी प्रमेयत्वात्—१४८
प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवन—लिङ्गानि —५४
प्रौढप्रकाशतेजः सामान्याभावः—७

फ
फलायोगव्यवच्छिन्नं कारणम्—८८

ब
बहिर्द्रव्यप्रत्यक्षं प्रति—३८
बालानां सुखबोधाय—९०
बुद्ध्यादयः—४९
बुद्ध्यादिषट्कम्—१२
बुबोधयिषापूर्वकवाक्यप्रयोगः—८१

म
मनो विभु—५६
मनो विभु—आत्मवत्—५६
मानाधीना मेयसिद्धिः—८६
मितेन लिङ्गेनार्थस्य—११४
मूलं सुखादिलक्षणपरम्—१७४

य
यजेत जुहुयात्—१८५
यज्जातीयः समुत्पाद्य—१७६
यद्यज्जन्यं तत्तद्विनाशी—१४७
यद्येतल्लक्षणम्—बालधीवैशद्याय— ३०
यद्विलम्बात्प्रकृतकार्यानुत्पादस्तत्कारणत्वम्—८७
यस्तर्केणानुसंधत्ते—१७३
यस्य हेतोर्याक्ति—१३७
यत्र यत्र धूमः—११३
यत्र यत्र यथापूर्वम्—१२१

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो—५६
येन सह पूर्वभावः—९२
येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते—१०९
यो यो धूमवान्—११८
यो यो वह्न्यभाववान्—११८

र
रूपरसगन्ध—प्रयत्नाश्च गुणाः—१०
रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी—२६
रूपरसस्पर्शवत्य—३१
रूपिणः पुद्गलाः—१९६

ल
लक्ष्यतावच्छेदक—साधारणत्वम्—८
लिङ्गलिङ्गिनो सम्बन्धदर्शनम्—११५

व
वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः—११३, १२१
वह्निसंयोगात् कर्म—६७
वाचा विरूपनित्यया—१६४
वायुः प्रत्यक्षः—३८, १४७
वायुर्गन्धवान् स्नेहात्—१३६
विषयस्तु—मृत्पाषाणस्थावरलक्षण—३०
विषयो द्व्यणुकादिश्च—३०
वेदवाक्यरचनावक्तृयथार्थवाक्यार्थ-ज्ञानपूर्वा—१६४
व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वम्—१६
व्यापारवत्त्वे सति—८८
व्यापारवदसाधारणं कारणम्—९०
व्याप्तिबलेन लीनमर्थम्—१२१
व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानम्—११३
व्याप्यत्वासिद्धस्य लक्षणमाह—१४६

श
शक्तिग्रहो व्याकरणोपमान—१५८
शब्देतरोद्भूतविशेष—गुणानाश्रये मति—२८
शब्देतरोद्भूतविशेष—संयोगाश्रयम् २८
शब्दोऽनित्यः—१६४
शब्दः क्षणिकः सत्त्वात्—१४६
शरीरसंयुक्तम्—२९
शरीरेन्द्रिययोर्विषयत्वे—३०
श्यामो देवदत्तः—१०४

स
सकलवह्निधूमयोः—१२०
सति विशेष्ये बाधे—११४
सत्यपि प्रमातरि प्रमेये—करणम्—८९
सद् द्रव्यलक्षणम्—१९६
सप्तम्यर्थो विशेष्यत्वम्—८४
समवायस्त्वेक एव—२०
समवायस्वसमवायिसमवायान्यतर-संबन्धेन—९९
समवायिकारणत्वम्—६
स्मृत्यजनक—ज्ञानजनक—२९
सर्वमनित्यं प्रमेयत्वात्—१४०
सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वम्—४४
साधनाश्रयव्यतिरिक्तत्वे—८६
साध्यसंदेहजनकोभय—१३९
साध्यवत्तया पक्षवचनम्—१२५
साध्याभावव्यापकत्वं हेत्वभावस्य—११८
साध्याभाव व्यापकी—११८
साध्येनासहचरितः—१४५
सामान्यगुणात्मविशेष—जातिमान्—१७६
सामान्यं द्विविधं प्रोक्तम्—
सामान्यं विशेष इति—१५
साक्षात्कारिप्रमाकरणम्—१०१
साक्षात् सम्बद्धमखण्डसामान्यम्—१६
सिद्ध्यभाववान् साध्यवान् पक्षः—११५

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सुखादिमाक्षात्कारः—५६
सुखाद्याश्रयः—५३
सोपाधिकसाध्यसम्बन्धः—१४५
संख्यादिपरत्वान्तो—१२, ६९
संयोगभिन्नत्वे—१३
संयोगनाशको गुणो विभागः—७४
संयोगाजन्यजन्यविशेष—विशेषाधिकरणम्—४४
स्नेहहीना गन्धयुताः—१२
स्नेहोऽपां विशेषगुणः—७८
स्पर्शरहितत्वे—५५
स्पर्शादयो—चतुर्दशः—११
स्मृत्यजनक—ज्ञानजनक—२९
स्वसमानाधिकरण—धर्मः—६१
स्वार्थानुमानं तु—१२०

ह
हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थः—२८
हेतुसमानाधिकरणात्यन्ताभाव—११८
हेतोः हेतौ वा भासः—१३६
ह्रदो वह्निमान् धूमात्—१३६

क्ष
क्षितिर्जलं तथा—४४
क्षित्यङ्कुरादिकम्—५१

त्र
त्रयोदशत्वावच्छिन्नभेदस्य—१३२
त्रिविधं चास्याः कार्यम्—२७
त्रैकालिकसंसर्गावच्छिन्नत्वम्—२६

ज्ञ
ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्—१०२
ज्ञानान्मोक्षः—१८६

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

SIMRAN

अतिनिद्रम
निर्मलिकाम

रसोत्तोपन

रस प्रवान्य होने के कारण [illegible]

Suman Didi

Po-14

9818830247

Monika

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

समकालीन भारतीय दर्शन

बसंत कुमार लाल

प्रस्तुत पुस्तक में स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर, महात्मा गांधी, श्री अरविंद, कृष्णमूर्ति, आचार्य नरेन्द्रदेव, सर्वपल्ली राधाकृष्णन और मुहम्मद इकबाल के विचारों पर प्रकाश डाला गया है और उनके दर्शन का एक व्यापक चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। पुस्तक मूलतः विवरणात्मक है। जिन स्थानों पर समीक्षायें अथवा बौद्धिक विवेचनायें हुई हैं, वे भी इसी उद्देश्य से हुई हैं कि कुछ अस्पष्ट 'भावों' को स्पष्ट कर दिया जाय। इसी मनोवृत्ति के फलस्वरूप विचारों के प्रस्तुतिकरण का ढंग सहानुभूतिपूर्ण है। जहाँ आपत्तियाँ उठायी गई हैं या आलोचनाएं की गई हैं, वहाँ भी आलोचनाओं के माध्यम से विचारक के भावत्व को समझाने का प्रयास ही हुआ है।

तर्कभाषा

बदरीनाथ शुक्ल

श्री केशवमिश्र द्वारा विरचित यह ग्रन्थ न्याय एवं वैशेषिक दर्शन के प्रतिपाद्य विषयों का सम्यक् ज्ञान कराने वाली अनुपम कृति है। इसके अध्ययन से दोनों शास्त्रों का पर्याप्त परिचय हो जाता है।

यह ग्रन्थ वैज्ञानिक-प्रणाली में लिखा गया है। इसमें वात्स्यायनप्रोक्त प्रमाण, प्रमेयादि सोलह पदार्थों का क्रमशः भेदोपभेदसहित विस्तृत एवं सुबोध विवेचन किया गया है जो अन्यत्र किसी व्याख्या में नहीं है।

इस ग्रन्थ पर कई व्याख्याएं लिखी गई हैं। तो भी इसमें कई ऐसे स्थल हैं जिनका समाधान इन व्याख्याओं से नहीं हो पाता। इन अभावों को दूर करने के लिए प्रस्तुत व्याख्या तैयार की गई है।

इस व्याख्या में ग्रन्थोपन्यास मूल ग्रन्थ के प्रत्येक स्थल का पर्याप्त स्पष्टीकरण किया गया है, और आवश्यकतानुसार कुछ विस्तृत विवेचन तथा अनेक विषयों के सम्बन्ध में अन्य दर्शनों के दृष्टिकोण का सन्निवेश किया गया है। इस बात का पूरा प्रयत्न किया गया है कि प्रतिपाद्य विषय को विशद विवेचन हो, किन्तु विशदीकरण के प्रयास में भाषा में शैथिल्य न आने पाए, जिसके कारण आधुनिक व्याख्या-ग्रन्थों में कई विषय-सम्बन्धी त्रुटियाँ आ जाती हैं।

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली, मुम्बई, चेन्नई, कलकत्ता, बंगलोर,
वाराणसी, पुणे, पटना

मूल्य : रु० १५

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Kirtikant Sharma Collection, Najafgarh